समयसार अनुशीलन

भाग – ४

बंध, मोक्ष व सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

(गाथा २५७ से ३७१ तक)

लेखन एवं गाथा व कलशों का पद्यानुवाद

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पीएच. डी.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

फोन : ०१४१-५१५५८१, ५१५४५८

फैक्स : ०१४१-५१७६७७, तार : त्रिमूर्ति

प्रस्तुत संस्करण : ५ हजार
(१६ अप्रेल, २००० ई. महावीर जयन्ती)
प्रथम संस्करण (पूर्वार्द्ध) : ५ हजार
(१७ अप्रेल, १९९९, कानजीस्वामी जन्मजयन्ती)
प्रथम संस्करण (उत्तरार्द्ध) : ५ हजार
(१६ अप्रेल, २००० ई. महावीर जयन्ती)
वीतराग-विज्ञान हिन्दी-मराठी के सम्पादकीयों के रूप में : ८ हजार ६५०

योग : **२३ हजार ६५०**

मूल्य : **बीस रुपए**

टाइपसैटिंग :
कॉम्प्रिन्ट प्राइवेट लिमिटेड
जयपुर

मुद्रक :
जयपुर प्रिंटर्स
एम. आई. रोड़,
जयपुर

प्रकाशकीय

डॉ. भारिल्लजी द्वारा लिखित समयसार अनुशीलन भाग – ४ (गाथा २५७ से ३७१) का प्रकाशन करते हुए हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। पूर्व में प्रकाशित भाग – १ (गाथा १ से ६८ तक) भाग – २ (गाथा ६६ से १६३ तक) भाग – ३ (गाथा १६४ से २५६ तक) का अध्ययन तो आप कर ही चुके हैं और अबतक प्रकाशित अनुशीलन की लोकप्रियता से भी आप परिचित ही हैं। इसका पठन-पाठन एवं स्वाध्याय नियमितरूप से विधिवत अमेरिका आदि सुदूरवर्ती देशों में भी चल रहा है और अमेरिकावासी रजनीभाई गोशलिया ने तो इसका गुजराती अनुवाद भी तैयार कर लिया है, जिसके प्रथम व द्वितीय भाग का प्रकाशन पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली द्वारा किया गया है। इसके साथ ही गुरुप्रसाद (गुजराती) मासिक में भी यह क्रमशः छप ही रहा है। मराठी अनुवाद भी तैयार हो रहा है, जो मराठी वीतराग-विज्ञान में क्रमशः प्रकाशित हो रहा है और शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशित होने जा रहा है।

यह तो सर्व विदित ही है कि विगत २२ वर्षों में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने आत्मधर्म और वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में जो भी लिखा है; वह सब आज जिन अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है, पुस्तकाकार प्रकाशित होकर स्थायी साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। न केवल हिन्दी भाषा में उसके अनेक संस्मरण प्रकाशित हो चुके हैं, अपितु गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में उनके अनुवाद भी हो चुके हैं तथा अनेकों बार प्रकाशित हो चुके हैं।

इनमें धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, बारह भावना : एक अनुशीलन, चैतन्यचमत्कार, निमित्तोपादान, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेद शिखर, शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में, आत्मा ही है शरण, गोम्मटेश्वर बाहुबली और परमभावप्रकाशक नयचक्र प्रमुख हैं। इन सब कृतियों ने जैन समाज एवं हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। उनके लिखे साहित्य की अबतक आठ भाषाओं

में ३७ लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने अबतक लगभग ५ हजार २०० पृष्ठ लिखे हैं, जो सभी प्रकाशित हैं। इस कृति के निर्माण की पृष्ठभूमि और परिचय के सम्बन्ध में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भाग के प्रकाशकीय के निम्नांकित महत्वपूर्ण अंश मूलरूप से उद्धृत करना उपयुक्त समझता हूँ –

"आज के बहुचर्चित और जैनदर्शन के महत्वपूर्ण लगभग सभी विषयों पर उन्होंने कलम चलाई है और उन्हें सर्वांगरूप से प्रस्तुत किया है। समयसार भी आज का बहुचर्चित विषय है। आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्रीकानजीस्वामी के उदय ने समयसार को आज जन-जन की वस्तु बना दिया है। शायद ही कोई अध्यात्मप्रेमी ऐसा होगा जो समयसार का स्वाध्याय न करता हो। इसप्रकार स्वामीजी का हम सब पर अनन्त-अनन्त उपकार है।

इसप्रकार समयसार पठन-पाठन की वस्तु तो बन गया है, पर आधे-अधूरे अध्ययन और विविध प्रकार की महत्वाकांक्षाओं ने आज कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं कि अब उसके सर्वांग अनुशीलन की आवश्यक्ता अनुभव की जाने लगी है।

इधर कुछ दिनों से उन लोगों ने भी समयसार पर लिखना और बोलना आरंभ किया है, जो अब तक समयसार के अध्ययन-अध्यापन का निषेध करते रहे हैं। वे वस्तु को जिसतरह प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे भी अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

यद्यपि स्वामीजी के प्रवचन रत्नाकर उपलब्ध हैं और वे समयसार के मर्म को खोलने में पूर्णतः समर्थ हैं; पर वे प्रवचनों के संकलन हैं। प्रवचनों के संकलन और व्यवस्थित लेखन में जो अन्तर होता है, वह उनमें भी विद्यमान है।

आज स्वामीजी हमारे बीच में नहीं हैं और उन्हीं के प्रतिपादन को आधार बनाकर विसंगतियाँ उत्पन्न की जा रही हैं। अतः वातावरण की शुद्धि के लिए आज समयसार के सम्यक् अनुशीलन की महती आवश्यकता है। यह काम डॉ. भारिल्लजी के ही वश की बात है; क्योंकि पहले भी जब जिस विषय को लेकर सामाजिक वातारण दूषित हुआ, तब डॉ. भारिल्लजी ने उन विषयों पर जो सर्वांग अनुशीलन प्रस्तुत किया; उससे व्यवस्थित वस्तुस्वरूप तो सामने आया ही, सामाजिक वातारण भी

लगभग शान्त हो गया। क्रमबद्धपर्याय, परमभावप्रकाशक नयचक्र एवं निमित्तोपादान जैसी कृतियाँ इसका सशक्त प्रमाण हैं। आज ये विषय विवाद की वस्तु नहीं रहे। अतः अब तो विरोध केवल विरोध के लिए होता है और उसमें व्यक्तिगत बातें ही अधिक होती हैं, तात्त्विक बातें न के बराबर ही समझिये।

हमारा पक्का विश्वास है कि डॉ. भारिल्ल ने हमारे अनुरोध पर जो समयसार अनुशीलन आरम्भ किया है, उससे न केवल मुमुक्षुसमाज को लाभ होगा, अपितु वातावरण की शुद्धि में भी यह अनुशीलन उपयोगी सिद्ध होगा।"

वीतराग-विज्ञान के जून, १९९२ के अंक से जब इसका सम्पादकीय के रूप में प्रकाशन आरंभ हुआ, तब ही से अनुकूल प्रतिक्रियायें आने लगीं और इन लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की माँग भी आने लगी। वैसे तो हम उनके सभी सम्पादकीयों को पुस्तकाकार प्रकाशित करते ही आ रहे हैं, इन्हें भी करते ही; पर लोगों को धैर्य नहीं था, वे अधिक प्रतीक्षा नहीं करना चाहते थे।

दिसम्बर, १९९२ में देवलाली (महाराष्ट्र) में लगनेवाले शिविर में डॉ. भारिल्ल ने वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीयों के आधार पर समयसार की छठवीं-सातवीं गाथाएँ लीं, तो इनके पुस्तकाकार प्रकाशन की माँग और अधिक तीव्रता से उठने लगी, फलतः २६ मई, १९९३ को समयसार अनुशीलन भाग – १ का पूर्वार्द्ध, २४ अप्रैल, १९९४ को उत्तरार्द्ध तथा १५ अगस्त, १९९४ को दोनों का संयुक्त संस्करण प्रकाशित किया गया। इसी प्रकार भाग – २ का पूर्वार्द्ध २ मई, १९९५ को, उसका उत्तरार्द्ध २५ अप्रैल, १९९६ को तथा दोनों का संयुक्त संस्करण २ मई, १९९६ को प्रकाशित किया गया। भाग – ३ का पूर्वार्द्ध २० अप्रैल, १९९७ को, उसका उत्तरार्द्ध २९ अप्रैल, १९९८ को तथा दोनों का संयुक्त संस्करण २९ अप्रैल, १९९८ को प्रकाशित किया गया। भाग – ४ का पूर्वार्द्ध १७ अप्रैल, १९९९ को प्रकाशित किया गया और अब भाग – ४ का उत्तरार्द्ध तथा पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध का संयुक्त संस्करण आपके हाथों में है। इसप्रकार अबतक लगभग १९०० पृष्ठ लिखे जा चुके हैं, जो चार भागों में प्रकाशित होकर आप तक पहुँच चुके हैं।

आशा है यह कृति आपकी आत्मपिपासा को शान्त करने में सफल होगी।

गुरुदेवश्री का तो अनन्त उपकार हम सब पर है ही; क्योंकि उन्होंने न केवल हमको विस्तार से सबकुछ समझाया है, अपितु जिनवाणी का मर्म समझने की दृष्टि भी दी है।

डॉ. भारिल्ल की सूक्ष्म पकड़ की तो पूज्य स्वामीजी भी प्रशंसा किया करते थे, पर उन्हें इसके लेखन में अथक् श्रम करते मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है; क्योंकि इसे लिखे जाने का मैं प्रत्यक्ष साक्षी हूँ। उन्होंने जिसप्रकार प्रत्येक गाथा के मर्म को सहज बोधगम्य बनाया है, सप्रमाण प्रस्तुत किया है, सयुक्ति और सोदाहरण समझाया है; यह अपने आप में अपूर्व है।

मुझे पूरा-पूरा विश्वास है कि इससे अध्यात्मप्रेमी समाज को बहुत लाभ होगा। मेरे विश्वास को उन पत्रों से बल मिला है, जो समय-समय पर हमें प्राप्त होते रहे हैं और जिन्हें वीतराग-विज्ञान में यथासंभव प्रकाशित भी किया गया है।

विदेशों से प्राप्त पत्रों से स्पष्ट है कि न केवल देश में अपितु विदेशों में भी इस अनुशीलन को पढ़ने की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती है और इसका विधिवत पठन-पाठन भी चल रहा है।

'वास्तव में यह ग्रंथ पूरा होने पर समाज को एक अमूल्य निधि प्राप्त होगी' – बाहुबली कुम्भोज की विदुषी बहिन ब्र. गजाबेन की उक्त पंक्तियाँ एक ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध होंगी – ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

प्रस्तुत प्रकाशन के आकर्षक एवं शुद्ध मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स तथा प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था सम्हालने हेतु विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को भी धन्यवाद देते हैं। साथ ही वे महानुभाव भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने कीमत कम करने में अपना आर्थिक सहयोग दिया है; जिनकी सूची पृथक् से प्रकाशित की गई है।

सभी आत्मार्थी भाई-बहिन इस कृति से भरपूर लाभ लें; इस मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– **नेमीचन्द पाटनी**

१६ अप्रैल, २००० ई. महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

अनुक्रमणिका

बंध अधिकार	१-१०८
गाथा २५७-२५८	१
कलश १७०	४
गाथा २५९-२६१	७
गाथा २६२	११
गाथा २६३-२६४	१३
गाथा २६५	१५
गाथा २६६-२६७	२३
कलश १७१	२७
गाथा २६८-२६९	३१
कलश १७२	३६
गाथा २७०	३९
गाथा २७१	४७
कलश १७३	४९
गाथा २७२	५३
गाथा २७३-२७५	५७
गाथा २७६-२७७	६३
कलश १७४	६९
गाथा २७८-२७९	७१
कलश १७५	७४
कलश १७६	७६
गाथा २८०	८०
कलश १७७	८१
गाथा २८१-२८२	८३
गाथा २८३-२८५	८६
गाथा २८६-२८७	९३
कलश १७८	१०२
कलश १७९	१०५
मोक्ष अधिकार	१०६-२०८
कलश १८०	११०
गाथा २८८-२९०	११३
गाथा २९१-२९३	११७
गाथा २९४	१२६
कलश १८१	१४३
गाथा २९५-२९७	१४८
कलश १८२	१५१
गाथा २९८-२९९	१५५
कलश १८३	१६०
कलश १८४	१६३
गाथा ३००	१६५
कलश १८५	१६६
कलश १८६	१७०
गाथा ३०१-३०३	१७२
गाथा ३०४-३०५	१७५
कलश १८७	१७८
गाथा ३०६-३०७	१८०
कलश १८८	१९०
कलश १८९	१९३
कलश १९०	१९८
कलश १९१	२०१
कलश १९२	२०५

अनुक्रमणिका

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार २०६-३६३	
कलश १६३	२०६
कलश १६४	२१३
गाथा ३०८-३११	२१४
कलश १६५	२२१
गाथा ३१२-३१३	२२४
गाथा ३१४-३१५	२२८
कलश १६६	२३२
गाथा ३१६	२३५
कलश १६७	२३८
गाथा ३१७-३१८	२४१
कलश १६८	२४४
गाथा ३१९-३२०	२४८
कलश १६९	२७२
गाथा ३२१-३२३	२७५
कलश २००	२७७
गाथा ३२४-३२७	२७९
कलश २०१	२८२
कलश २०२	२८५
गाथा ३२८-३३१	२८८
कलश २०३	२९६
कलश २०४	२९९
गाथा ३३२-३४४	३०३
कलश २०५	३१६
कलश २०६-२०७	३२०
गाथा ३४५-३४८	३२७
कलश २०८	३३३
कलश २०९	३३७
कलश २१०	३४१
गाथा ३४९-३५५	३४२
कलश २११	३४६
कलश २१२-२१४	३४९
गाथा ३५६-३६५	३५७
कलश २१५-२१६	३७२
कलश २१७	३७८
गाथा ३६६-३७१	३८१
कलश २१८	३८८
कलश २१९	३९०
गाथा पद्यानुवाद	**३९४**
कलश पद्यानुवाद	**४०३**
पाठकों की दृष्टि में	**४१३-४१४**

बंधाधिकार

समयसार गाथा २५७-२५८

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदएण सो सव्वो ।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदएण चेव खलु ।
मरदि ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

(हरिगीत)

जो मरे या जो दुःखी हों वे सब करम के उदय से ।
'मैं दुःखी करता-मारता' — यह बात क्यों मिथ्या न हो ? ॥२५७॥
जो ना मरे या दुःखी न हो सब करम के उदय से ।
'ना दुःखी करता मारता' — यह बात क्यों मिथ्या न हो॥ २५८॥

जो मरता है और जो दुःखी होता है, वह सब कर्मोदय से होता है; इसलिए 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' — ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है?

जो मरता नहीं है और दुःखी नहीं होता है, वह सब भी कर्मोदयानुसार ही होता है; इसलिए 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुखी नहीं किया' — ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है?

तात्पर्य यह है कि जब जीवों का जीवन और मरण तथा दुःखी-सुखी होना कर्मोदयानुसार ही होता है तो फिर दूसरों को मारने-बचाने और सुखी-दुःखी करने की मान्यता मिथ्या ही है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार स्पष्ट किया है —

"जो मरता है या जीता है, दुःखी होता है या सुखी होता है; वह वस्तुतः अपने कर्मोदय से ही होता है; क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में उसका वैसा होना (मरना, जीना, दुःखी या सुखी होना) अशक्य है। इसकारण मैंने इसे मारा, जलाया या बचाया, इसे दुःखी किया, इसे सुखी किया — ऐसा माननेवाला अज्ञानदृष्टि है।"

प्रश्न : यहाँ जीवन-मरण और सुख-दुःखों को कर्मोदय से होना बताया गया है; तो क्या सबकुछ कर्मोदय से ही होता है, इसमें स्वयं जीव का कोई योगदान नहीं है?

उत्तर : अरे भाई! जीव तो स्वयं ही इन अवस्थाओं रूप परिणमित होता है; इनका मूल उपादान तो वही है और वह ही इन अवस्थाओं को भोगता भी है। इनका उपादान कर्त्ता और भोक्ता तो वही है; कर्मोदय तो निमित्तमात्र है। यहाँ तो कर्मोदयरूप अंतरंग निमित्त की मुख्यता से बात की है; क्योंकि अधिकांश जीव अपने जीवन-मरण और सुख-दुःखों का कारण परजीवरूप बहिरंग निमित्तों को ही मानकर उनसे राग-द्वेष करते रहते हैं, लड़ते-झगड़ते रहते हैं। उन्हें समझाने के लिए अंतरंग निमित्त की मुख्यता से कहा जा रहा है कि जीवन-मरण और सुख-दुःख तो अपने कर्मोदयानुसार होते हैं; तुम व्यर्थ में ही परजीवों से राग-द्वेष क्यों करते हो?

इस तथ्य को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"यहाँ कर्म के उदय की अपेक्षा जो सुखी-दुःखी होने की बात कही है, उसका प्रयोजन परद्रव्य पर जो राग-द्वेष होता था, वह न हो — बस इतना ही है। तथा अपने स्वचतुष्टय को असली कारण कहने का प्रयोजन कर्मोदय पर से भी इष्टानिष्ट कल्पना का नाश करना है।

जिनवाणी में किये गए प्रत्येक कथन का प्रयोजन व अपेक्षा जुदी-जुदी होती है, जिसे जानना अति आवश्यक है। इसे यथार्थ जाने बिना आत्मा सुखी नहीं हो सकता।

देखो भाई! जब भी सुख-दुःख या जीवन-मरण रूप कोई कार्य सम्पन्न होता है तो उसमें तीन प्रकार के कारण बनते हैं — एक बहिरंग निमित्तकारण में बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री, दूसरा अंतरंग निमित्तकारण में कर्मोदय एवं तीसरा उपादानकारण में तत्समय की योग्यता। इनमें से तीसरा कारण जो तत्समय की योग्यतारूप उपादानकारण है, वही वास्तविक कारण है। आयुकर्म के उदय व क्षय से जीवन-मरण एवं साता-असाता कर्म के उदय से सुख-दुःख कहना तो निमित्त का ज्ञान करानेवाला व्यवहार का कथन है।

बाहर के संयोगों में प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल रजकण अपने-अपने स्वचतुष्टय की योग्यता से आता है। जिससमय जिन रजकणों के आने की योग्यता होती है, वे ही आते हैं और उस काल में साता या असाता का निमित्तपना भी सहजरूप से स्वत: ही होता है। वस्तुत: न कर्मरूप निमित्त के कारण संयोग आते हैं और न आयुकर्म के कारण कोई जीता-मरता है। लोक में कहावत प्रसिद्ध है न कि दाने-दाने पर खानेवाले का नाम लिखा है। तात्पर्य यह है कि जो रजकण जब जिसके संयोग में आनेवाले होते हैं, वे निश्चितरूप से स्वसमय में उसके संयोग में आते ही हैं। कोई किसी पर कृपा करके या क्रोध करके अनुकूल संयोग न दे सकता है, न छीन सकता है।

जो आहार, औषधि आदि के परमाणु जिसकाल में जिसविधि से आनेवाले होते हैं, वे उसकाल में अपनी-अपनी तत्समय की योग्यता से ही संयोग में आते हैं और उनमें जीव के साताकर्म का निमित्त होता है। कोई किसी को सुख-दु:ख या संयोगी वस्तु देता-लेता नहीं है। यही बात यहाँ कही जा रही है कि जीवों को उनके कर्मोदय के अभाव में कोई सुखी-दु:खी नहीं कर सकता, उन्हें जीवन-मरण नहीं दे सकता। जिनागम के अनुसार जीवों के द्वारा एक-दूसरे का काम करना शक्य ही नहीं है।

इसलिए यहाँ कह रहे हैं कि मैंने अमुक को मारा या जीवित रखा, मरने नहीं दिया, अमुक को सुखी किया, अमुक को दु:खी किया — ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, मूढ़ है, अज्ञानी है।

जीवों का जीवन-मरण, सुख-दु:ख अपने-अपने कर्म के उदय से ही होता है। ऐसी वस्तुव्यवस्था होते हुए भी जो ऐसा मानते हैं कि मैंने इसे हथियार से मार डाला या मैं इसे विष से या हथियार से मार सकता हूँ, वे मिथ्यादृष्टि हैं; क्योंकि आयुकर्म के उदय के बिना किसी का जीवन टिक ही नहीं सकता व आयुकर्म का क्षय होने पर कोई किसी के जीवन को अधिक कालतक रख भी नहीं सकता। इसीप्रकार सुखी-दु:खी करने/कराने के संबंध में समझ लेना चाहिए।

पर को सुखी-दु:खी कर सकने या जीवन-मरण दे सकने की मान्यतावाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं, मूढ़ हैं। उनको यह मिथ्या अहंकार नहीं करना चाहिए।[१]"

अब इसी अभिप्राय का पोषक एवं आगामी गाथाओं की सूचना देनेवाला कलशकाव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है —

(अनुष्टप्)

मिथ्यादृष्टे स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥ १७० ॥

(दोहा)

विविध कर्म बंधन करें जो मिथ्याध्यवसाय ।
मिथ्यामति निशदिन करें वे मिथ्याध्यवसाय ॥ १७० ॥

मिथ्यादृष्टि के जो यह अज्ञानरूप अध्यवसाय दिखाई देता है; वह अध्यवसाय ही विपरीत भावरूप होने से उस मिथ्यादृष्टि के बंध का कारण है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदास ने इसप्रकार किया है —

(चौपाई)

मैं करता मैं कीन्हीं कैसी। अब यौं करौं कहौ जो ऐसी ।
ए विपरीत भाव हैं जामैं। सो बरते मिथ्यात दसा मैं ॥

मैं सभी कार्यों का करता हूँ। बोलो! मैंने यह कार्य कैसा किया है? तात्पर्य यह है कि ऐसा कार्य और कोई नहीं कर सकता। अब मैं इसप्रकार करूँगा अथवा तुम जैसा कहो, करूँगा। इसप्रकार के विपरीत भाव जिन जीवों में पाए जाते हैं; वे जीव मिथ्यात्वदशा में रह रहे हैं।

इस कलश में परपदार्थों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व भावों को अध्यवसाय कहा गया है और उन्हें ही बंध का कारण बताया गया है।

प्रश्न : इस कलश में ऐसा लिखा है कि मिथ्यादृष्टि के अज्ञानरूप अध्यवसाय बंध के कारण हैं। तो क्या अध्यवसाय भी अनेकप्रकार के होते हैं?

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ९८-९९

उत्तर : अध्यवसाय पद का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थों में होता है। इस संदर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है —

"देखो, जो परिणाम मिथ्या अभिप्राय सहित हों, स्व-पर के एकत्व के अभिप्रायवाले हों अथवा वैभाविक हों; उन परिणामों के लिए यहाँ अध्यवसाय शब्द का प्रयोग किया है। वैसे अध्यवसाय शब्द का एक अन्य अर्थ 'भाव' भी होता है। इसप्रकार अध्यवसाय शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है एक — 'मिथ्या अभिप्राय' और दूसरा 'भाव'। यहाँ मिथ्या अभिप्राय के अर्थ में प्रयोग है।

प्रवचनसार गाथा २५५ में जो यह कथन आता है कि **रागो पसत्थभूदो;** उसका आशय यह है कि — तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि प्रशस्तपद सम्यग्दृष्टि को प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग से मिलते हैं।

अज्ञानी इस कथन से ऐसा अर्थ निकालते हैं कि प्रशस्तराग से प्रशस्तपद मिलते हैं और इन पदों से मोक्ष होता है; इसलिए प्रशस्तराग बंध का कारण नहीं है; परन्तु भाई! इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि प्रशस्तराग भी है तो बंध का ही कारण। यहाँ सम्यग्दृष्टि के प्रसंग में यह कथन गौण है — यह बात जुदी है।

अरे भाई! समयसार गाथा १५३ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कर्म शब्द का अर्थ करते हुए व्रत, नियम, शील, तप वगैरह सभी को कर्म कहा है। तथा प्रशस्त राग के — हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय — ऐसे चार भेदों का निषेध करके शुभाशुभकर्म एक ही है — ऐसा सिद्ध किया है। इसप्रकार शुभाशुभपरिणाम भी कर्म कहलाता है और इसके बंधन को भी कर्म ही कहा जाता है।

भाई! शास्त्र के अभिप्राय के साथ अपनी दृष्टि का मिलान होना चाहिए। अपनी दृष्टि से शास्त्र का औंधा अर्थ करना तो जिनवाणी के साथ महाविपरीतता है, अन्याय है।

जिनवाणी में अध्यवसाय का अर्थ अत्यन्त स्पष्टरूप से यह किया गया है कि जो परिणाम स्व-पर के एकत्व के अभिप्राय सहित हो अथवा वैभाविक हो, उस परिणाम को अध्यवसाय शब्द से अभिहित किया जाता है।

इसप्रकार मुख्यरूप से तो स्व-पर की एकत्वबुद्धिसहित अज्ञानमय परिणाम को — मिथ्या अभिप्राय को ही अध्यवसाय कहा है; परन्तु कहीं अकेले (स्व-पर की एकत्वबुद्धिरहित) परिणाम को भी अध्यवसाय कहा गया है और कहीं निर्मल शुद्धपरिणाम के अर्थ में भी अध्यवसाय शब्द प्रयोग में लिया गया है। अत: अपेक्षा को ध्यान में रखकर ही अर्थ करना चाहिए।

यहाँ तो यह कहते हैं कि जो यह अज्ञानस्वरूप अध्यवसाय देखने में आता है, वह अध्यवसाय विपर्ययस्वरूप होने से — मिथ्या होने से मिथ्यादृष्टि के लिए बंध का कारण है।[१]"

स्वामीजी के उक्त कथन से यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि अध्यवसाय शब्द का प्रयोग मुख्यरूप से तीन अर्थों में होता है।

(१) स्वपर की एकत्वबुद्धिपूर्वक होनेवाले मिथ्या अभिप्राय के अर्थ में

(२) सामान्य परिणाम के अर्थ में

(३) निर्मल परिणाम के अर्थ में।

अत: इसका अर्थ प्रकरण के अनुसार ही किया जाना चाहिए, अन्यथा सही भाव ख्याल में नहीं आयेगा। ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ इस प्रकरण में अध्यवसाय शब्द का अर्थ मिथ्या-अभिप्राय के अर्थ में ही है। •

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १०१-१०२

यद्यपि जिनागम अगाध है, तथापि जिसप्रकार अगाध सागर में भी तैरना जाननेवाले प्राणियों का प्रवेश निर्बाध हो सकता है, होता है; उसीप्रकार नयों का सम्यक् स्वरूप जाननेवाले आत्मार्थियों का भी जिनागम में प्रवेश संभव है, सहज है। तथा जिसप्रकार जो प्राणी तैरना नहीं जानता है, उसका मरण छोटे से पोखर में भी हो सकता है; तरणताल (Swimming Pool) में भी हो सकता है; उसीप्रकार नयज्ञान से अनभिज्ञ जन जैन तत्वज्ञान का प्रारम्भिक ज्ञान देनेवाली बालबोध पाठमालाओं के भी मर्म तक नहीं पहुँच सकते, अर्थ का अनर्थ भी कर सकते हैं।

—परमभाव प्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ९

समयसार गाथा २५९-२६१

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को आगामी गाथाओं में विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

गाथाएँ मूलत: इसप्रकार हैं —

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति ।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥ २५९ ॥
दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६० ॥
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६१ ॥

(हरिगीत)

मैं सुखी करता दुखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता ही मूढमती शुभ-अशुभ का बंधन करे ॥ २५९ ॥
'मैं सुखी करता दुखी करता' यही अध्यवसान सब ।
पुण्य एवं पाप के बंधक कहे हैं सूत्र में ॥ २६० ॥
'मैं मारता मैं बचाता हूँ' यही अध्यवसान सब ।
पाप एवं पुण्य के बंधक कहे हैं सूत्र में ॥ २६१ ॥

मैं जीवों को सुखी-दु:खी करता हूँ — यह जो तेरी बुद्धि है, यही मूढ़बुद्धि शुभाशुभकर्म को बाँधती है।

जीवों को मैं सुखी-दु:खी करता हूँ — ऐसा जो तेरा अध्यवसान है, वही पुण्य-पाप का बंधक है।

जीवों को मैं मारता हूँ और जिलाता हूँ — ऐसा जो तेरा अध्यवसान है, वही पाप-पुण्य का बंधक है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"मिथ्यादृष्टि जीव के मैं परजीवों को मारता हूँ, नहीं मारता हूँ, दु:खी करता हूँ, सुखी करता हूँ आदि रूप जो अज्ञानमय अध्यवसाय हैं; वे अध्यवसाय ही रागादिरूप होने से मिथ्यादृष्टि जीव को शुभाशुभबंध के कारण हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव के अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले रागादिभावरूप अध्यवसाय ही बंध के कारण हैं — यह बात भली-भाँति निश्चित करना चाहिए; इसमें पुण्य-पाप का भेद नहीं खोजना चाहिए। तात्पर्य यह है कि पुण्यबंध का कारण कुछ और है और पापबंध का कारण कुछ और है — ऐसा भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस एक ही अध्यवसाय का दु:खी करता हूँ, मारता हूँ और सुखी करता हूँ, जिलाता हूँ — इसप्रकार दो प्रकार से शुभ-अशुभ अहंकाररस से परिपूर्णता के द्वारा पुण्य और पाप दोनों के बंध के कारण होने में अविरोध है। तात्पर्य यह है कि इस एक अध्यवसाय से ही पाप और पुण्य दोनों के बंध होने में कोई विरोध नहीं है।''

टीका के भाव को स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा लिखते हैं —

''यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बंध का कारण है। उसमें, 'मैं जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसे शुभ अहंकार से भरा हुआ वह शुभ अध्यवसाय है और 'मैं मारता हूँ, दु:खी करता हूँ' ऐसे अशुभ अहंकार से भरा हुआ वह अशुभ अध्यवसाय है। अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनों में है; इसलिये अज्ञानमयता से दोनों अध्यवसाय एक ही हैं। अत: यह न मानना चाहिए कि पुण्य का कारण दूसरा है और पाप का कारण कोई अन्य। अज्ञानमय अध्यवसान ही दोनों का कारण है।''

यह जीव परजीवों को न तो मार सकता है और न बचा सकता है; क्योंकि उनके जीवन-मरण उनके आयुकर्म के उदय-अनुदय के अनुसार उनकी स्वयं की पर्यायगत योग्यता से होते हैं।

इसीप्रकार यह जीव परजीवों को न तो सुखी कर सकता है और न दु:खी कर सकता है; क्योंकि उनके सुख-दु:ख उनके साता-असाता कर्मोदयानुसार उनकी स्वयं की पर्यायगत योग्यता से होते हैं।

ऐसी स्थिति में भी जब कि यह पर में कुछ कर तो सकता ही नहीं है; फिर भी उन्हें मारने या बचाने के भाव करता है, उन्हें सुखी-दु:खी करने के भाव करता है। ये भाव उक्त वस्तुस्थिति के अनुसार मिथ्याध्यवसाय हैं।

यद्यपि मारने और दु:खी करने के भाव की अपेक्षा बचाने और सुखी करने का भाव प्रथम दृष्टि में कुछ अच्छा प्रतीत होता है; तथापि वस्तुस्वरूप की विपरीतता अर्थात् मिथ्यापना दोनों में समानरूप से विद्यमान है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि इनमें भेद खोजना बुद्धिमानी का काम नहीं। तात्पर्य इतना ही है कि कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले शुभ और अशुभ — दोनों ही भाव समानरूप से मिथ्याध्यवसाय हैं और वे ही बंध के कारण हैं।

उक्त कथन पर प्रकाश डालते हुए स्वामीजी कहते हैं —

"बात कुछ कठिन है; क्योंकि इसमें हमारे वे भाव भी सम्मिलित हैं, जिन्हें हम दया-धर्म कहते हैं और ऐसा करके अपने को धन्य मानते हैं। नंगों को वस्त्र देकर, भूखों को भोजन देकर, रोगी को औषधि देकर जो हम ऐसा मानते हैं कि 'मैंने इनका दु:ख दूर किया' यह अभिप्राय मिथ्या है; क्योंकि वे जो सुखी हुए हैं या उनका जो दु:ख दूर हुआ है, वह तुम्हारे कारण नहीं, बल्कि उनके अपने पुण्योदय से हुआ है।[१]

यहाँ कोई ऐसी शंका कर सकता है कि पर के बचाने का एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसाय तो बंध का कारण है, परन्तु पर को बचाने का भाव बंध का कारण नहीं है; उसके उत्तर में कहते हैं कि अरे भाई! तू यह क्या कहता है? यहाँ कोई बाहर के पाण्डित्य से काम नहीं चलेगा, कुतर्क काम नहीं आयेगा। इससे तो तुझे उल्टी हानि ही होगी। यह तो यहाँ स्पष्ट करते ही आ रहे हैं कि यह जो अज्ञानमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टियों के ही होता है, वह स्वयं रागादिरूप होने से शुभाशुभरूपबंध का कारण है। बचाने का शुभभाव भी बंध का कारण है।[२]

अहा! यद्यपि अशुभ से बचने के लिए भूमिकानुसार दया, दान, भक्ति इत्यादि शुभराग आता है; परन्तु इससे आत्मा का कल्याण होना मानना अज्ञान है।[३]

खूबी तो देखो! आचार्य कहते हैं कि दूसरों को सुखी करूँ, बचाऊँ — ऐसा अध्यवसाय पुण्यबंध का कारण है और उन्हें दु:खी करूँ या मारूँ — ऐसा

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १०५
२. वही, पृष्ठ १०५
३. वही, पृष्ठ १०६

अध्यवसाय पापबन्ध का कारण है। पर इन दोनों में कारण भेद नहीं मानना। दोनों में जो रागमय अध्यवसाय है, एक वही बन्ध का कारण है। दोनों में दो जुदे-जुदे कारण नहीं हैं। यही बात अब कारणसहित स्पष्ट करते हैं —

'मैं दूसरों को बचाऊँ या मारूँ, सुखी करूँ या दु:खी करूँ' — ऐसा जो अहंकाररस से भरा अज्ञानमय अध्यवसाय है, एक उससे ही पुण्य व पाप के बंध होने में कोई विरोध नहीं है, अविरोध है। 'मैं बचाऊँ या सुखी करूँ' ऐसा राग का परिणाम तथा 'मैं मारूँ या दु:खी करूँ' ऐसा द्वेष का परिणाम — दोनों एक ही अज्ञानमय अध्यवसाय हैं। भले ही वे दोनों पुण्य-पाप के बंध के कारण होते हों, पर हैं तो दोनों ही बंधस्वरूप ही न?

जो पुण्यबंध को अच्छा मानते हैं, उन्हें इस दृष्टि से सोचना चाहिए कि सदा अबद्धस्वरूप आनन्द का धाम भगवान आत्मा का बंधन में पड़ना अच्छा कैसे हो सकता है? भले ही पुण्य से बँधे; पर है तो बंधन ही न? यदि पाप लोहे की बेड़ी है तो पुण्य सोने की बेड़ी है; पर हैं तो दोनों बंधन ही न? वस्तुत: देखा जाए तो पुण्योदय में भी आकुलताजनित दु:ख तो रहता ही है। सच्चा सुख तो निराकुलता में ही है; अत: पुण्यबंध भी पापवत् हेय ही है।

भाई! मुक्ति का मार्ग वीतरागता का ही मार्ग है; अत: यहाँ सभीप्रकार के राग का निषेध किया गया है।[१]"

इन गाथाओं की टीका के उपरान्त और आगामी गाथा के पूर्व आचार्य अमृतचन्द्र एक वाक्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है —

"**एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातम्** — इसप्रकार वास्तव में हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है — यह फलित हो गया।"

उक्त वाक्य को पिछली गाथाओं का उपसंहार भी कह सकते हैं और आगामी गाथा की उत्थानिका भी; क्योंकि आगामी गाथा में तो साफ-साफ ही कह रहे हैं कि जीव मरे चाहे न मरे बंध तो अध्यवसानभावों से ही होता है। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ११०

समयसार गाथा २६२

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥

(हरिगीत)

मारो न मारो जीव को हो बंध अध्यवसान से ।
यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से ॥ २६२ ॥

जीवों को मारो अथवा न मारो; कर्मबंध तो अध्यवसान से ही होता है — यह निश्चय से जीवों के बंध का संक्षेप है।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"अपने कर्मों की विचित्रता के वश से परजीवों के प्राणों का व्यपरोपण (उच्छेद-वियोग) कदाचित् हो, कदाचित् न भी हो; तो भी 'मैं मारता हूँ' — ऐसा अहंकाररस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय ही निश्चय से उसके बंध का कारण है; क्योंकि निश्चय से पर के प्राणों का व्यपरोपणरूप परभाव किसी अन्य के द्वारा किया जाना शक्य नहीं है।"

यहाँ आचार्यदेव अति संक्षेप में यह कहना चाहते हैं कि बंध की संक्षिप्त-सी कहानी मात्र इतनी ही है कि यदि तेरे हृदय (आत्मा) में अध्यवसानभाव उत्पन्न हो गये; 'मैं परजीवों को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, सुखी-दुःखी कर सकता हूँ' — ऐसी मान्यतापूर्वक मारने-बचाने या सुखी-दुःखी करने के भाव हो गये तो फिर तुझे बंध होगा ही; क्योंकि तेरे बंध का संबंध तेरे अध्यवसानभावों से ही है, अन्य जीवों के मरने-जीने या सुखी-दुःखी होने से नहीं।

अन्य जीवों का जीवन-मरण और सुख-दुःख तो अनेकप्रकार की विचित्रता को लिए हुए उनके जो पूर्वोपात्त कर्म हैं, उन कर्मों के उदयानुसार उनकी विभिन्नप्रकार की पर्यायगत योग्यता से होते हैं। उनमें तेरे इन विकल्पों का, अध्यवसानभावों का कुछ भी योगदान नहीं है।

यही कारण है कि यहाँ आचार्यदेव डंके की चोट कह रहे हैं कि जीव मरे, चाहे न मरे; सुखी-दुखी हो, चाहे न हो; पर यदि अध्यवसानभाव हैं तो बंध अवश्य होगा। बंध की प्रक्रिया का संक्षिप्त सार यही है।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं —

"अब इसका कारण समझाते हुए कहते हैं कि अन्य जीवों के दस प्राण परभाव हैं। ये कोई आत्मा के भाव नहीं हैं और परभावों का नाश निश्चय से अन्य कोई कर नहीं सकता। उन प्राणों का नाश हो अथवा न हो — वे तो अपने आयु कर्मानुसार होते हैं। अन्य के भावों के कारण किसी अन्य के प्राणों का घात अर्थात् मरण आदि हो ही नहीं सकता; फिर भी यदि कोई अहंकार करे कि 'मैं परजीव को मारता हूँ या बचाता हूँ' तो वह उसका अहंकाररूप अज्ञानमय अध्यवसाय है। वही अध्यवसाय आत्मा की हिंसा है — अपने विशुद्ध चैतन्यप्राणों का घात है और वही बंध का कारण है। ऐसा निश्चयनय का मत है।

इसीप्रकार 'मैं पर को बचा सकता हूँ' — ऐसा भाव भी अपने शुद्ध चैतन्यमय ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का घात है। ये ही अध्यवसाय निश्चय से बंध के कारण हैं।

यहाँ यह सब कथन व्यवहार को गौण करके कहा गया है — ऐसा जानना। दूसरों के मरण-जीवन के संदर्भ में इतना विशेष जानना चाहिए कि मारने व बचाने के भाव निमित्तरूप से होते हैं। इसकारण व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति ने अमुक को मारा व बचाया। निमित्त-नैमित्तिक संबंध के कारण ऐसा जो व्यवहार है — वह यहाँ उपरोक्त कथन में गौण है। उसको सर्वथा एकान्तरूप से वैसा ही नहीं समझकर दोनों नयों की अपेक्षा को पहचानना चाहिए। सर्वथा एकान्त का पक्ष तो मिथ्यात्व है।

उदाहरणार्थ, जब परजीव का मरण हुआ तो उसमें हमारा मारने का अध्यवसाय (मारने का भाव) तो हुआ; फिर भी यदि हम ऐसा कहें कि — मुझे बंध नहीं हुआ; क्योंकि पर को तो कोई मार ही नहीं सकता तो मुझे बंध कैसे हो सकता है? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि अरे भाई! यह तेरी मान्यता अज्ञानमय है — एकान्तरूप है। ऐसा पक्ष मिथ्यात्वस्वरूप है। अपना जो मारने का अध्यवसाय है, वह नियम से बंध का कारण है।[१]"

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि बंध का संबंध जीवों के जीवन-मरण से नहीं, अध्यवसानभावों से ही है। •

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ११३-११४

समयसार गाथा २६३-२६४

बंध के सन्दर्भ में जो बात २६२वीं गाथा में हिंसा के बारे में कही गई है। वही बात अब इन गाथाओं में असत्यादि के बारे में कहते हैं।

गाथाएँ मूलत: इसप्रकार हैं —

एवमलिए अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव ।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं ॥ २६३॥
तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥ २६४॥

(हरिगीत)

इस ही तरह चोरी असत्य कुशील एवं ग्रंथ में ।
जो हुए अध्यवसान हों वे पाप का बंधन करें ॥ २६३॥
इस ही तरह अचौर्य सत्य सुशील और अग्रंथ में ।
जो हुए अध्यवसान हों वे पुण्य का बंधन करें ॥ २६४॥

जिसप्रकार हिंसा-अहिंसा के सन्दर्भ में कहा गया है; उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के सन्दर्भ में जो अध्यवसान किये जाते हैं; उनसे पाप का बंध होता है और सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सन्दर्भ में जो अध्यवसान किये जाते हैं; उनसे पुण्य का बंध होता है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार किया गया है —

"जिसप्रकार अज्ञान से हिंसा के सन्दर्भ में अध्यवसाय किया जाता है; उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के सन्दर्भ में भी जो अध्यवसाय किये जाते हैं; वे सब पापबंध के एकमात्र कारण हैं और जिसप्रकार अज्ञान से अहिंसा के सन्दर्भ में अध्यवसाय किया जाता है; उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सन्दर्भ में अध्यवसान किया जाता है; वह सब पुण्यबंध का एकमात्र कारण है।"

जो बातें २६२वीं गाथा में मारने-बचाने के सन्दर्भ में कही गई हैं; वे सभी यहाँ इन गाथाओं में सत्य बोलने-असत्य बोलने, चोरी करने-चोरी न करने, शील पालने शील न पालने और परिग्रह रखने-परिग्रह न रखने के सन्दर्भ में समझ लेना चाहिए।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि पुण्यबंध और पापबंध — दोनों ही प्रकार के बंधों का कारण तो एकमात्र अध्यवसानभाव ही हैं। •

धर्मपिता सर्वज्ञ परमात्मा के विरह में एक जिनवाणी माता ही शरण है। उसकी उपेक्षा हमें अनाथ बना देगी। आज तो उसकी उपासना ही मानो जिनभक्ति, गुरुभक्ति और श्रुतभक्ति है। उपादान के रूप में निजात्मा और निमित्त के रूप में जिनवाणी ही आज हमारा सर्वस्व है। निश्चय से जो कुछ भी हमारे पास है, उसे निजात्मा में और व्यवहार से जो कुछ भी बुद्धि, बल, समय और धन आदि हमारे पास हैं, उन्हें जिनवाणी माता की उपासना, अध्ययन, मनन, चिन्तन, संरक्षण, प्रकाशन, प्रचार व प्रसार में ही लगा देने में इस मानवजीवन एवं जैनकुल में उत्पन्न होने की सार्थकता है।

अत: विषय-कषाय, व्यापार-धन्धा और व्यर्थ के वादविवादों से समय निकालकर वीतरागवाणी का अध्ययन करो, मनन करो, चिन्तन करो, बन सके तो दूसरों को भी पढ़ाओ, पढ़ने की प्रेरणा दो, इसे जन-जन तक पहुँचाओ, घर-घर में बसाओ। स्वयं न कर सको तो यह काम करनेवालों को सहयोग अवश्य करो। वह भी न कर सको तो कम से कम इस भले काम की अनुमोदना ही करो। बुरी होनहार से यह भी संभव न हो तो कम से कम इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ। इस काम में लगे लोगों की टाँग तो मत खींचो। इसके अध्ययन-मनन को निरर्थक तो मत बताओ। इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ। यदि आप इस महान कार्य को नहीं कर सकते, करने के लिए लोगों को प्रेरणा नहीं दे सकते, तो कम से कम इस कार्य में लगे लोगों को निरुत्साहित तो मत करो, उनकी खिल्ली तो मत उडाओ। आपका इतना सहयोग ही हमें पर्याप्त होगा।

— परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ १८४

समयसार गाथा २६५

यद्यपि यह बात विगत गाथाओं में स्पष्ट हो गई है कि बंध का कारण अध्यवसानभाव ही है; तथापि कुछ लोगों के हृदय में यह विकल्प बना ही रहता है कि अध्यवसान के अतिरिक्त बंध का कारण कोई बाह्यवस्तु भी होना चाहिए।

अज्ञानियों के इस विकल्प को दूर करने के लिए ही २६५वीं गाथा लिखी गई है; जो इसप्रकार है —

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥ २६५ ॥

(हरिगीत)

ये भाव अध्यवसान होते वस्तु के अवलम्ब से ।
परवस्तु से ना बंध हो हो बंध अध्यवसान से ॥ २६५ ॥

जीवों के जो अध्यवसान होते हैं; वे वस्तु के अवलम्बनपूर्वक ही होते हैं; तथापि वस्तु से बंध नहीं होता, अध्यवसान से ही बंध होता है।

उक्त गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"अध्यवसान ही बंध का कारण है, बाह्यवस्तु नहीं; क्योंकि बंध के कारणभूत अध्यवसानों से ही बाह्यवस्तु की चलितार्थता है। तात्पर्य यह है कि बंध के कारणभूत अध्यवसान का कारण होने में ही बाह्यवस्तु का कार्यक्षेत्र पूरा हो जाता है, वह वस्तु बंध का कारण नहीं होती।

प्रश्न : यदि बाह्यवस्तु बंध का कारण नहीं है तो बाह्यवस्तु के त्याग का उपदेश किसलिए दिया जाता है?

उत्तर : अध्यवसान के निषेध के लिए बाह्यवस्तु का निषेध किया जाता है। बाह्यवस्तु अध्यवसान की आश्रयभूत है; क्योंकि बाह्यवस्तु के आश्रय के बिना अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता, अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता।

यदि बाह्यवस्तु के आश्रय बिना ही अध्यवसान उत्पन्न हों तो जिसप्रकार वीरजननी के पुत्र के सद्भाव में ही किसी को ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता

है कि मैं वीरजननी के पुत्र को मारता हूँ; उसीप्रकार आश्रयभूत बंध्यापुत्र के असद्भाव में भी किसी को ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिए कि मैं बंध्यापुत्र को मारता हूँ; परन्तु ऐसा अध्यवसाय तो किसी को उत्पन्न होता नहीं है। इसलिए यह नियम है कि बाह्यवस्तुरूप आश्रय के बिना अध्यवसान नहीं होता।

इसकारण ही अध्यवसान की आश्रयभूत बाह्यवस्तु के त्याग का उपदेश दिया जाता है; क्योंकि कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का प्रतिषेध होता है।

यद्यपि बाह्यवस्तु बंध के कारण का कारण है, तथापि वह बंध का कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमितिपूर्वक गमन करते हुए मुनिराज के पैरों के नीचे कालप्रेरित उड़ते हुए तेजी से आ पड़नेवाले कीटाणु की भाँति बंध के कारण की कारणरूप बाह्यवस्तु को बंध का कारण मानने में अनेकान्तिक हेत्वाभास होता है, व्यभिचार नामक दोष आता है। इसप्रकार निश्चय से बाह्यवस्तु को बंध का हेतुत्व निर्बाधतया सिद्ध नहीं होता।

इसलिए अतद्भावरूप बाह्यवस्तु बंध का कारण नहीं है, अपितु तद्भावरूप अध्यवसायभाव ही बंध के कारण हैं।''

वस्तुत: स्थिति ऐसी है कि आत्मा में राग-द्वेष-मोहरूप अध्यवसानभाव जब भी उत्पन्न होते हैं, तब वे किसी न किसी परपदार्थ के लक्ष्य से, आश्रय से उत्पन्न होते हैं। मारने का भाव किसी न किसी प्राणी के लक्ष्य से ही होता है। इसीप्रकार बचाने का भाव भी किसी न किसी के लक्ष्य से ही होता है।

इस बात को यहाँ वीरजननी के बेटे और बाँझ के बेटे के उदाहरण से समझाया गया है। वीरजननी के बेटे की सत्ता तो लोक में संभव है; किन्तु बाँझ के बेटे की सत्ता लोक में संभव ही नहीं है। यही कारण है कि किसी को वीरजननी के बेटे को मारने का भाव हो सकता है, पर बाँझ के बेटे को मारने का भाव किसी को नहीं होता; क्योंकि जिसकी लोक में सत्ता ही न हो, उसे मारने का भाव कैसे संभव है?

इसप्रकार पर के आश्रय से अध्यवसानभाव होते हैं। यद्यपि बंध तो एकमात्र अध्यवसानभाव से ही होता; तथापि जिन परपदार्थों या क्रियाओं के आश्रय से,

अवलम्बन से अध्यवसान होते हैं; उन क्रियाओं या पदार्थों के त्याग का उपदेश भी जिनागम में दिया गया है। इसकारण लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि ये क्रियायें या परपदार्थ बंध के कारण हैं।

अध्यवसानों के आश्रयभूत परपदार्थ बंध के कारण के कारण हैं; तथापि बंध के कारण नहीं हैं। उनका निषेध भी कारण के कारण होने के कारण ही किया जाता है। इसलिए उनके निषेध से अध्यवसानों का ही निषेध समझना चाहिए।

उन्हें बंध का कारण मानने पर अनेकान्तिक हेत्वाभास होता है। जो हेतु पक्ष और विपक्ष — दोनों में पाया जाता है, उसे अनेकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। इसप्रकार के हेतु को व्यभिचारी हेतु भी कहते हैं।

इस बात को समझाने के लिए यहाँ ईर्यासमितिपूर्वक चलते हुए मुनिराज के पैरों के नीचे अपनी पर्यायगत योग्यता से अतिवेग से आ-आकर मर जानेवाले जीवजन्तुओं का उदाहरण दिया है। यहाँ मुनिराज के पैर के नीचे आकर जन्तुओं का मरण तो हो गया है; परन्तु इसकारण मुनिराज को बंध नहीं हुआ; क्योंकि उनके उससमय तत्संबंधी अध्यवसान नहीं था। इसप्रकार जीवजन्तुओं का मरण होने पर भी बंध नहीं हुआ; इसकारण जीवों के मरण को बंध का हेतुत्व अनेकान्तिक दोष से युक्त है।

यहाँ बंध होना पक्ष है और बंध नहीं होना विपक्ष है। हमारे निमित्त से जीवों का मरण होने पर भी यदि हमें तत्संबंधी अध्यवसान (भाव) हो तो बंध होता है और तत्संबंधी अध्यवसान (भाव) न हो तो बंध नहीं होता। इसकारण जीवों के मरण को बंध का हेतु मानने में अनेकान्तिक हेत्वाभास हुआ, व्यभिचारी नामक हेत्वाभास हुआ; क्योंकि जीवों के मरण होने पर भी कभी बंध हुआ और कभी बंध नहीं हुआ। मरणहेतु पक्ष और विपक्ष — दोनों में चला गया।

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि बंध का कारण परद्रव्य नहीं; अध्यवसाय ही हैं।

जहाँ एक ओर आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में अध्यवसान से बंध होता है, बाह्यवस्तुओं से नहीं — इस बात को सिद्ध करते हुए बाह्यकारणों से बंध

मानने पर अनेकान्तिक हेत्वाभास का दोष होगा — यह कहते हैं तो दूसरी ओर आचार्य जयसेन इसी बात को सिद्ध करते हुए कारण के रूप में अन्वय-व्यतिरेक का अभाव बताते हैं।

वे कहते हैं कि बाह्यवस्तुओं के होने पर नियम से बंध हो तो अन्वय हो और बाह्यवस्तुओं के अभाव में नियम से बंध न हो तो व्यतिरेक हो; किन्तु बाह्यवस्तुओं के होने पर भी अर्थात् जीवों के मरण होने पर भी अध्यवसान के अभाव में बंध नहीं होता; अतः अन्वय घटित नहीं होता और बाह्य वस्तुओं के अभाव में भी अर्थात् जीवों के मरण न होने पर भी अध्यवसान होने पर बंध होता है; अतः व्यतिरेक भी घटित नहीं होता।

लोक में ऐसा तो देखा ही जाता है कि किसी ने किसी को मारने का भाव किया, पर वह उसे मार न सका; तब भी उसे उक्त भावों के अनुसार बंध तो होता ही है और किसी ने किसी को मारने का भाव तो नहीं किया, किन्तु उसके निमित्त से किसी का घात हो गया तो भी मारने का भाव न होने से उसे तत्संबंधी बंध नहीं होता।

प्रश्न : दोनों आचार्यों के कथन में इसप्रकार का अन्तर क्यों है?

उत्तर : अन्तर कहाँ है? अरे भाई! दोनों ही आचार्यदेव एक ही बात सिद्ध कर रहे हैं कि अध्यवसान ही बंध के कारण हैं, अन्य वस्तुयें नहीं; अन्तर तो मात्र हेतुओं में है। बाह्यवस्तुओं को बंध का कारण मानने में एक ने अनेकान्तिक हेत्वाभास का दोष दिया और दूसरे ने अन्वय-व्यतिरेक का अभाव बताया। बस, बात मात्र इतनी ही है; इससे अधिक कुछ नहीं। इतने मात्र से दो आचार्यों में अन्तर देखना, मतभेद समझना समझदारी नहीं है।

इस संबंध में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है —

"**प्रश्न :** पर में एकत्व का अध्यवसाय बंध का कारण है, यह तो ठीक; पर जिनके कारण अध्यवसाय होता है, वे पदार्थ या बाह्यवस्तुएँ भी बंध के कारण हैं या नहीं?

उत्तर : अरे भाई! ऐसी तो शंका ही नहीं करना। बाह्यवस्तुएँ कभी भी बंध का कारण नहीं होतीं। एकमात्र तत्संबंधी अपना अध्यवसाय ही बंध का कारण होता है।

'मैंने हिंसा, झूठ, चोरी आदि नहीं की अथवा अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि तथा दया, दान आदि किए' — ऐसा जो पर के साथ की एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय है, वही एकमात्र बंध का कारण है। शरीरादि बाह्यवस्तुओं से जो क्रिया होती है, वह बंध का कारण नहीं है।

यद्यपि अपने में हुए अध्यवसाय का आश्रय बाह्यवस्तुयें हैं, पर बाह्यवस्तुएँ बंध का कारण नहीं हैं। बंध का कारण तो एकमात्र अध्यवसाय ही है।[१]

जो भी विभाव परिणाम होते हैं, उन परिणामों के होने में बाह्यवस्तु निमित्त है। यद्यपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्विकारी धर्म के परिणाम स्वद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, तथापि वह स्वद्रव्य (त्रिकाली चैतन्य महाप्रभु) मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि मोक्ष का कारण तो शुद्धरत्नत्रय का परिणाम है। हाँ, शुद्धरत्नत्रय के परिणाम का, संवर-निर्जरा के परिणाम का आश्रय स्वद्रव्य है — यह बात सत्य है; तथापि ये परद्रव्य बंध या मुक्ति के कारण नहीं हैं।[२]

अध्यवसाय छुड़ाने के लिये पर का आश्रय छुड़ाते हैं, परन्तु पर को छुड़ाने के लिए अध्यवसाय को छोड़ने की बात नहीं है। परवस्तु तो छूटी ही है, उसे कहाँ छोड़ना है? जहाँ 'पर को छोड़ो' ऐसा कहा है, वहाँ पर के आश्रय से होनेवाले अध्यवसाय को छोड़ने की बात है।[३]

प्रश्न : वर्तमान में बाह्यवस्तु विद्यमान न हो — मौजूद न भी हो तो भी विभावपरिणाम (अध्यवसाय) तो होता ही है न?

उत्तर : भाई! विभावपरिणाम या अध्यवसाय होने में बाह्यवस्तु का आश्रय तो अवश्य होता ही है, भले ही वह वस्तु वर्तमान में समीप न हो। बाह्यवस्तु का कार्य के समीप होने का नियम नहीं है, परन्तु उसका आश्रय तो होता ही है।[४]

अध्यवसान को बाह्यवस्तु आश्रयभूत है; बाह्यवस्तु का आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। जिस तरह स्व के आश्रय के बिना

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १२३-१२४
२. वही, पृष्ठ १२५
३. वही, पृष्ठ १२६
४. वही, पृष्ठ १२७

निर्मल-निर्विकारी परिणाम कभी भी — त्रिकाल में भी नहीं हो सकता; उसीप्रकार बाह्यवस्तु के आश्रय बिना बंध का परिणाम भी नहीं हो सकता।[१]

यहाँ जो बाह्यवस्तु के त्याग का उपदेश दिया — उसका अभिप्राय तो पराश्रय से उत्पन्न हुए अध्यवसान का त्याग करना है। अहा! ऐसा कहकर पर का आश्रय छुड़ाकर स्व का आश्रय कराने का प्रयोजन है। यदि कोई स्व का आश्रय तो करे नहीं और बाह्य में स्त्री-कुटुम्ब, घरबार, वस्त्र आदि का त्याग कर दे तो उससे कुछ भी प्रयोजन पूरा नहीं होगा; क्योंकि पराश्रय तो मौजूद ही है।

अहा! जिस तरह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम स्व-द्रव्य के आश्रय से होते हैं; उसीप्रकार विकारी परिणाम परद्रव्य के आश्रय से होते हैं। यह कितनी सीधी और स्पष्ट बात है। फिर भी जगत कहता है कि व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम स्व-द्रव्य के आश्रय से प्रकट होते हैं।[२]

यहाँ कहते हैं कि जिसने स्वद्रव्य में एकत्व स्थापित करके स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मल रत्नत्रय का परिणाम प्रगट कर लिया है, उसको परद्रव्य के आश्रय से कोई परिणाम होता ही नहीं है। ऐसा वीतरागता का कोई अलौकिक मार्ग है। परन्तु बेचारे अज्ञानी जीवों को लौकिक कार्यों में अटके रहने के कारण ऐसे तत्त्व का परिचय ही नहीं है; तत्त्वज्ञान के अभ्यास करने का अवसर ही उन्हें नहीं मिलता। देखो न! पच्चीस-पच्चीस वर्ष तक लौकिक पढ़ाई में समय चला जाता है। डॉक्टर बनता है, इन्जीनियर बनता है; इसी बीच में आयु समाप्त हो जाय तो गये काम से। अमेरिका में जाकर पढ़ता है, ९० प्रतिशत अंकों से पास होता है; इसकारण स्वयं के और कुटुम्बीजनों के हर्ष का पार नहीं रहता। पर विचार तो करो! इसका एक अर्थलाभ के सिवाय और क्या लाभ है? अर्थलाभ, पुण्योदय के बिना नहीं मिलता; फिर उस लौकिक पढ़ाई का क्या लाभ? पुण्योदय हो तो कम पढ़ा-लिखा भी लाखों कमाता है और पुण्य पल्ले न हो तो पढ़े-लिखों को भी रोटियों के लाले बने रहते हैं। जरा सोचो तो सही!

अरे! तत्त्वज्ञानी को तत्त्वाभ्यास के फल में अल्पकाल में केवलज्ञान व अनन्तसुख की प्राप्ति होती है। जिसने इस आत्मा को पढ़ा है, आत्मज्ञान की

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १२८
२. वही, पृष्ठ १२९

पढ़ाई को ही सच्ची पढ़ाई माना है; उसे मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। स्वरूप में एकत्व का परिणाम ही मोक्ष का कारण है। धर्मी को निश्चय से तो एक स्व के साथ ही एकत्वबुद्धि का परिणाम होता है। पर के साथ ज्ञानी का एकत्व नहीं होता। इसकारण साधारणरूप से जो अस्थिरता का परिणाम होता है, उसे यहाँ गौण कर दिया है।[१]

ध्यान रहे, यहाँ जो परवस्तु संयोग में आती है, वह बंध का कारण नहीं है और स्ववस्तु जो त्रिकाली आत्मा है, वह मोक्ष का कारण नहीं है; बल्कि पराश्रित व स्वाश्रित रूप जो आत्मा के परिणाम होते हैं, वे परिणाम ही अनुक्रम से बंध-मोक्ष के कारण बनते हैं।

यहाँ कोई कह सकता है कि त्रिकाली उपादान में अनेकप्रकार की योग्यताएँ हैं; पर जिससमय जैसा निमित्त मिलता है; वैसी पर्याय (कार्य) प्रगट हो जाती है।

यह प्रश्न निमित्ताधीन दृष्टिवालों की ओर से हो सकता है; परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है; क्योंकि त्रिकाली द्रव्य को तो व्यवहार से उपादानकारण कहा है। निश्चय से यानि वास्तविक उपादानकारण तो तत्समय की योग्यतारूप वर्तमान पर्याययुक्त द्रव्य है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वस्तु के उपादान के दो भेद कहे हैं।

अष्टसहस्री के ५८वें श्लोक की टीका के आधार से चिद्विलास के 'कारण-कार्यभाव अधिकार' में पृष्ठ ३६ पर आया है कि परिणाम क्षणिक उपादान है और गुण (शक्ति) शाश्वत-ध्रुव उपादान है। ध्रुव को — द्रव्य की शक्ति को उपादान कहकर तो व्यवहार सिद्ध किया है। प्रगट पर्याय में जो निर्मलदशा प्रगट होती है, वह क्षणिक उपादान है; वह यथार्थ निश्चय है। वह वर्तमान पर्याय निमित्त के आधार से तो होती ही नहीं है; वरन् द्रव्य के त्रिकाली ध्रुव उपादान के आधार से भी नहीं होती।[२]

इस बंध अधिकार में तो प्रारंभ से ही यह सिद्ध करते आ रहे हैं कि इस जगत में — लोकाकाश में यद्यपि कार्मण वर्गणाएँ ठसाठस भरी हैं; तथापि आत्मा

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १३०-१३१
२. वही, पृष्ठ १३३

उनसे नहीं बंधता, अन्यथा सिद्ध भगवान को भी बंधन ठहरेगा। इसीप्रकार मन-वचन-काय की क्रिया से भी आत्मा नहीं बंधता; अन्यथा यथाख्यातसंयम के धारक भगवान अरहंत केवली को भी बंध का प्रसंग प्राप्त होता; क्योंकि उनके उक्त तीनों की क्रिया विद्यमान है। तथा पाँच इन्द्रियों की क्रिया भी बंध का कारण नहीं है; अन्यथा भगवान केवली को भी बंध होगा। इसी तरह चेतन-अचेतन का घात भी बंध का कारण नहीं है; अन्यथा समिति के धारक मुनिवरों को भी बंध का प्रसंग आ जाएगा।

इसप्रकार परवस्तु बंध का कारण नहीं है।

यहाँ प्रश्न होता है कि तब फिर बंध का कारण क्या है?

उत्तर में कहते हैं कि उपयोग में जो रागादिभाव होते हैं, वे ही एकमात्र बंध के कारण हैं। एक ज्ञायकस्वभावी आत्मा जब अपने ज्ञानस्वभाव को और क्षणिक वर्तमान रागादिपरिणामों को एकमेक करता है तो वह पर में एकत्वरूप मिथ्यात्वभाव ही बंध का कारण बनता है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि बंध के कारण एकमात्र अध्यवसानभाव ही हैं, अन्य बाह्यवस्तु नहीं, द्रव्यहिंसादिक भी नहीं। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १३५-१३६

रुचि अनुयायी वीर्य

आत्मा की चर्चा में थकावट लगना, ऊब पैदा होना आत्मा की अरुचि का द्योतक है। अब आप स्वयं सोच लो कि आपको किसकी रुचि है? हमें इस बारे में कुछ नहीं कहना है।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के अनुसार जहाँ हमारी रुचि होती है, हमारी संपूर्ण शक्तियाँ उसी दिशा में काम करती हैं। यदि हमें भगवान आत्मा की रुचि होगी तो हमारी संपूर्ण शक्तियाँ भगवान आत्मा की ओर ही सक्रिय होंगी और यदि हमारी रुचि विषय-कषाय में हुई तो हमारी संपूर्ण शक्तियाँ विषय-कषाय की ओर ही सक्रिय होंगी। — गागर में सागर,पृष्ठ ४९

समयसार गाथा २६६-२६७

विगत गाथाओं में यह सिद्ध किया जा चुका है कि अध्यवसानभाव ही बंध के कारण हैं; अब आगामी गाथाओं में यह बताते हैं कि वे अध्यवसानभाव अपना कार्य करने में असमर्थ हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे अध्यवसानभाव बंध करने रूप कार्य करने में असमर्थ हैं; अपितु यह है कि अध्यवसानों के अनुसार जगत में कार्य हों ही, यह जरूरी नहीं है। हमने किसी को मारने का भाव किया तो यह आवश्यक नहीं कि वह मर ही जायेगा; क्योंकि उसके जीवन-मरण तो उसकी पर्यायगत योग्यता और उसके आयुकर्म के उदय-अनुदय पर आधारित हैं।

यह कहकर आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि तेरे विकल्पानुसार तो जगत में कोई कार्य होता नहीं है, तू व्यर्थ ही विकल्प करके पाप-पुण्य क्यों बाँधता है?

उक्त भाव को प्रदर्शित करनेवाली गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं —

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढ़मदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥ २६६ ॥
अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं ॥ २६७ ॥

(हरिगीत)

मैं सुखी करता दुखी करता बाँधता या छोड़ता ।
यह मान्यता हे मूढ़मति मिथ्या निरर्थक जानना ॥ २६६ ॥
जिय बँधे अध्यवसान से शिवपथ-गमन से छूटते ।
गहराई से सोचो जरा पर में तुम्हारा क्या चले ? ॥ २६७ ॥

मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ, बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ — ऐसी जो तेरी मूढ़मति है; वह निरर्थक होने से वास्तव में मिथ्या है।

यदि वास्तव में अध्यवसान के निमित्त से जीव बन्धन को प्राप्त होते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित जीव मुक्ति को प्राप्त करते हैं तो तू क्या करता है? तात्पर्य

यह है कि तेरा बाँधने-छोड़ने का अभिप्राय गलत ही सिद्ध हुआ न, व्यर्थ ही सिद्ध हुआ न?

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"मैं परजीवों को दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि तथा बंधाता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि जो अध्यवसान हैं; वे सब परभाव का पर में व्यापार न होने के कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाले नहीं हैं; इसलिए 'मैं आकाशपुष्प को तोड़ता हूँ' — ऐसे अध्यवसान की भाँति मिथ्यारूप हैं, मात्र अपने अनर्थ के लिए ही हैं।

'मैं बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ' — ऐसे अध्यवसान की अपनी अर्थक्रिया जीवों को बाँधना-छोड़ना है; किन्तु वह जीव तो हमारे इस अध्यवसाय का सद्भाव होने पर भी स्वयं के सराग परिणाम के अभाव से नहीं बँधता और स्वयं के वीतरागपरिणाम के अभाव से मुक्त नहीं होता; तथा हमारे उस अध्यवसाय के अभाव होने पर भी स्वयं के सरागपरिणाम के सद्भाव से बंधता है और स्वयं के वीतरागपरिणाम के सद्भाव से मुक्त होता है। इसलिए पर में अकिंचित्कर होने से हमारे ये अध्यवसानभाव अपनी अर्थक्रिया करनेवाले नहीं हैं; इसीलिए मिथ्या भी हैं। — ऐसा भाव है।"

गाथाओं और टीका का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं —

"जो अपनी अर्थक्रिया (प्रयोजनभूत क्रिया) नहीं कर सकता, वह निरर्थक है; अथवा जिसका विषय नहीं है, वह निरर्थक है। जीव परजीवों को दुःखी-सुखी आदि करने की बुद्धि करता है, परन्तु परजीव इसके किये दुःखी-सुखी नहीं होते; इसलिए वह बुद्धि निरर्थक होने से मिथ्या है — झूँठी है।

जो हेतु कुछ भी नहीं करता, वह अकिंचित्कर कहलाता है। हमारा यह बाँधने-छोड़ने का अध्यवसान भी पर में कुछ नहीं करता; क्योंकि यदि हमारा यह अध्यवसान न हो तो भी अन्य जीव स्वयं के सराग-वीतराग परिणाम से बंध-मोक्ष को प्राप्त होता है और हमारा वह अध्यवसान हो तो भी अन्य जीव स्वयं के सराग-वीतराग परिणाम के अभाव से बंध-मोक्ष को प्राप्त नहीं होता।

इसप्रकार अध्यवसान पर में अकिंचित्कर होने से स्व-अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है; इसलिये मिथ्या है।''

उक्त दोनों गाथाओं के कथन का सार यह है कि यह जीव दूसरों को सुखी-दु:खी करने या बंध को प्राप्त करने या मुक्त करने के जो विकल्प (अध्यवसान) करता है; वे सभी मिथ्या हैं, निष्फल हैं; क्योंकि इसके उन विकल्पों के कारण अन्य जीव सुखी-दु:खी नहीं होते, बंध को भी प्राप्त नहीं होते और मुक्त भी नहीं होते। दूसरों का हानि-लाभ तो इसके इन विकल्पों से कुछ होता नहीं; किन्तु इन विकल्पों से विकल्प करनेवाला स्वयं कर्मबंध को अवश्य प्राप्त हो जाता है। इसकारण ये अध्यवसानभाव करनेवाले के लिए अनर्थकारी ही हैं।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का अभिप्राय इसप्रकार है —

''देखो, 'परजीवों को मारूँ-बचाऊँ, सुखी-दु:खी करूँ' — ऐसा अभिप्राय मिथ्या अध्यवसान है। यह बात पिछली गाथाओं से स्पष्ट हो चुकी है। अब कहते हैं कि मैं जीवों को बाँधता हूँ, छोड़ता हूँ — यह अभिप्राय भी मिथ्या है; क्योंकि कोई किसी अन्य को बाँध सके या बन्धनबद्ध को मुक्त कर सके — ऐसी किसी में योग्यता ही नहीं है। 'मैं दूसरों को मुक्त करूँ' ऐसा तुम्हारा जो भाव है — वह जीवों को मुक्त नहीं कर सकता।

अरे भाई! दूसरों को बाँधने या मुक्त करने का परिणाम तो तेरा है और बँधन व मुक्त होने की क्रिया अन्य में होती है। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ फेरफार कर ही नहीं सकता तो तेरा दूसरों को मुक्त करने का परिणाम दूसरों को मुक्ति प्रदान कैसे कर देगा? जरा सोच तो सही! क्या तेरे ये भाव निरर्थक नहीं हैं।[१]

ज्ञानी माँ-बाप को गृहस्थ की भूमिका में ऐसा परिणाम तो आ सकता है कि 'मैं अपनी संतान को पढ़ा-लिखाकर होशियार कर दूँ; अच्छी आजीविका से लगा दूँ; अच्छी जगह सुसंस्कारवाले वर-वधू का संयोग मिला दूँ' — परन्तु साथ में यह अटूट आस्था भी है कि कोई किसी का कुछ भी नहीं कर सकता। इससे यदि उपर्युक्त विकल्प पूरा नहीं होता तो वे अधिक खेद-खिन्न नहीं होते।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १३८

वे सोचते हैं कि अपना यह विकल्प ही खोटा था; क्योंकि मैं कर ही क्या सकता हूँ? यदि संतान के पुण्य का उदय हो, भली होनहार हो तो सभी साधन अपने आप ही मिलते चले जाते हैं और यदि पाप का उदय हो तो अनुकूल साधन नहीं मिलते। इसमें कोई क्या कर सकता है?[१]

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि 'मैं पर को मारता हूँ, बचाता हूँ, सुखी-दु:खी करता हूँ, बन्धन में डालता हूँ — छोड़ता हूँ' आदि जितने भी अध्यवसान हैं, वे सब निरर्थक हैं, मिथ्या हैं। तथा अपने आत्मा के लिए अनर्थकारक हैं।[२]

मैं अखण्ड एक शुद्ध चैतन्यमूर्ति चिदानन्दघन प्रभु भगवान आत्मा हूँ। मैं सबको जानूँ — ऐसा मुझ में ज्ञान है, परन्तु मैं पर का कर्त्ता बन सकूँ — ऐसी मुझ में कोई शक्ति नहीं है। निर्मलरत्नत्रय मोक्षमार्ग की पर्याय का कर्त्तव्य तो मुझ में है, क्योंकि यह तो स्वभाव है; परन्तु परभाव का कर्त्तापना मुझ में नहीं है।

इसीकारण आचार्यदेव ने यह कहा है कि 'मैं पर को जाननेवाला हूँ' यह बात भलीप्रकार जानो। इसे न जानकर 'मैं पर का कर्त्ता हूँ' — ऐसा जो अज्ञानी का अभिप्राय है, वह मिथ्या है।[३]

यह अलौकिक सिद्धान्त है। जिसकी समझ में यह आ जाय, उसका महाभाग्य है। अहा! यह शरीर, मन, वाणी, कुटुम्ब-परिवार आदि किसी भी परद्रव्य की क्रिया मैं नहीं कर सकता — ऐसा जिसके अन्तर में बैठ जाय, उसकी दृष्टि सर्व परद्रव्यों पर से हटकर भगवान ज्ञायकस्वभावी आत्मा में लग जाती है और तब उसके मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।[४]

भाई! तेरा परिणाम ऐसा हो कि 'मैं अमुक को कर्मबंध कराऊँ या कर्मों से मुक्त कराऊँ', तो भी वह जीव अपने सराग परिणामों के बिना बँधेगा नहीं व वीतराग परिणामों के बिना छूटेगा नहीं तथा पर को बंधन में डालने या बंधन से छुड़ाने का तेरा परिणाम न हो तो भी परजीव अपने सरागभाव से बंधता है

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १४०-१४१
२. वही, पृष्ठ १४२
३. वही, पृष्ठ १४४
४. वही, पृष्ठ १४९

व अपने वीतरागभाव से छूटता है। इसप्रकार पर के बंध-मोक्ष में तेरा अध्यवसान आदि भाव अकिंचित्कर है।[१]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है तेरे विकल्पों के कारण तेरी भावना के अनुसार परपदार्थों में कुछ भी परिणाम नहीं होता। उनमें जो कुछ भी होता है, उनकी पर्यायगत योग्यता के कारण और उनके भावों के अनुसार होता है। अत: तू विकल्प करके व्यर्थ ही परेशान क्यों होता है ? इन व्यर्थ के विकल्पों से विराम लेने में ही सार है।

इन गाथाओं की आत्मख्याति टीका में इन्हीं भावों का पोषक एक कलश आता है, जो आगामी गाथाओं की उत्थानिकारूप भी है।

वह कलश मूलत: इसप्रकार है —

(अनुष्टुप्)

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहित: ।
तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥ १७१ ॥

(दोहा)

निष्फल अध्यवसान में मोहित हो यह जीव ।
सर्वरूप निज को करे जाने सब निजरूप ॥ १७१ ॥

इस निष्फल अध्यवसाय से मोहित होता हुआ यह आत्मा अपने को सर्वरूप करता है। ऐसा कुछ भी नहीं, जिस रूप यह अपने को न करता हो।

इस छन्द का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है —

(दोहा)

अहंबुद्धि मिथ्यादसा, धरै सो मिथ्यावंत ।
विकलभयो संसार में, करे विलाप अनंत ॥

परपदार्थों में अहंबुद्धि-एकत्वबुद्धि ही मिथ्यात्वदशा है और जो व्यक्ति परपदार्थों में एकत्वबुद्धि करता है, मिथ्यात्वदशा को धारण करता है; वह मिथ्यादृष्टि जीव है। ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव संसार में विकल (दु:खी) होते हैं और अनंत विलाप करते हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १४९

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"लोक में ऐसा कुछ भी शेष नहीं है, जिसरूप अज्ञानी अपने को न करता हो। वास्तव में तो यह सबको मात्र जाननेवाला है, ज्ञाता-दृष्टा है; परन्तु अपने को ज्ञाता-दृष्टा रूप न रखकर सबको अपना मान बैठा है; उन सबका कर्त्ता-भोक्ता बना हुआ है। इसप्रकार अज्ञानमय अध्यवसाय से स्वयं को सर्वरूप किये बैठा है।[१]

आत्मा के स्वभाव में अनेक शक्तियों में एक सर्वज्ञत्वशक्ति भी है, जिसमें ऐसी सामर्थ्य विद्यमान है कि वह तीन लोक व तीन काल के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक साथ जान सके।[२]

जो ज्ञान की पर्याय स्व-पर को जानती है, उसमें भविष्य की पर्याय भी जानने में आ ही जाती है। 'भविष्य में राग होगा' उसका जो ज्ञान होगा, वह ज्ञान ज्ञानी की ज्ञानपर्याय में आ जाता है। 'तीन काल व तीन लोक को मैं जाननेवाला हूँ' — ऐसी वास्तविक प्रतीति उसे आ जाती है।[३]

आत्मा का स्वभाव तो अन्दर में ऐसा है कि कुछ भी बाकी रखे बिना सब कुछ जाने; परन्तु अज्ञानी उस स्वभाव की सामर्थ्य को भूलकर, सारे जगत को अपना माने बैठा है। भाई! आत्मा का स्वरूप स्वपरप्रकाशक है; परन्तु इसने पर को अपना मानकर स्वयं को पररूप कर रखा है। इसकारण स्वरूप से अजानपना है — इसकी यही मिथ्यादृष्टि इसके दीर्घ संसार का कारण है।[४]"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि परजीवों में इसका कुछ चलता तो है नहीं, फिर भी न मालूम क्यों यह उनको मारने-बचाने और सुखी-दु:खी करने के निष्फलभाव किया करता है? गजब की बात तो यह है कि यह अज्ञानी जीव जिसको देखता-जानता है, उन सभी के लक्ष्य से इसप्रकार के भाव किया करता है। जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसे यह निजरूप न करता हो।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १५०
२. वही, पृष्ठ १५१
३. वही, पृष्ठ १५१
४. वही, पृष्ठ १५२

तात्पर्य यह है कि यह सभी परपदार्थों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्थापित करता रहता है। यही इसके अनन्त दु:खों का कारण है।

इसके बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में इसी भाव की पोषक पाँच गाथाएँ और आती हैं; जो कि आत्मख्याति में नहीं हैं।

वे गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं —

कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
कायेण च वाया वा मणेण सुहिदे करेमि सत्ते ति ।
एवं पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥

यदि जीव अपने कर्मों से दु:खी होते हैं तो मैं जीवों को काय से दु:खी करता हूँ — इसप्रकार की तेरी मति (विकल्पमयबुद्धि-मान्यता) पूर्णत: मिथ्या है।

यदि जीव अपने कर्मों से दु:खी होते हैं तो मैं जीवों को वाणी से दु:खी करता हूँ — इसप्रकार की तेरी मति पूर्णत: मिथ्या है।

यदि जीव अपने कर्मों से दु:खी होते हैं तो मैं जीवों को मन से दु:खी करता हूँ — इसप्रकार की तेरी मति पूर्णत: मिथ्या है।

यदि जीव अपने कर्मों से दु:खी होते हैं तो मैं जीवों को शस्त्रों (हथियारों) से दु:खी करता हूँ — इसप्रकार की तेरी मति पूर्णत: मिथ्या है।

यदि जीव अपने कर्मों से सुखी होते हैं तो मैं मन से, वचन से या काया से जीवों को सुखी करता हूँ — ऐसी बुद्धि भी मिथ्या है।

उक्त गाथाओं में आचार्यदेव ने सबकुछ मिलाकर एक ही बात कही है कि यदि जीव अपने कर्मोदय से ही सुखी-दु:खी होते हैं तो फिर तेरी यह मान्यता कि मैंने मन, वचन और काया से या शस्त्रों से किसी जीव को सुखी-दु:खी किया है। — यह बात पूर्णत: असत्य ही है।

इन सीधी-सरल गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन ने भी कुछ विशेष नहीं लिखा है। मात्र इतना लिखा है कि जब जीव अपने पापकर्म के उदय से दु:खी होते हैं और पुण्यकर्म के उदय से लौकिक सुख प्राप्त करते हैं तो फिर उनमें तेरा क्या काम रह जाता है; क्योंकि तू उनके पुण्य-पाप कर्मों को तो ला नहीं सकता, रोक नहीं सकता तो फिर तूने उनका क्या किया?

अत: हे दुरात्मन्! तेरे यह विकल्प कुछ कार्यकारी तो हैं नहीं, फिर तू व्यर्थ ही विकल्प करके पुण्य-पाप क्यों बाँधता है?

इन गाथाओं में समागत विषयवस्तु पर विगत गाथाओं की चर्चा के अवसर पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। अत: अब यहाँ पुन: मंथन करना पिष्टपेषण ही होगा। यही विचार कर आचार्य जयसेन ने भी कुछ विशेष नहीं लिखा है, सामान्य अर्थ ही कर दिया है।

ध्यान देने योग्य मूल बात मात्र इतनी ही है कि प्रत्येक जीव के जीवन-मरण और सुख-दुख अपने स्वयं के कर्मोदयानुसार ही होते हैं; किसी परद्रव्य का किसी भी जीव के जीवन-मरण व सुख-दुख से कोई भी संबंध नहीं है। •

मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भाव ही संसार हैं, संसार के कारण हैं, दु:खस्वरूप हैं, दु:ख के कारण हैं; और त्रिकाली ध्रुवतत्त्व आत्मा सुखस्वरूप और सुख का कारण है। पर में और पर्याय में एकत्वबुद्धि ही संसार है, दु:ख है। पर और विकारी-अविकारी पर्यायों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी चैतन्य ध्रुवतत्त्व ही आश्रय करने योग्य परम पदार्थ है। वह स्वयं धर्म स्वरूप है, उसके आश्रय से ही पर्याय में धर्म प्रगट होता है।

— तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ५२

समयसार गाथा २६८-२६९

जो बात विगत १७१वें कलश में कही गई है, अब उसी बात को इन गाथाओं में विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं। ध्यान रहे विगत कलश में पर को निजरूप और निज को पररूप करने की बात कही गई है। वही बात इन गाथाओं में कर रहे हैं।

गाथाएँ मूलत: इसप्रकार हैं —

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुए य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥२६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥

(हरिगीत)

यह जीव अध्यवसान से तिर्यंच नारक देव नर।
अर पुण्य एवं पाप सब पर्यायमय निज को करे ॥२६८॥
वह जीव और अजीव एवं धर्म और अधर्ममय।
अर लोक और अलोक इन सबमय स्वयं निज को करे ॥२६९॥

यह जीव अध्यवसान से तिर्यंच, नारक, देव, मनुष्य — इन सब पर्यायों और अनेकप्रकार के पुण्य-पाप भावों रूप स्वयं को करता है।

इसीप्रकार यह जीव अध्यवसान से धर्म-अधर्म, जीव-अजीव और लोक-अलोक इन सबरूप भी स्वयं को करता है।

तात्पर्य यह है कि उक्त सभी नारकादि पर्यायों, पुण्य-पापादि भावों और जीव-अजीव द्रव्यों में यह जीव एकत्व-ममत्व स्थापित करता है, उनका कर्त्ता-भोक्ता भी बनता है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"जिसप्रकार यह आत्मा क्रिया जिसका गर्भ है — ऐसे हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है और अन्य अध्यवसानों से अपने को अन्य करता है; उसीप्रकार उदय में आते हुए नारक के अध्यवसान से अपने को नारक करता

है, उदय में आते हुए तिर्यञ्च के अध्यवसान से अपने को तिर्यञ्च करता है, उदय में आते हुए मनुष्य के अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है, उदय में आते हुये देव के अध्यवसान से अपने को देव करता है, उदय में आते हुए सुख आदि पुण्य के अध्यवसान से अपने को पुण्यरूप करता है और उदय में आते हुए दु:ख आदि पाप के अध्यवसान से अपने को पापरूप करता है।

इसीप्रकार जानने में आते हुए धर्मास्तिकाय के अध्यवसान से अपने को धर्मरूप करता है, जानने में आते हुए अधर्मास्तिकाय के अध्यवसान से अपने को अधर्मरूप करता है, जानने में आते हुए अन्य जीवों के अध्यवसानों से अपने को अन्य जीवरूप करता है, जानने में आते हुए पुद्गल के अध्यवसानों से अपने को पुद्गलरूप करता है, जानने में आते हुए लोकाकाश के अध्यवसान से अपने को लोकाकाशरूप करता है और जानने में आते हुए अलोकाकाश के अध्यवसान से अपने को अलोकाकाशरूप करता है।

इसप्रकार आत्मा अध्यवसान से अपने को सर्वरूप करता है।''

इस टीका के पहले ही वाक्य में आचार्यदेव लिखते हैं कि अज्ञानी क्रिया जिसका गर्भ है — ऐसे हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो हिंसा का अध्यवसान अज्ञानी को हो रहा है, उसके भीतर किसी को मारने की क्रिया करने का अभिप्राय विद्यमान है। उस अभिप्रायपूर्वक जो हिंसादि के भाव होते हैं, वे अज्ञानी के पर के प्रति एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मान्यतारूप ही हैं।

जिसप्रकार यहाँ हिंसा के अध्यवसान से जीव अपने को हिंसक करता है; उसीप्रकार नरकादि गतिकर्म के उदय में होनेवाली नरकादि पर्यायों, पुण्य-पाप के भावों और जानने में आनेवाले धर्मादि द्रव्यों में भी अज्ञानी एकत्व-ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्थापित करता है। इसी बात को यहाँ इस भाषा में व्यक्त किया गया है कि अज्ञानी स्वयं को सर्वरूप करता है।

इसकी यह स्वयं को सर्वरूप करने की वृत्ति ही मिथ्यात्व है, महापाप है, अनन्त संसार का कारण है और तदनुसार प्रवृत्ति मिथ्याचारित्र है। उक्त वृत्ति मिथ्यादर्शन है और तदनुसार प्रवृत्ति मिथ्याचारित्र है।

आचार्य जयसेन इन गाथाओं की टीका में नारक, तिर्यञ्च, देव, मनुष्य, पुण्य और पाप को कर्मजनित विभावभाव कहते हैं और धर्मादि को ज्ञेय। इसप्रकार उनके अनुसार यह अज्ञानी विभावभावों और ज्ञेयपदार्थों में एकत्व-ममत्व करता है, इनका कर्त्ता-भोक्ता बनता है।

यहाँ एक जिज्ञासा सहज ही होती है कि विभावभावों में एकत्व-ममत्व की बात, कर्तृत्व-भोक्तृत्व की बात तो संभव लगती है; परन्तु धर्मादि ज्ञेयपदार्थों में कौन एकत्व-ममत्व करता है, कौन उनका कर्त्ता-भोक्ता बनता है?

इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही आचार्य जयसेन **किंच** कहकर कहते हैं कि जिसप्रकार घटाकार परिणत ज्ञान को उपचार से घट कहा जाता है; उसीप्रकार धर्मादिद्रव्यों के आकाररूप परिणत ज्ञान को भी उपचार से धर्मादि कहा जाता है।

इस अपेक्षा से धर्मद्रव्य को जानने के विकल्पवाली ज्ञानपर्याय भी धर्मद्रव्य है और यह अज्ञानी आत्मा उस ज्ञानपर्याय में तो एकत्व-ममत्व स्थापित करता ही है, उनका कर्त्ता-भोक्ता तो बनता ही है। यही धर्म द्रव्य में एकत्व-ममत्व है, कर्तृत्व-भोक्तृत्व है। इसीप्रकार अधर्मादि द्रव्यों के बारे में भी समझ लेना चाहिए।

इन गाथाओं पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी कहते हैं —

"अज्ञानी को परजीवों को मारने-बचाने का तथा पर में एकत्वबुद्धि का जो अध्यवसान है, वह राग-द्वेष-मोह की क्रिया से अन्तर्गर्भित है। तथा उस अभिप्राय से वह स्वयं को हिंसक-अहिंसक अथवा राग-द्वेष-मोहरूप करता है। वह अध्यवसाय पर के साथ व राग-द्वेष-मोह की क्रिया के साथ तद्रूप व तन्मयतारूप होने से मिथ्यात्व के महापापरूप है।

परजीवों की दयापालन करने का जो भाव है, वह भले ही पुण्यभाव है; परन्तु उसी में 'मैं परजीवों की दया पाल सकता हूँ, उनकी रक्षा कर सकता हूँ' — ऐसी जो मान्यता है, वह मान्यता मिथ्यात्व के महापापरूप है।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १५७-१५८

इसीप्रकार औदयिक भाव के कारण अपने को नर-नारक आदि मानने लगता है। आचार्य कहते हैं कि अरे भगवान! तू तो एक ज्ञायकमात्र है। नारकी तो जड़देह है। इस देह में रहने से अपने को नारकी मानने का अभिप्राय मिथ्यात्व है।[१]

अब कहते हैं कि उदय में आते हुए तिर्यंच के अध्यवसान से अपने को तिर्यंच करता है, उदय में आते हुए मनुष्य के अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है — ऐसा कहकर यह सिद्ध किया है कि इस भवसमुद्र में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच पर्याय में यह भगवान आत्मा अनन्तबार जन्मा-मरा है। और वहाँ ऐसा माना कि 'मैं तिर्यंच हूँ, मैं स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, बालक हूँ, युवा हूँ, वृद्ध हूँ, पण्डित हूँ, मूर्ख हूँ, राजा हूँ, रंक हूँ आदि।' — इसप्रकार अपने को मनुष्य करता है। यदि कोई समाजसेवा में, राष्ट्रसेवा में लगा हो तो अपने को समाजसेवक व देशसेवक मानता है।

आचार्य कहते हैं कि यह तेरा रागमय मिथ्या अध्यवसाय मिथ्यात्वमय है। भाई! तू इस रागमय अध्यवसाय में तद्रूप हो रहा है, जबकि इसमें आत्मा की गंध भी नहीं है।

आगे टीका में कहा है कि 'उदय में आते हुए देव के अध्यवसान से अपने को देव करता है तथा उदय में आते हुए सुख-दुःखादि व पुण्य-पापादि अध्यवसानों से अपने को सुखी-दुःखी व पुण्यात्मा-पापात्मा करता है।[२]

इसीप्रकार जानने में आते हुए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के अध्यवसान से अपने को धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यरूप करता है।[३]

आगे कहते हैं कि जानने में आते हुए अन्य जीवों के अध्यवसान से अपने को अन्यजीवरूप करता है।

देखो, ये जो स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी तथा नौकर-चाकर आदि अन्य जीव हैं; वे सब पर हैं, स्व नहीं हैं; तथापि वे सब मेरे हैं और मुझे उपकारी हैं — ऐसा अध्यवसान मिथ्या है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १५७-१५८
२. वही, पृष्ठ १५९
३. वही, पृष्ठ १६०

अज्ञानी ऐसे मिथ्या अध्यवसाय से स्वयं को अन्य जीवरूप करता है — ऐसा कहते हैं।

ये अरहंतदेव व निर्ग्रन्थ गुरु के आत्मा हैं न? वे भी अन्य जीव हैं, पर हैं; स्व नहीं हैं। उन्हें भी अपना हितकारी मानना तथा ये मेरे तारणहार हैं — ऐसी एकत्व-ममत्व बुद्धिरूप जो अध्यवसाय है, वह मिथ्यादर्शन है।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि जो निज ज्ञायकभाव को छोड़कर अन्य जीव में अपनेपन का विकल्प करे तो उस विकल्प से वह जीव अपने आपको अन्य जीवरूप करता है और यह उसका अज्ञान है, मिथ्यात्व है। इसीप्रकार जानने में आते हुए पुद्गलों के अध्यवसान से स्वयं को पुद्गलरूप करता है।

अहा! स्वयं तो ज्ञायकस्वरूप है; उसे जाने बिना इस शरीर, मन, वाणी, धन-सम्पत्ति, बाग-बंगला, हीरा-माणिक-मोती आदि अनेकप्रकार के पुद्गलों को अपना जानता हुआ 'ये मेरे हैं, मुझे लाभदायक हैं' ऐसे अध्यवसान से अज्ञानी जीव स्वयं को पुद्गलद्रव्यरूप करता है।[१]

लोक के आकार का विचार करते हुए अज्ञानी उन विकल्पों में एकत्वबुद्धि करके लोकाकाश व अलोकाकाश सम्बन्धी अध्यवसानों से स्वयं को लोकाकाश व अलोकाकाशरूप करता है।

इसप्रकार जीव मिथ्या अध्यवसानों से स्वयं को पररूप करता है।

अनन्तकाल से अज्ञानी ने औंधी मान्यता से अपने को भूलकर पर में एकत्व-ममत्व रूप मिथ्या अध्यवसान ही किये हैं। स्वयं है तो स्वभाव से सकलज्ञेयज्ञायक; तथापि अपने स्वरूप को जाने बिना वह जिन-जिन अन्य पदार्थों को जानता है या जो-जो अन्य ज्ञेय जानने में आते हैं; उन सर्वरूप स्वयं को मानने लगता है। ऐसी मिथ्यामान्यता से ही जीव अनन्तकाल से संसार में भटक रहा है; क्योंकि यह मिथ्यामान्यता ही बंध का कारण है।

तात्पर्य यह है कि ये सर्व अध्यवसानभाव अज्ञानरूप हैं; इसकारण इन्हें अपना परमार्थस्वरूप नहीं समझना चाहिए।[२]"

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १६०-१६१
२. वही, पृष्ठ १६१-१६२

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि यह अज्ञानी आत्मा कर्मोदय से प्राप्त होनेवाली नर-नरकादि पर्यायों, अनेकप्रकार के पुण्य-पाप के परिणामों तथा जानने में आनेवाले धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल रूप अजीव द्रव्यों तथा अपने आत्मा से भिन्न अन्य जीवों में अपनापन करता है; इन सभी में एकत्व-ममत्व स्थापित करता है, स्वयं को उनका कर्त्ता-भोक्ता मानता है।

अधिक क्या कहें, जगत में ऐसा कौनसा पदार्थ है, जो इसके ज्ञान का ज्ञेय बनता हो और यह उसे अपना न मानता हो, उसमें ममत्व स्थापित न करता हो, उनका कर्त्ता-भोक्ता न बनता हो? अज्ञानियों के पर में एकत्वबुद्धिपूर्वक होनेवाले ये भाव ही, राग-द्वेष परिणाम ही अध्यवसानभाव कहलाते हैं और यही अध्यवसानभाव बंध के मूलकारण हैं।

अब इसी भाव का पोषक एवं आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य कहते हैं; जो इसप्रकार है —

(इन्द्रवज्रा)

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादा-
त्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककंदोऽध्यवसाय एष;
नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १७२ ॥

(रोला)

यद्यपि चेतन पूर्ण विश्व से भिन्न सदा है,
फिर भी निज को करे विश्वमय जिसके कारण ।
मोहमूल वह अधवसाय ही जिसके न हो,
परमप्रतापी दृष्टिवंत वे ही मुनिवर हैं ॥ १७२ ॥

विश्व से अर्थात् समस्त द्रव्यों से भिन्न होने पर भी यह आत्मा जिसके प्रभाव से स्वयं को विश्वरूप करता है; ऐसा वह अध्यवसाय कि जिसका मूल मोह (मिथ्यात्व) है; वह जिनके नहीं हैं, वे ही मुनिराज हैं।

इस कलश का पद्यानुवाद कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं —

(अडिल्ल)

सदा करम सौं भिन्न सहज चेतन कह्यौ ।
मोह-विकलता मानि मिथ्याती ह्वै रह्यौ ॥
करै विकल्प अनंत अहंमति धारिकै ।
सो मुनि जो थिर होइ ममत्त निवारिकै ॥

यद्यपि यह चेतन आत्मा तो कर्मों से, भावकर्मरूप विकारीभावों से सदा भिन्न ही है; तथापि मोह (मिथ्यात्व) के कारण परपदार्थों में एवं विकारीभावों में एकत्वबुद्धि करके विकल (दु:खी) हो रहा है, मिथ्यात्वी हो रहा है। यह अज्ञानी जीव परपदार्थों में अहंबुद्धि धारण करके अनन्त विकल्प करता है; किन्तु वे मुनिराज ही सच्चे मुनिराज हैं, जो परपदार्थों और विकारीभावों से ममत्वबुद्धि तोड़कर निज भगवान आत्मा में स्थिर हो गये हैं।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार समझाते हैं —

"अपना एक ज्ञायकस्वभाव तो जगत के सर्व पदार्थों को जानने की सामर्थ्यवाला है; परन्तु अज्ञानी उस सामर्थ्य को भूलकर सारे जगत को किसी न किसी रूप में अपना मानता है तथा उसमें अपना कर्तृत्व मानता है। इस सब अज्ञान का मूल एकमात्र मोह ही है; मिथ्या मान्यता ही है।

पर में एकत्वबुद्धि का जो अध्यवसाय है, उसका मूल एक मिथ्यात्व ही है। ऐसा मिथ्या अध्यवसाय जिसको नहीं है, वे ही ज्ञानी हैं; वे ही मुनि हैं।

यहाँ मुनिदशा की प्रधानता से कथन है। वैसे, चौथे-पाँचवें गुणस्थान में भी पर की एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय नहीं होता।[१]

जिसका सहज एक ज्ञायकस्वभाव है — ऐसे आत्मा का 'स्व' व 'पर' को जानने का सहज स्वभाव है।

नाटक समयसार में आता है न ?

(चौपाई)

स्व-परप्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भारी ।
ज्ञेयदशा दुविधा परगासी, निजरूपा-पररूपा भासी ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १६३

जिसमें स्व-पर को जाननेरूप एक स्वभाववाले आत्मा की परिपूर्ण प्रतीति वर्तती है, वह सम्यग्दर्शन ही धर्म का अर्थात् चारित्र का मूल है। ऐसे चारित्र के धारक मुनिवरों को उपरोक्त अध्यवसाय नहीं होते।

मोह ही जिसका मूल है, ऐसा अध्यवसान जिनको नहीं है — तथा सम्यग्दर्शन जिसका मूल है — ऐसे चारित्र के धारक, प्रचुर आनन्द में झूलनेवाले मुनिराज होते हैं।

जिसप्रकार धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, इसीप्रकार अध्यवसानों का मूल मिथ्यादर्शन है। तथा ऐसा अध्यवसाय मुनिवरों को नहीं होता है। मुनिवरों को छहकाय के जीवों की रक्षा का विकल्प तो आता है, पर वे उस विकल्प के स्वामी व कर्त्ता नहीं होते; वे उसके भी मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं।[१]"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि जिन मुनिराजों के परपदार्थों और विकारीभावों में एकत्व-ममत्व व कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि न हों और जो अपने स्वरूप में स्थिर रहते हों; वे मुनिराज ही सच्चे मुनिराज हैं।

मुनिधर्म का मूल तो परपदार्थों और विकारीभावों में से एकत्व-ममत्व टूटकर; कर्तृत्व-भोक्तृत्व छूटकर त्रिकाली ध्रुव निजभगवान आत्मा में एकत्व-ममत्व होना और निज भगवान आत्मा में जम जाना, रम जाना है।

यदि यह है तो सबकुछ है और यदि यह नहीं है तो कुछ भी नहीं है। इसके बिना बाह्य में कितना ही क्रियाकाण्ड क्यों न हो, कैसे भी शुभभाव क्यों न हों, बाह्याचरण भी कितना ही निर्मल क्यों न हो; यह सब मिलकर भी सच्चा मुनिपना नहीं है। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १६४

जगत के पदार्थ तो जगत में ही रहते हैं और रहेंगे, उन्हें क्या छोड़ें और कैसे छोड़ें ? उन्हें अपना मानना और उनसे ममत्व करना ही तो छोड़ना है।
— धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १४७

समयसार गाथा २७०

जो बात विगत कलश में कही गई है; अब उसी बात को गाथा के माध्यम से कहते हैं; जो इसप्रकार है —

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥ २७० ॥

(हरिगीत)

ये और इनसे अन्य अध्यवसान जिनके हैं नहीं ।
वे मुनीजन शुभ-अशुभ कर्मों से न कबहूँ लिप्त हों ॥ २७० ॥

ये अध्यवसानभाव व इसप्रकार के अन्य अध्यवसानभाव जिनके नहीं हैं; वे मुनिराज अशुभ या शुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"यह जो तीन प्रकार के अध्यवसान हैं, वे सभी स्वयं अज्ञानादिरूप (अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारित्ररूप) होने से शुभाशुभ कर्मबंध के निमित्त हैं।

अब इसे ही विस्तार से समझाते हैं — 'मैं परजीवों को मारता हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है; उस अध्यवसानवाले जीव को ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी क्रिया है — ऐसे आत्मा का और राग-द्वेष के उदयमयी हनन आदि क्रियाओं का अन्तर नहीं जानने के कारण पर से भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन (अश्रद्धान) होने से वह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से वह अध्यवसान ही अचारित्र है।

'मैं नारक हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है, वह अध्यवसानवाले जीव को भी ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है — ऐसा आत्मा का और कर्मोदयजनित नारक आदि भावों का अन्तर न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न

आत्मा का अदर्शन होने से वह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से वह अध्यवसान ही अचारित्र है।

'धर्मद्रव्य का ज्ञान होता है' इत्यादि जो अध्यवसान है, उस अध्यवसानवाले जीव को भी ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है — ऐसे आत्मा का और ज्ञेयमय धर्मादिकरूपों का अन्तर न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से वह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से वह अध्यवसान ही अचारित्र है।

इसलिए ये समस्त अध्यवसान बंध के ही निमित्त हैं।

मात्र जिनके ये अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं, वे ही कोई विरले मुनिकुंजर सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है और सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है — ऐसे भिन्न आत्मा को जानते हुए, सम्यक् प्रकार देखते हुए और आचरण करते हुए स्वच्छ और स्वच्छन्दतया उदयमान — ऐसी अमन्द अन्तर्ज्योति को अज्ञानादिरूपता का अत्यन्त अभाव होने से शुभ या अशुभ कर्म से वास्तव में लिप्त नहीं होते।''

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी आत्मख्याति का ही अनुशरण किया गया है।

यहाँ गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए टीका में तीन प्रकार के अध्यवसान भावों को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप सिद्ध करते हुए बंध के कारण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

वे तीन प्रकार के अध्यवसान इसप्रकार हैं —

(१) 'मैं परजीवों को मारता हूँ, बचाता हूँ, सुखी-दु:खी करता हूँ' — इत्यादि एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व व भोक्तृत्व बुद्धिपूर्वक होनेवाले विकल्पोंरूप रागादिभाव।

(२) 'मैं नारक हूँ, तिर्यञ्च हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ' — इत्यादि कर्मोदयजनित अवस्थाओं में एकत्वादि बुद्धिपूर्वक होनेवाले भाव।

(३) 'मैं धर्मादि द्रव्यों को जानता हूँ' — इत्यादि रूप ज्ञेयपदार्थों में एकत्व-ममत्वादि रूप विकल्प।

उक्त तीनों प्रकार के अध्यवसानभाव उनसे भिन्न आत्मा का ज्ञान न होने से अज्ञानभाव हैं, उनसे भिन्न आत्मा में अपनापनरूप न होने से मिथ्यात्वरूप हैं और उनसे भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से मिथ्याचारित्ररूप हैं और इसीकारण बंध के कारण हैं; क्योंकि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही बंध के मूलकारण हैं।

भगवान आत्मा तो सत्‌रूप अहेतुक ज्ञायकभावरूप है, ज्ञानस्वरूप है और ज्ञप्ति ही एकमात्र उसकी क्रिया है। इसप्रकार ज्ञायक द्रव्य, ज्ञान गुण व शुद्ध निर्मल ज्ञप्तिरूप परिणमन से सम्पन्न आत्मा उक्त तीन प्रकार के अध्यवसान भावों से पृथक् है। यही कारण है कि ऐसे आत्मा को निजरूप जानकर उसमें ही अपनापन धारण करनेवाले और उसमें ही रत मुनिराज कर्मों से लिप्त नहीं होते।

टीका का भाव अत्यन्त सरल शब्दों में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"यह जो अध्यवसान हैं, वे 'मैं पर का हनन करता हूँ' इसप्रकार के हैं, 'मैं नारक हूँ', इसप्रकार के हैं तथा 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ' इसप्रकार के हैं। वे, जबतक आत्मा का और रागादि का, आत्मा का और नारकादि कर्मोदयजनित भावों का तथा आत्मा का और ज्ञेयरूप अन्य द्रव्यों का भेद न जाना हो, तबतक रहते हैं। वे भेदज्ञान के अभाव के कारण मिथ्याज्ञानरूप हैं, मिथ्यादर्शनरूप हैं और मिथ्याचारित्ररूप हैं; यों तीन प्रकार होते हैं। वे अध्यवसान जिनके नहीं हैं, वे मुनिकुंजर हैं। वे आत्मा को सम्यक् जानते हैं, सम्यक् श्रद्धा करते हैं और सम्यक् आचरण करते हैं; इसलिये अज्ञान के अभाव से सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप होते हुए कर्मों से लिप्त नहीं होते।"

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव स्वामीजी विस्तार से स्पष्ट करते हैं, जो इसप्रकार है —

"आत्मा में वर्तमान ज्ञप्तिक्रिया-धर्म की क्रिया जो हुई है, वह स्वतः सत् व अहेतुक है। उसका उत्पाद स्वतः उत्पाद से है और तत्कालीन पर्याय की योग्यता ही उसका कारण है।

यह बात अलग है कि इस धर्म की क्रिया को त्रिकाली द्रव्य भगवान आत्मा का आश्रय है; परन्तु त्रिकाली द्रव्य इस धर्मक्रिया की उत्पत्ति का सीधा कारण नहीं है। यह ज्ञप्ति क्रिया-धर्म की क्रिया एक वीतरागभावमय है तथा हनन आदि क्रियाएँ केवल राग-द्वेषमय हैं। अज्ञानी इन दोनों क्रियाओं में भेद नहीं जानता।[१]

यहाँ पहले ज्ञप्तिक्रिया — ज्ञान की क्रिया कहकर पर्याय की बात कही है। आगे ज्ञायकद्रव्य व ज्ञानगुण की बात कहेंगे। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय-तीनों का कथन करेंगे।

वस्तु यानि द्रव्य त्रिकाली है, ध्रुव है तथा इसमें पर्याय का उत्पाद-व्ययरूप परिणमन होता है। पूर्व पर्याय का व्यय, उत्तर पर्याय का उत्पाद तथा द्रव्य का त्रिकाल टिका रहना — इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य — तीनों मिलकर सत् है, द्रव्य है।[२]

इसप्रकार जो जीव भगवान ज्ञायक का व मनुष्यादि गति के भावों का विशेष (अन्तर) नहीं जानता, वह अज्ञानी, अश्रद्धावान व अचारित्री है। इसप्रकार पहला बोल पर्याय का — ज्ञप्तिक्रिया का व दूसरा बोल द्रव्य का — ज्ञायकभाव का हुआ — इसतरह दो बोल हुए।

अब तीसरे ज्ञानगुण का बोल कहते हैं —

आत्मा में ज्ञानगुण है, जो कि आत्मा का स्वरूप है। ज्ञानगुण आत्मा का सत् अहेतुक स्वभाव है। इसका कोई अन्य कारण नहीं है। स्वरूप से ही आत्मा ज्ञानमय है। इसप्रकार ज्ञान ही जिसका एकरूप है — ऐसे आत्मा और परज्ञेयरूप जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों में भेद नहीं जानने के कारण अज्ञानी स्व व पर — दोनों को एक करता है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा व धर्मादि दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। पर अज्ञानी स्व व पर को एकपने जानता है, यही उसका अध्यवसान है।[३]

जबतक जीवों को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता, तबतक जीव को जो अपने व पराये के एकपने रूप परिणाम वर्तते हैं, वे सब निषिद्ध हैं; क्योंकि

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १६९
२. वही, पृष्ठ १७०
३. वही, पृष्ठ १७१-१७२

वे बन्ध के कारण हैं। वे पर के साथ के एकत्वबुद्धि के सभी परिणाम अध्यवसाय हैं, अज्ञान हैं, अदर्शन हैं, अचारित्र हैं।

देखो, यहाँ इस गाथा में तो इतना अभिप्राय ही ग्रहण करना कि पर के लक्ष्य से पर के एकत्वरूप जो अध्यवसाय होते हैं, वे निषिद्ध हैं।

'पर को मैं मारता हूँ, बचाता हूँ, मैं मनुष्यादि हूँ तथा मैं धर्मादि द्रव्यों को जानता हूँ' — ये जो अध्यवसान हैं, वे सब निषिद्ध हैं।[१]

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान ही जिसका एकरूप है — ऐसा आत्मा तथा ज्ञेयरूप धर्मादि परद्रव्य अत्यन्त भिन्न हैं। इन परज्ञेयरूप जानने में आते हुए अनन्त परजीव, अनन्त निगोद के जीव, अनन्त सिद्ध, देव-गुरु आदि तथा शास्त्रों के अनन्त रजकण, धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों से निज ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा सर्वथा भिन्न है। भगवान ज्ञायक का ज्ञानगुण स्वज्ञेय है तथा विश्व के अनन्त अन्य द्रव्य परज्ञेयस्वरूप होने से इससे भिन्न हैं।

ऐसे स्व-पर ज्ञेयों की भिन्नता नहीं जानने के कारण अज्ञानी जो अध्यवसाय करता है कि 'धर्मादि को जानता हूँ' उसका यह अध्यवसाय प्रथम तो भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से मिथ्यादर्शन है तथा भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से अचारित्र है।[२]

भगवान ज्ञायकभाव द्रव्य, ज्ञान गुण और अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायरूप ज्ञप्तिक्रिया — ये अपना 'स्व' एवं स्वयं ज्ञायक उनका स्वामी है। यह ज्ञान की प्रधानता से स्वज्ञेय की बात है। दृष्टि की प्रधानता में तो वह एक ज्ञायक आत्मा ही आश्रय करने योग्य है तथा जो एकमात्र ध्येय है — ऐसा त्रिकाली ध्रुव अभेद एक शुद्ध निश्चयस्वरूप भगवान ज्ञायक ही मुख्य है। जिसमें गुणभेद व पर्यायों का प्रवेश नहीं है — ऐसा भगवान ज्ञायक ही अपना आश्रय स्थान है।

यहाँ कहते हैं कि ये धर्मादि पदार्थ जानने योग्य — ज्ञेय पदार्थ हैं। इनसे यह जाननेवाला भगवान ज्ञायक भिन्न है। ये सब परज्ञेय जो जानने में आते हैं, यह तो ज्ञान की अपनी सामर्थ्य है। यह परज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान कहीं पर

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १७२
२. वही, पृष्ठ १७३

में जाता नहीं है, पररूप होता नहीं है तथा परज्ञेय भी ज्ञानरूप नहीं होते। इसप्रकार ज्ञान परज्ञेयों से भिन्न ही है। ऐसा होते हुए भी ये परपदार्थ जानने में आने के लिए 'वे मेरे हैं अथवा इनसे मेरे ज्ञान की सत्ता है' — ऐसी जो मान्यता है, वह सब ज्ञेयों से भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से अज्ञान है, ज्ञेयों से भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से मिथ्यादर्शन है तथा सब ज्ञेयों से भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से अचारित्र है। ये अन्य जीव-स्त्री-पुत्र, परिवार, देव-गुरु आदि मेरे हैं — ऐसा जानने में आता है, वह अज्ञान है। भाई! मेरा तो स्व-पर को जाननेरूप स्वभाववाला सहज एक ज्ञान है। वहाँ परज्ञेय अपने कहाँ से/कैसे हो गये? स्व-पर को जानने के स्वभाव के कारण पर जानने में आये — ऐसा कहा जाता है; परन्तु वस्तुतः पर तो कुछ भी जानने में आये नहीं, किन्तु अपना स्व-पर को जाननेवाला स्वभाव ही अन्दर जानने में आया है; अन्दर पसरा है। ऐसा होते हुए भी पर से जानपना आया अथवा पर जानने में आते हुए पर मेरा हो गया — ऐसा कोई माने तो वह उसका अज्ञान है; क्योंकि उसे अपने सहज एक ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अखण्ड एक ज्ञायकभावरूप द्रव्य, ज्ञानस्वभाव उसका गुण तथा उसकी वर्तमान जानने-देखने की पर्याय ही ज्ञप्तिक्रियारूप पर्याय है। बस इतने में ही आत्मा का अस्तित्व है — सत्द्रव्य, सत्गुण व सत्पर्याय। इस पर्याय में पर, शरीर, मन, वाणी, राग आदि जानने में आते हैं — उन्हें अपना मानना अज्ञान है। स्व-पर को प्रकाशित करनेवाला-असीमस्वभाववाला भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यरत्न है। अपने ऐसे स्वरूप को भूलकर जो परज्ञेय जानने में आते हैं, उन्हें अपना मानना अज्ञान है। ऐसी अज्ञानमयता से ये जीव अनादि से ही अंध बने चले आ रहे हैं।[१]

अब कहते हैं कि 'मैं मनुष्य हूँ, देव हूँ' — ऐसा जाने-माने तथा प्रवर्तन करे तथा 'दूसरों की दया करूँ, दूसरों को सुखी करदूँ' — इसप्रकार पर की क्रियाओं का स्वामी होकर प्रवर्ते — ये सब भगवान आत्मा को अज्ञान, अदर्शन व अनाचरण होने से बन्ध के निमित्त हैं। ज्ञान में धर्मादि परवस्तुएँ जानने में

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १७३-१७५

आयीं, वहाँ ऐसा माने कि 'ये वस्तुएँ मुझ में हैं' — तो उसकी यह मान्यता संसार में रखड़ानेवाली है। यहाँ तक अज्ञानी की अपेक्षा कथन किया।

अब ज्ञानी की अपेक्षा कथन करते हैं —

जैन साधु उन्हें कहते हैं, जिनके अध्यवसान नहीं होते। वे मुनिकुंजर ही उत्तम मुनिवर हैं, जिनके धर्म की क्रिया सत्, अहेतुक, ज्ञानमात्र एवं पूर्ण रागरहित होती है तथा जिनकी जानने-देखने, श्रद्धा करने तथा अन्तर में ठहरने की क्रिया ही एक स्वाभाविक क्रिया है।[१]

देखो, 'सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है' — ऐसा कहकर यहाँ गुण की बात कही है। इसके पूर्व 'ज्ञप्तिक्रिया — धर्म की क्रिया' की जो बात कही, वहाँ पर्याय की बात कही थी। पर्याय के बाद 'एक ज्ञायकभाव मात्र' कहकर द्रव्य की बात कही थी।

धर्मात्मा के एक ज्ञायक ही अपना भाव है, एक ज्ञप्ति ही अपनी क्रिया है तथा एक ज्ञान ही अपना रूप है। ज्ञानी अपने ऐसे आत्मद्रव्य को जानता हुआ, श्रद्धान करता हुआ तथा अनुचरता हुआ स्वरूप में स्थिर होता है।

देखो, ज्ञान में अनन्त ज्ञेय जाने जाते हैं, पर वे ज्ञेय अपना स्वरूप नहीं हैं। हाँ, सर्व ज्ञेयों को जानने का आत्मा का स्वभाव है। वह ज्ञान ही इस आत्मा का स्वरूप है। ज्ञानी के ज्ञान में शुभराग भी जानने में आता है; परन्तु वह शुभराग आत्मा का नहीं है।[२]''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप अध्यवसानभाव ही बंध के कारण हैं।

इसके बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा आती है, जो आत्मख्याति में नहीं है। वह गाथा इसप्रकार है —

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं ।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरई ॥

जबतक संकल्प-विकल्प हैं, तबतक आत्मस्वभावमय ऋद्धि अर्थात् स्वानुभूति हृदय में प्रगट नहीं होती और जबतक स्वानुभूति प्रगट नहीं होती; तबतक वह जीव शुभ-अशुभ कर्म करता है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १७५
२. वही, पृष्ठ १७६-१७७

इस गाथा का अर्थ तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन ने अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार किया है —

"जबतक यह आत्मा बाह्यविषयरूप शरीर, स्त्री-पुत्र आदि में 'ये मेरे हैं' — इत्यादि रूप ममत्वमय संकल्प करता है और अन्तर में हर्ष-विषादरूप विकल्प करता है; तबतक अनन्त ज्ञानादि से समृद्ध आत्मतत्त्व को हृदय में नहीं जानता है। जबतक इसप्रकार का आत्मा अन्तर में स्फुरायमान नहीं होता, तबतक शुभाशुभभावों को उत्पन्न करनेवाले कर्म करता है।"

इसप्रकार इस गाथा में भी प्रकारान्तर से यही कहा गया है कि स्वानुभूति से रहित संकल्प-विकल्परूप अध्यवसानभाव ही मूलत: बंध के कारण हैं। •

बन्धन तभी तक बन्धन है — जबतक बन्धन की अनुभूति है। यद्यपि पर्याय में बंधन है; तथापि आत्मा तो अबन्धस्वभावी ही है। अनादिकाल से यह अज्ञानी प्राणी अबंधस्वभावी आत्मा को भूलकर 'बंधन' पर केन्द्रित हो रहा है। वस्तुत: बंधन की अनुभूति ही बंधन है। वास्तव में 'मैं बँधा हूँ' इस विकल्प से यह जीव बँधा है। लौकिक बंधन से विकल्प का बंधन अधिक मजबूत है, विकल्प का बंधन टूट जावे तथा अबंध की अनुभूति सघन हो जावे तो बाह्य बंधन भी सहज टूट जाते हैं।

बंधन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से, दीनता-हीनता का विकास होता है। अबंध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है; पुरुषार्थ सहज जागृत होता है — पुरुषार्थ की जागृति में बंधन कहाँ ? चन्दना की बंधन की विस्मृति ही बंधन के अभाव का कारण बनी।

— तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७०

समयसार गाथा २७१

विगत गाथाओं में बारम्बार 'अध्यवसान' शब्द का उपयोग किया गया है और अध्यवसानों को ही बंध का कारण बताया गया है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि आखिर ये अध्यवसान हैं क्या? आखिर अध्यवसान कहते किसे हैं?

इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में यह २७१वीं गाथा लिखी गई है।

गाथा मूलत: इसप्रकार है —

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं ।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥ २७१ ॥

(हरिगीत)

व्यवसाय बुद्धी मति अध्यवसान अर विज्ञान भी ।
एकार्थवाचक हैं सभी ये भाव चित्त परिणाम भी ॥ २७१ ॥

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम — ये सब एकार्थवाची ही हैं, पर्यायवाची ही हैं।

तात्पर्य यह है कि अध्यवसाय शब्द से जो भाव प्रदर्शित किया जाता है, वही भाव उक्त शब्दों से भी व्यक्त किया जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने यद्यपि इस गाथा की टीका अत्यन्त संक्षेप में लिखी है; तथापि उसमें अध्यवसान के इन नामों का अर्थ व्युत्पत्तिपूर्वक स्पष्ट किया है; जो इसप्रकार है —

"स्व-पर का अविवेक होने पर जीव अध्यवसितिमात्र अध्यवसान है और वही बोधनमात्रत्व से बुद्धि है, व्यवसानमात्रत्व से व्यवसाय है, मननमात्रत्व से मति है, विज्ञप्तिमात्रत्व से विज्ञान है, चेतनमात्रत्व से चित्त है, चेतन के भवनमात्रत्व से भाव है, चेतन के परिणमनमात्रत्व से परिणाम है।"

आचार्य जयसेन ने भी तात्पर्यवृत्ति में इसीप्रकार अर्थ किया है। साथ में यह भी लिख दिया है कि इनमें शब्दभेद होने पर भी अर्थभेद नहीं है; सभी का समभिरूढ़नय से अध्यवसान ही अर्थ होता है।

इस गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"देखो, अनन्त गुणों का पिण्ड चैतन्य चिन्तामणि एक ज्ञायकभाव मात्र वस्तु मैं हूँ — ऐसा अनुभव करने के बदले मैं पर को मारता हूँ, बचाता हूँ, सुखी-दु:खी करता हूँ आदि माने तथा मैं नारकी हूँ, मनुष्य हूँ आदि माने तथा धर्मादिद्रव्य जो ज्ञान में सहज परद्रव्यपने जाने जाते हैं, उनमें एकत्वबुद्धिपूर्वक कोई ऐसा माने कि मैं धर्मादि को जानता हूँ, तो यह उसका अविवेक है। जब ऐसा अविवेक होता है, तब स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता। ऐसी स्थिति में जीव की पर में अपनेपन की कर्तृत्वबुद्धि की जो मान्यता है, वह अध्यवसान है। ऐसा अध्यवसान मिथ्यात्वरूप है। जिसे यहाँ आठ नामों से दर्शाया गया है।

उसी अध्यवसान को बोधनमात्रपने से बुद्धि कहा जाता है, व्यवसानमात्रपने से व्यवसाय कहा जाता है। मननमात्रपने से मति तथा विज्ञप्तिमात्रपने से विज्ञान भी कहा जाता है।

इसीप्रकार चेतनमात्रपने से चित्त, चेतन के भवनमात्रपने से भाव तथा चेतन के परिणमनमात्रपने से परिणाम भी कहा गया है।

सारा दिन धंधा-व्यापार में लगा रहना, स्त्री-पुत्र, परिवार, समाज एवं राज-काज के कामों में लगे रहना, उन्हें ही अपना कर्त्तव्य मानना, व्यवसाय नामक अध्यवसान है।[१]

मननमात्रपने से इसीप्रकार के मिथ्या बौद्धिक व्यायाम को मति नामक अध्यवसान कहते हैं।[२]

विज्ञप्तिमात्रपने से उस मिथ्या अध्यवसान को विज्ञान भी कहते हैं। देखो, यह विज्ञान वीतराग-विज्ञान नहीं है; विशिष्ट तत्त्वज्ञान संबंधी विज्ञान की भी बात नहीं है। यहाँ तो तत्त्वज्ञान से विरुद्ध — मैं पर का भला-बुरा करता हूँ, कर सकता हूँ आदि मिथ्याज्ञानवाले विज्ञान की बात है, जिसे अध्यवसान कहा गया है।

चेतना परिणाम को चित्त भी कहते हैं, भाव भी कहते हैं और परिणाम भी कहते हैं; परन्तु यहाँ निर्मल परिणाम की बात नहीं है। यहाँ तो पर मेरी व मैं पर की क्रिया करता हूँ — ऐसे मिथ्या परिणाम की बात है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १८०-१८१
२. वही, पृष्ठ १८१

जहाँ तक पर में एकत्वबुद्धि रहती है, वे सब परिणाम अज्ञानमय अध्यवसान हैं; भले ही उनके नाम कहने-सुनने व देखने में कितने ही अच्छे व आकर्षक क्यों न हों? चाहे वे बचाने के, रक्षा करने, पालन-पोषण करने के परिणाम हों, चाहे दया-दानादि के परिणाम हों; पर में एकत्व व कर्तृत्व के मिथ्या अभिप्राय सहित होने से इन्हें अध्यवसान ही कहा जाता है।

भावार्थ यह है कि यहाँ जो बुद्धि, विज्ञान आदि आठ नामों से अध्यवसान कहे गए हैं, वे सब चेतन आत्मा के ही परिणाम हैं। जहाँ तक स्व-पर भेदज्ञान नहीं होता, वहाँ तक जीव को जो अपने व पर के एकपने की निश्चयरूप परिणति वर्तती है; उन्हें ही यहाँ आठ नामों से कहा गया है।[१]

इस गाथा में मात्र इतना ही कहा गया है कि जो अध्यवसानभाव बंध के कारण हैं; उन्हें उक्त आठ नामों से भी अभिहित किया जाता है।

अत: परमागम का अध्ययन करते समय प्रत्येक आत्मार्थी को इस बात की विशेष सावधानी रखनी चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुये आचार्य अमृतचंद्र एक कलश लिखते हैं, जो आगामी गाथा की उत्थानिकारूप भी है।

वह कलश मूलत: इसप्रकार है —

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै—
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यक् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम् ॥ १७३ ॥

(अडिल्ल)

सब ही अध्यवसान त्यागने योग्य हैं,
यह जो बात विशेष जिनेश्वर ने कही ।
इसका तो स्पष्ट अर्थ यह जानिये;
अन्याश्रित व्यवहार त्यागने योग्य है ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १८१

परमशुद्धनिश्चयनय का जो ज्ञेय है,
शुद्ध निजातमराम एक ही ध्येय है ।
यदि ऐसी है बात तो मुनिजन क्यों नहीं;
शुद्धज्ञानघन आतम में निश्चल रहें ? ॥ १७३ ॥

आचार्यदेव कहते हैं कि — जिनेन्द्र भगवान ने जो यह कहा है कि सर्वपदार्थों के आश्रय से होनेवाले सभी अध्यवसानभाव त्यागने योग्य हैं; इसका आशय हम यह मानते हैं कि उन्होंने पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण व्यवहार को ही छुड़ाया है। ऐसी स्थिति में ऐसा विचार आता है कि जब ऐसी बात है तो फिर सन्त लोग एक सम्यक् निश्चय को ही अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में, अपने आत्मस्वरूप में स्थिरता को क्यों धारण नहीं करते? तात्पर्य यह है कि ऐसी स्थिति में सन्तों को तो स्वभाव में ही स्थिर रहना चाहिए, उनके लिए तो एकमात्र यही कर्तव्य है।

इस कलश का अर्थ लिखते हुए पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में कतिपय महत्त्वपूर्ण संकेत दिये हैं; जो इसप्रकार हैं —

प्रथम तो वे 'सन्त' पद का अर्थ सम्यग्दृष्टि जीवराशि करते हैं और दूसरे मिथ्यात्वरूप अध्यवसानभावों को असंख्यात लोकप्रमाण बताते हैं। तीसरे वे व्यवहारभावों को सत्यरूप और असत्यरूप — दो प्रकार के बताते हैं और चौथे वे मिथ्यात्वभावों और व्यवहारभावों को एकवस्तु कहते हैं।

कलश टीका के इन्हीं कथनों को आधार बनाकर कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने इस कलश का जो भावानुवाद किया है, वह इसप्रकार है —

(सवैया इकतीसा)

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं ।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक् दरस भयौ,
ते नियत-लीन विवहार सौं मुकत हैं ॥
निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथ कौं ढुकत हैं ।
तेई जीव परम दसा मैं थिररूप ह्वैकै,
धरम मैं धुके न करम सौं रुकत हैं ॥

केवली भगवान ने कहा है कि असंख्यात लोकप्रमाण जो मिथ्यात्वभाव हैं, वे ही व्यवहारभाव हैं। इसलिए जिन जीवों का मिथ्यात्वभाव चला गया है और जिन्हें सम्यग्दर्शन हो गया है; वे जीव निश्चय में लीन रहते हैं और व्यवहार से मुक्त हो गये हैं, व्यवहारातीत हो गये हैं। ऐसे जीव निर्विकल्प निरुपाधि आत्मसमाधि को साधकर सगुण मोक्षमार्ग में तेजी से बढ़ते हैं और परमदशा में स्थिर होकर धर्ममार्ग में तेजी से बढ़ते हुये मुक्ति को प्राप्त करते हैं; कर्मों के रोके रुकते नहीं हैं।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का कथन इसप्रकार है —

"अहा! सर्वज्ञ परमात्मा ने इन्द्रों, मुनिवरों व गणधरों की उपस्थिति में समवशरण में ऐसा समझाया था कि अपने आत्मा के सिवाय जितने भी पदार्थ हैं, जिनमें अरहंत भगवान स्वयं शामिल हैं — उन समस्त पदार्थों में अपनेपन का अध्यवसान करना तथा ऐसा मानना कि 'ये सब मेरे हैं व इनसे मुझे लाभ या हानि होती है, मैं इनका या ये मेरा भला-बुरा कर सकते हैं' — ये मिथ्या अध्यवसान चारगति में रखड़ने के बीजरूप हैं, अत: छोड़ने योग्य हैं।[१]

प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्दसहित स्वरूप में केलि करनेवाले आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि जब भगवान ने परवस्तुओं में एकत्वबुद्धि के सभी अध्यवसान छुड़ाये हैं तो इसका अर्थ यह है कि पर जिसका आश्रय है — ऐसा सब ही व्यवहार छुड़ाया है।[२]

यहाँ दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र की भेदरूप श्रद्धा का विकल्प — यह सब पराश्रित व्यवहार है; क्योंकि इन परिणामों में पर के आश्रय का सम्बन्ध है, स्व का सम्बन्ध नहीं है।[३]

बापू! ये देव मेरे, ये गुरु मेरे — ऐसा अध्यवसाय भी सर्वज्ञदेव ने छोड़ने योग्य कहा है।

बारह अंग का सार इस कलश में भर दिया है। आचार्यदेव की गजब शैली है। इस कलश में तो मुक्ति का मार्ग खुल्लमखुल्ला जाहिर कर दिया है। वे कहते

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १८३
२. वही, पृष्ठ १८३
३. वही, पृष्ठ १८४

हैं कि परपदार्थ की एकत्वबुद्धि जिसतरह भगवान ने छुड़ाई है, उसीतरह पर के आश्रय से होनेवाले सभी व्यवहारभावों को भी छुड़ाया है। जिसप्रकार पर में एकत्वबुद्धि छोड़ने योग्य ही है; उसीप्रकार व्रत, तप, शील, संयम के बाह्य परिणाम, २८ मूलगुणों के विकल्प तथा पंचमहाव्रत आदि के परिणाम — सभी पराश्रित होने से छोड़ने योग्य ही हैं, भूमिकानुसार छूटते ही हैं।[१]"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि सभी प्रकार का व्यवहार कथन असत्यार्थ है और उसके आश्रय से मुक्ति की प्राप्ति नहीं की जा सकती है।

यद्यपि व्यवहारनय भी परमार्थ का ही प्रतिपादन करता है और उसकी उपयोगिता भी है; तथापि उसकी विषयभूत वस्तु के आश्रय से कर्म नहीं कटते हैं; अपितु उसे हूबहू सर्वथा सत्य मान लेने पर मिथ्यात्व होता है। यही कारण है कि यहाँ सभी प्रकार के व्यवहार को त्यागने का उपदेश दिया गया है।

व्यवहारनय की हेयोपादेयता और उपयोगिता के बारे में विस्तृत जानकारी लेखक की अन्य कृति परमभावप्रकाशक नयचक्र से की जा सकती है। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १८४-१८५

जिनकी होनहार ही खोटी होती है, उन्हें असत्कर्म से कोई भी विरत नहीं कर सकता; क्योंकि उनकी बुद्धि भी तो वैसी ही हो जाती है, जैसी कि उनकी होनहार होती है। उन्हें सलाह देनेवाले भी वैसे ही मिल जाते हैं। मिल क्या जाते हैं; वैसी ही सलाह देनेवालों के पास वे स्वयं जाते हैं, यदि कोई सही सलाह देवे भी तो वे उसकी मानना तो बहुत दूर, सुनते भी नहीं हैं।

वस्तुतः बात यह है कि जो कार्य होना होता है, उसके लिए सम्पूर्ण कारण भी वैसे ही सहज मिल जाते हैं। इसप्रकार वह कार्य सम्पन्न हो के ही रहता है। — **सत्य की खोज**, पृष्ठ १९२

समयसार गाथा २७२

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब वही बात इस २७२वीं गाथा में कह रहे हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है —

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ २७२ ॥

(हरिगीत)

इस तरह ही परमार्थ से कर नास्ति इस व्यवहार की ।
निश्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ती करें निर्वाण की ॥ २७२ ॥

इसप्रकार व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जानो तथा निश्चयनय के आश्रित मुनिराज निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"आत्माश्रित निश्चयनय है और पराश्रित व्यवहारनय। बंध का कारण होने से पराश्रित समस्त अध्यवसानों को मुमुक्षुओं के लिए निषेध करते हुए आचार्यदेव ने पराश्रितता की समानता होने से निश्चयनय से एकप्रकार से समस्त व्यवहार का ही निषेध कर दिया है।

इसप्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि मुक्ति तो आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय करनेवालों को ही प्राप्त होती है तथा पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकान्तत: मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य भी करता है।"

इस बात को पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"आत्मा के पर के निमित्त से जो अनेकभाव होते हैं, वे सब व्यवहारनय के विषय हैं; इसलिये व्यवहारनय पराश्रित है और जो एक अपना स्वाभाविकभाव है, वही निश्चयनय का विषय है; इसलिये निश्चयनय आत्माश्रित है। अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है; इसलिये अध्यवसान का त्याग व्यवहारनय का

ही त्याग है और जो पूर्वोक्त गाथाओं में अध्यवसान के त्याग का उपदेश है, वह व्यवहारनय के ही त्याग का उपदेश है। इसप्रकार निश्चयनय को प्रधान करके व्यवहारनय के त्याग का जो उपदेश किया है; उसका कारण यह है कि जो निश्चयनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे ही कर्मों से मुक्त होते हैं और जो एकान्त से व्यवहारनय के ही आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे कर्मों से कभी मुक्त नहीं होते।"

यद्यपि आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का अर्थ आत्मख्याति के अनुसार ही किया है; तथापि किंच कहकर मात्र इतना और जोड़ दिया है कि यद्यपि प्राथमिक अपेक्षा से प्रारंभिक सविकल्प अवस्था में निश्चय का साधक होने से व्यवहारनय प्रयोजनवान है; तथापि विशुद्ध ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले शुद्धात्मा में स्थित होनेवालों को निष्प्रयोजन ही है — यह भावार्थ है।

इस गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार खोलते हैं —

"यहाँ स्वाश्रित में 'स्व' का अर्थ त्रिकाली द्रव्यस्वभाव किया गया है। इसप्रकार स्वाश्रित का अर्थ हुआ त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकभाव के आश्रित। यहाँ 'स्व' में द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे तीन भेद नहीं लेना है।

वैसे देखा जाय तो द्रव्य-गुण-पर्याय रूप तीनों के अस्तित्व को 'स्व' का अस्तित्व कहा जाता है; परन्तु यहाँ 'स्व' में तीन को ग्रहण नहीं किया गया है। यहाँ तो 'मुख्य निश्चय और गौण व्यवहार' के सिद्धान्तानुसार एकरूप वस्तु को मुख्य करके तथा एकसमय की अवस्था को गौण करके पर्यायभेद का भी निषेध किया है। यहाँ अभेद एक शुद्धनिश्चयनय की विषयभूत वस्तु का लक्ष्य कराने के लिए त्रिकाली एक ज्ञायकस्वभावभाव को 'स्व' कहा है।

जिस अभेद एक ध्रुववस्तु में कर्म नहीं हैं, पुण्य-पाप के भाव नहीं हैं, एक समय की पर्याय व पर्यायभेद नहीं हैं तथा गुणभेद भी नहीं है — ऐसा अखण्ड अभेद एकरूप स्वभाव-ज्ञायकभाव निश्चयनय का विषय है। ऐसे 'स्व' का आश्रय करनेवालों को ही समकित होता है।[१]

देखो, यहाँ पराश्रित व्यवहार के दो भेद कर दिये हैं। पहले स्थूल पराश्रित स्व-पर की एकतारूप व्यवहार दूसरा राग एवं भेदरूप व्यवहार। यहाँ दोनों का

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १९३

निषेध किया और अब यहाँ कहते हैं कि पूर्वोक्त रीति से पराश्रित समस्त अध्यवसान बंध के कारण होने से उनका निषेध करनेवाले निश्चयनय से व्यवहारनय का ही निषेध कर दिया है; क्योंकि व्यवहारनय को भी पराश्रितपना समान ही है।

अरे भाई! जिससे लाभ हो, उसका निषेध कोई क्यों करेगा? सभी प्रकार का शुभभाव पराश्रित होने से बंध का ही कारण है, इसीलिए वह निषिद्ध है।

प्रश्न : तो क्या धर्मी के शुभभाव होते ही नहीं हैं?

उत्तर : हाँ, होते हैं, तभी तो इनका निषेध किया गया है। यदि होते ही न हों तो निषेध ही क्यों करते? आत्मज्ञानी प्रचुर आनन्द में झूलनेवाले सच्चे भावलिंगी मुनिराजों को भी पाँच महाव्रतादि के विकल्प आते हैं, परन्तु उनमें मुनिराजों की हेयबुद्धि ही होती है। उन्हें वे बंध का कारण ही जानते हैं तथा शुद्धनिश्चय के उग्र आश्रय द्वारा वे उनका निषेध भी कर देते हैं। समकिती के भी जो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग होता है, वह भी पराश्रित होने से उसका निषेध किया गया है।[१]

जिसप्रकार पर में एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसान पराश्रित है, उसीप्रकार व्यवहारनय भी पराश्रित है। जिसप्रकार अध्यवसान बंध के कारण हैं, उसीप्रकार पर के आश्रय से हुए व्यवहार के शुभभाव भी बंध के कारण हैं। दोनों में पराश्रितपना समान ही है। इसप्रकार व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है।

प्रश्न : आप ऐसा कहोगे तो लोग शुभ को छोड़कर अशुभ में चले जायेंगे।

उत्तर : जो शुभ को भी छोड़ने लायक मानता है — ऐसे समयसार के श्रोता द्वारा इतनी मोटी भूल करना संभव नहीं है। फिर भी यदि कोई ऐसी भूल करता है तो उससे पूछते हैं कि तूने पहले अशुभ को छोड़ने लायक माना था कि नहीं? भाई जो शुभ भी छोड़ने लायक मानता है वह तो स्व का आश्रय करके शुद्ध में जाने का प्रयत्न करता है, अशुभ में जाने का नहीं।[२]

देखो, नय दो हैं और उनके विषय भी भिन्न-भिन्न हैं। व्यवहारनय का विषय राग है, जो बंध का कारण है तथा निश्चयनय का विषय त्रिकाली एक

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १९५

२. वही, पृष्ठ १९६

ज्ञायकमात्र आत्मा है, जो मुक्ति का कारण है। अत: निश्चयनय के विषयभूत 'स्व' का आश्रय लो और व्यवहारनय के विषयभूत 'पर' का आश्रय छोड़ो — ऐसा भगवान कहते हैं।[१]

यदि कोई इसे एकान्त माने या कहे, तो यह उसका भ्रम है। स्वाश्रय से मुक्ति होती है तथा पराश्रय से नहीं होती। यही अटल सिद्धान्त है।[२]"

इस गाथा में व्यवहारनय को हेय और निश्चयनय को उपादेय सिद्ध किया गया है; क्योंकि व्यवहार का विषय परवस्तु और भेद है और निश्चयनय का विषय अभेद अखण्ड ज्ञायकस्वभावी निजात्मा है।

व्यवहार को हेय बताते हुए एक बात तो यह कही गई है कि पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अध्यवसान ही बंध के कारण हैं — यह बात सुनिश्चित हो जाने पर यह स्वत: ही सुनिश्चित हो जाता है कि व्यवहारनय भी पराश्रित होने के कारण अध्यवसान के समान ही बंध का कारण है; क्योंकि पराश्रयपना दोनों में समानरूप से विद्यमान है।

दूसरी बात यह कही गई है कि निश्चय का आश्रय लेनेवालों को ही मुक्ति की प्राप्ति होती है; क्योंकि व्यवहारनय जिन क्रियाकाण्डों और शुभभावों को धर्म कहता है; वे सब तो अभव्यों के भी हो जाते हैं, होते देखे जाते हैं।

उक्त दोनों कारणों से सहज ही सिद्ध हो जाता है कि पराश्रित होने से व्यवहारनय हेय है और आत्माश्रित होने से निश्चयनय उपादेय है। •

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ १९७
२. वही, पृष्ठ १९७

नयों का पक्ष छुड़ाया है, निश्चयनय का विषयभूत अर्थ नहीं। व्यवहारनय का मात्र पक्ष ही नहीं, विषयभूत अर्थ भी छोड़ने योग्य है; पर निश्चयनय का मात्र पक्ष छोड़ना है, उसके विषयभूत अर्थ को तो ग्रहण करना है।

— तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १६२

समयसार गाथा २७३-२७५

विगत गाथा की टीका में कहा गया है कि व्यवहारनय का आश्रय तो अभव्य भी करता है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि अभव्य के व्यवहारनय का आश्रय किसप्रकार होता है, ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक का ज्ञान हो जाने पर भी उसे अज्ञानी क्यों कहा जाता है और उसका श्रद्धान सच्चा क्यों नहीं है?

इन प्रश्नों के उत्तर में ही आगामी गाथाएँ लिखी गई हैं, जो इसप्रकार हैं —

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु॥ २७३॥
मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु॥ २७४॥
सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥ २७५॥

(हरिगीत)

व्रत-समिति-गुप्ती-शील-तप आदिक सभी जिनवरकथित।
करते हुए भी अभव्यजन अज्ञानि मिथ्यादृष्टि हैं॥ २७३॥
मोक्ष के श्रद्धान बिन सब शास्त्र पढ़कर भी अभवि।
को पाठ गुण करता नहीं है ज्ञान के श्रद्धान बिन॥ २७४॥
अभव्यजन श्रद्धा करें रुचि धरें अर रच-पच रहें।
जो धर्म भोग निमित्त हैं न कर्मक्षय में निमित्त जो॥ २७५॥

जिनवरदेव के द्वारा कहे गये व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप करते हुए भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

मोक्ष की श्रद्धा से रहित वह अभव्यजीव यद्यपि शास्त्रों को पढ़ता है; तथापि ज्ञान की श्रद्धा से रहित उसको शास्त्रपठन गुण नहीं करता। तात्पर्य यह है कि शास्त्रपठन से उसे असली लाभ प्राप्त नहीं होता।

वह अभव्यजीव भोग के निमित्तरूप धर्म की ही श्रद्धा करता है, उसकी ही प्रतीति करता है, उसी की रुचि करता है और उसी का स्पर्श करता है; किन्तु कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म की वह न तो श्रद्धा करता है, न रुचि करता है, न प्रतीति करता है और न वह उसका स्पर्श ही करता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"शील और तप से परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियों में सावधान, अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र का पालन अभव्य भी करता है; तथापि वह अभव्य चारित्र रहित अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है; क्योंकि वह निश्चयचारित्र के कारणभूत ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है।

प्रथम तो वह अभव्यजीव शुद्धज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण मोक्ष की ही श्रद्धा नहीं करता; इसलिए वह ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं करता। ज्ञान की श्रद्धा न करता हुआ वह अभव्य आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप श्रुत (शास्त्रों) को पढ़ता हुआ भी शास्त्रपठन के गुण को प्राप्त नहीं होता और इसीकारण ज्ञानी भी नहीं है।

भिन्नवस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान ही शास्त्रपठन का असली गुण है। ऐसा गुण शास्त्रपठन के द्वारा अभव्य को प्रगट नहीं हो सकता; क्योंकि वह भिन्न वस्तुभूत ज्ञान की श्रद्धा से रहित है। तात्पर्य यह है कि अभव्य को भिन्नवस्तुभूत आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान नहीं हो सकता; इसलिए उसके शास्त्रपठन के गुण का अभाव है। इसीकारण वह अज्ञानी है।

सदा ही भेदविज्ञान के अयोग्य होने से अभव्यजीव कर्मफलचेतनारूप वस्तु की ही नित्य श्रद्धा करता है, ज्ञानचेतनामात्र वस्तु की श्रद्धा कभी नहीं करता। इसीकारण वह कर्मों से छूटने के निमित्तरूप ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्म की श्रद्धा नहीं करता; अपितु भोग के निमित्तरूप शुभकर्ममात्र अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा करता है। इसीलिए वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन से अन्तिम ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है; किन्तु कर्मों से कभी भी मुक्त नहीं होता। इसलिए उसे भूतार्थ धर्म के श्रद्धान के अभाव से सत्य श्रद्धान भी नहीं है।

ऐसा होने पर निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय निषेध योग्य ही है।"

इन गाथाओं का भाव आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में लगभग इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं।

पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भी भावार्थ में कुछ विशेष नहीं लिखते; तथापि उनके भावार्थ में जो बात उल्लेखनीय है, वह इसप्रकार है —

"यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि यह हेतुवादरूप अनुभवप्रदान ग्रन्थ है; इसलिये इसमें अनुभव की अपेक्षा से भव्य-अभव्य का निर्णय है। अब यदि इसे अहेतुवाद आगम के साथ मिलायें तो अभव्य को व्यवहारनय के पक्ष का सूक्ष्म, केवलीगम्य आशय रह जाता है जो कि छद्मस्थ का अनुभवगोचर नहीं भी होता, मात्र सर्वज्ञदेव जानते हैं; इसप्रकार केवल व्यवहार का पक्ष रहने से उसके सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यात्व रहता है। इस व्यवहारनय के पक्ष का आशय अभव्य के सर्वथा कभी भी मिटता ही नहीं है।"

उक्त कथन का आशय यह है कि यहाँ अध्यात्म शास्त्र में बुद्धिगम्य कथन की अपेक्षा बात स्पष्ट की गई है; तथापि करणानुयोग की अपेक्षा विचार करें तो नववें ग्रैवेयक तक जानेवाले अभव्य द्रव्यलिंगी की भूल केवलज्ञानगम्य ही होती है, क्षयोपशम ज्ञानवाले की पकड़ में नहीं आती; किन्तु ज्ञानी इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि उस अभव्य द्रव्यलिंगी मुनि की भूल लगभग उसीप्रकार की होती है, जिसप्रकार की ऊपर बताई गई है।

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं —

"देखो! यहाँ उन अभव्यों का उदाहरण देकर समझा रहे हैं, जो वीतराग परमेश्वर भगवान जिनेश्वरदेव द्वारा कहे गये शील-तप को परिपूर्णरूप से पालते हैं, फिर भी उन्हें धर्म नहीं होता; क्योंकि वे व्यवहार व्रत, तप आदि एकान्ततः पराश्रित राग के परिणमन हैं। राग से वीतराग धर्म नहीं होता।

वे ग्यारह अंग व नव पूर्व तक श्रुत को कंठस्थ कर लें; परन्तु वह सब भी राग है, विकल्प है, व्यवहार है, बंध का कारण है। भगवान के द्वारा निरूपित व्यवहारध्यान भी अभव्य ने अनन्तबार किया, पर विकल्परहित आत्मा का निर्विकल्पध्यान न होने से धर्मलाभ नहीं हुआ। और तो ठीक, अभव्य कायोत्सर्ग

में महीना-महीना तक बिम्ब की भाँति स्थिर होकर खड़ा रहा; परन्तु पराश्रित राग की क्रिया होने से धर्मलाभ नहीं होता।

निश्चयचारित्र तो एक ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा के श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक अन्तर में रमणता-लीनता करने से होता है। बाह्य में अकेली काया की क्रिया से कुछ नहीं होता।[१]

आचार्यदेव पुकार-पुकार कर कहते हैं कि अभव्य भी अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र पालते हैं, परन्तु मात्र इतने से उनके अनन्त भवों में से एक भव भी कम नहीं होता; क्योंकि महाव्रतादि की सम्पूर्ण व्यवहार क्रियाएँ अनात्मरूप हैं। अनात्मरूप क्रियाओं से आत्मधर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है?[२]

पंचाध्यायी में आता है कि शास्त्र पढ़कर जो श्रद्धा की, वह श्रद्धा ही नहीं है। जिसमें शुद्धज्ञानमय आत्मवस्तु प्राप्त न हो, वह ज्ञान भी ज्ञान ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान की पर्याय में आत्मा की प्राप्ति न हुई हो, वह ज्ञान भले ही ग्यारह अंग तक का भी क्यों न हो, तो भी वह ज्ञान नहीं है, वह तो मात्र शब्दजाल है, कोरा शाब्दिकज्ञान है। कहा भी है —

'आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान'*

भगवान! तू एकबार सुन तो सही। जिसे अपने शुद्ध ज्ञानमयस्वभाव का पता नहीं, स्वानुभव नहीं; मात्र शास्त्राधार से शब्दज्ञान है, वह वस्तुत: ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि वह सब तो परलक्ष्यी ज्ञान है।[३]

आचार्य कहते हैं कि शास्त्रज्ञान का यथार्थ लाभ तो यह है कि जीव स्वयं को भिन्नवस्तुभूत अनुभव करे। अपने आत्मा को शरीरादि परद्रव्य से भिन्न, देव-शास्त्र-गुरु से भिन्न, द्रव्यकर्म-भावकर्म से भिन्न तथा नोकर्म से भी भिन्न मात्र ज्ञानप्रकाश का पुंज शुद्ध ज्ञानमय जाने-माने और वैसा ही अनुभव करे।

अभव्य का तो उदाहरण दिया है, पर यहाँ सामान्यतया सिद्ध यह करना है कि भगवान जिनवर के द्वारा निरूपित बाह्याचाररूप, व्रत, तप आदि को धर्म

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २००-२०१
२. वही, पृष्ठ २०३
३. वही, पृष्ठ २०८-२०९

* डॉ. भारिल्ल : वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका : मंगलाचरण

कहना उपचारमात्र है। आत्मज्ञान शून्य होने से उन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता। वे धर्म तो हैं ही नहीं, धर्म के कारण भी नहीं हैं। यह बात गाथा २७३ में भी आ गई है। वहाँ कहा है कि अभव्य जीव ने शील, तप आदि परिपूर्ण रीति से पाले, समिति-गुप्ति की क्रियायें सावधानपने की और महाव्रतादि अनन्तबार पाले। इसप्रकार भगवान के द्वारा प्रतिपादित व्यवहारचारित्र के भाव अनन्तबार प्रगट किये; तथापि वे अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि व अचारित्रवंत ही हैं। अत: शास्त्रज्ञान या पांडित्यप्रदर्शन के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास न करके शुद्धचिदानन्दघन प्रभु आत्मा को समझने एवं प्राप्त करने के लक्ष्य से शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए।[१]

पंचास्तिकाय में तो यह कहा है कि भिन्नवस्तुभूत शुद्धज्ञानमय आत्मा का ज्ञान ही शास्त्रज्ञान का सुफल है। तथा पाण्डे राजमलजी ने १३वें कलश में यह कहा है कि बारह अंग का ज्ञान भी विकल्प है। श्रुत में भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है अर्थात् द्वादशांग का सार मात्र आत्मानुभूति ही है। चारों ओर जहाँ भी देखो, सब ओर एक ही बात है कि आत्मा स्वयं चिदानन्दस्वरूप है। उसका ज्ञान-श्रद्धान करके उसी में ठहर जा। उसी के स्वाद में तृप्त हो जा; परन्तु शुभक्रिया के पक्षवालों को यह बात कैसे बैठे? एक आत्मा के बिना अभव्य बाह्यक्रियायें कर-कर के मर-पच गया, फिर भी संसार परिभ्रमण में एकभव भी कम नहीं हुआ। भाई! बात बहुत गंभीर है, सूक्ष्म है; अपरिचितजनों को कठिन भी पड़ती है, पर समझने जैसी है।[२]

यहाँ अभव्य को तो मात्र उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। वैसे देखा जाय तो अभव्य की भाँति भव्यजीवों ने भी यह सब अनन्तबार किया है। दिगम्बर जैनसाधु होकर अनन्तबार नवें ग्रैवेयक तक गया, पर आत्मज्ञान नहीं हुआ, अत: लेशमात्र भी सच्चा सुख नहीं मिला; क्योंकि वह मिथ्यादृष्टि ही रहा। इसकारण वहाँ भी नित्यकर्मफलचेतना का ही अनुभव करता रहा; नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं की।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २०९-२१०
२. वही, पृष्ठ २११
३. वही, पृष्ठ २१५

यहाँ 'भूतार्थ' से त्रिकाली द्रव्य ग्रहण नहीं करना; किन्तु भूतार्थ भगवान आत्मा के आश्रय से जो आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान प्रगट होता है; उसे भूतार्थ धर्म कहा। अभव्य जीव इस भूतार्थ धर्म की तो श्रद्धा नहीं करता। वह तो भोग के निमित्तरूप शुभकर्ममात्र अभूतार्थ धर्म का ही श्रद्धान करता है।

देखो, शुद्ध चैतन्यघन आत्मा के आश्रय से जो ज्ञानमात्र परिणाम उत्पन्न होता है, वह कर्म से अर्थात् संसार से छूटने में निमित्त है; इसकारण उसे भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ धर्म कहा। तथा जो पर के आश्रय से शुभकर्ममात्र परिणाम होता है, वह बंध में एवं भोग में निमित्त है; इसकारण वह अभूतार्थ है — ऐसा कहा। यहाँ यह कहते हैं कि अभव्य जीव शुभकर्मरूप मात्र अभूतार्थ धर्म का ही श्रद्धान करता है, सत्यार्थ धर्म का तो वह श्रद्धान करता ही नहीं है।[१]"

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जैनशास्त्रों का अध्ययन-मनन करके जैनागम में निरूपित व्रत-शील-संयमादि का यथासंभव निर्दोष पालन करता हुआ भी अभव्यजीव अज्ञानी ही रहता है, मिथ्यादृष्टि ही रहता है; उसे न तो जैनागम के अभ्यास का आत्मज्ञानरूप वास्तविक लाभ ही प्राप्त होता है और न उसके व्रत-शील-संयम सम्यक्चारित्ररूप ही होते हैं। उसका सम्पूर्ण धर्माचरण भोगों का ही हेतु होता है, मुक्ति का हेतु नहीं; क्योंकि न तो वह परमागम के मर्म को ही समझ पाता है और न वह शुभभावरूप पुण्यकर्म से ऊपर ही उठ पाता है।

वस्तुत: बात यह है कि वह वास्तविक सुख को जानता ही नहीं है, पहिचानता ही नहीं है; वह तो सांसारिक सुख को ही सुख जानता-मानता है और पुरुषार्थ भी उसी के लिए करता है। यही कारण है कि वह शुभभावरूप पुण्यकर्म से ऊपर नहीं उठ पाता है।

इसी कारण अज्ञानी के धर्म को भोगों का निमित्त कहा गया है। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २१६-२१७

समयसार गाथा २७६-२७७

अब आगामी गाथाओं में 'व्यवहारनय निषेध्य है और निश्चयनय निषेधक' — यह स्पष्ट करने के लिए निश्चय-व्यवहार नयों का स्वरूप स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है —

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवणिकं च तहा भणदि चरित्तं तु ववहारो ॥ २७६ ॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥ २७७ ॥

(हरिगीत)

जीवादि का श्रद्धान दर्शन शास्त्र-अध्ययन ज्ञान है ।
चारित्र है षट्काय रक्षा — यह कथन व्यवहार है॥ २७६ ॥
निज आतमा ही ज्ञान है दर्शन चरित भी आतमा ।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी है आतमा ॥ २७७ ॥

आचारांगादि शास्त्र ज्ञान है, जीवादि तत्त्व दर्शन है और छह जीवनिकाय चारित्र है — ऐसा व्यवहारनय कहता है।

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन है, मेरा आत्मा ही चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है और मेरा आत्मा ही संवर व योग है।

तात्पर्य यह है कि आचारांगादि शास्त्रों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, जीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है और छह प्रकार के जीव निकायों की दया पालना ही सम्यक्चारित्र है — ऐसा व्यवहारनय कहता है; किन्तु निश्चयनय के अनुसार आत्मज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मदर्शन ही सम्यग्दर्शन है और आत्मरमणता ही सम्यक्चारित्र है और यही आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान व आत्मरमणता प्रत्याख्यान है, संवर है, योग है, समाधि है, आत्मध्यान है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"ज्ञान का आश्रय होने से आचारांगादि शब्दश्रुत (शास्त्र) ज्ञान है, दर्शन के आश्रय होने से जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं और चारित्र के आश्रय होने से जीवादि छह निकाय चारित्र हैं — यह व्यवहारनय का कथन है।

ज्ञान का आश्रय होने से शुद्धात्मा ही ज्ञान है, दर्शन का आश्रय होने से शुद्धात्मा ही दर्शन है और चारित्र का आश्रय होने से शुद्धात्मा ही चारित्र है — यह निश्चयनय का कथन है।

इनमें आचारांगादि को ज्ञानादि का आश्रयत्व अनेकान्तिक है, अनेकान्तिक हेत्वाभास है, व्यभिचार नामक दोष से संयुक्त है। इसलिए व्यवहारनय प्रतिषेध्य है, निषेध करने योग्य है और निश्चयनय व्यवहारनय का प्रतिषेधक है; क्योंकि शुद्धात्मा को ज्ञानादि का आश्रयत्व ऐकान्तिक है। तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मा को ज्ञानादि के आश्रयत्व में अनेकान्तिक हेत्वाभास नहीं है, व्यभिचार नामक दोष नहीं है; क्योंकि शुद्धात्मा के आश्रय से ज्ञान-दर्शन-चारित्र होते ही हैं।

अब इसी बात को हेतुपूर्वक विस्तार से समझाते हैं —

आचारांगादि शब्दश्रुत (शास्त्र) एकान्त (नियम) से ज्ञान के आश्रय नहीं हैं; क्योंकि शब्दश्रुत के ज्ञान के सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्धात्मा के ज्ञान का अभाव होने से सम्यग्ज्ञान का अभाव है। इसीप्रकार जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं; क्योंकि उनके दर्शन (श्रद्धान) के सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्धात्मा के दर्शन का अभाव होने से सम्यग्दर्शन का अभाव है तथा छह प्रकार के जीवनिकाय भी चारित्र के आश्रय नहीं है; क्योंकि उनके प्रति करुणाभाव के सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्धात्मा के रमण का अभाव होने से सम्यक्चारित्र का अभाव है।

शुद्धात्मा ही ज्ञान का आश्रय है; क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुत के ज्ञान के सद्भाव में या असद्भाव में शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव से सम्यग्ज्ञान का सद्भाव है। इसीप्रकार शुद्धात्मा ही दर्शन का आश्रय है; क्योंकि जीवादि नवपदार्थों के श्रद्धान के सद्भाव में असद्भाव में शुद्धात्मा के दर्शन (श्रद्धान) के सद्भाव से सम्यग्दर्शन का सद्भाव है। तथा शुद्धात्मा ही चारित्र का आश्रय

है; क्योंकि छहकाय के जीवों की करुणा के सद्भाव में या असद्भाव में शुद्धात्मा की रमणता के सद्भाव से चारित्र का सद्भाव है।''

इसप्रकार आत्मख्याति में न्यायशास्त्र की पद्धति से तर्क की कसौटी पर कसकर यह सिद्ध किया गया है कि आचारांगादि शब्दश्रुत के ज्ञानरूप व्यवहारज्ञान, नव तत्त्वार्थ के श्रद्धानरूप व्यवहारश्रद्धान और छहकाय के जीवों की रक्षारूप व्यवहारचारित्र वास्तविक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं; किन्तु आत्मज्ञानरूप निश्चयज्ञान, आत्मदर्शनरूप निश्चयदर्शन और आत्मस्थिरतारूप निश्चयचारित्र ही वास्तविक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र है और इन तीनों की एकता ही वास्तविक मोक्षमार्ग है। यही कारण है कि व्यवहारनय निषेध करने योग्य है और निश्चयनय उसका निषेध करनेवाला है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित होता है कि व्यवहारनय और निश्चयनय में परस्पर निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध है।

इसी बात को अत्यन्त संक्षेप में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

''आचारांगादि शब्दश्रुत का ज्ञान, जीवादि नवपदार्थों का श्रद्धान तथा छह काय के जीवों की रक्षा — इन सबके होते हुए भी अभव्य के ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होते, इसलिये व्यवहारनय तो निषेध्य है और जहाँ शुद्धात्मा होता है; वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र होता ही है; इसलिये निश्चयनय व्यवहार का निषेधक है। अतः शुद्धनय उपादेय कहा गया है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में उक्त गाथाओं के भाव को आगम और परमागम (अध्यात्म) के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हैं। उनके कथन का भाव कुछ इसप्रकार है —

आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और जिनागम कथित आचरण का पालन करते हुए भी अभव्यों और मिथ्यादृष्टि भव्यों को मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृतियों के उपशमादि न होने से और आत्माभिमुख परिणमन न होने से, आत्मानुभूति न होने से सच्चा मोक्षमार्ग व मोक्ष नहीं होता। कर्मप्रकृतियों के उपशमादि के

अभाव की बात कर के वे आगम के कथन को स्पष्ट करते हैं और आत्माभिमुख परिणाम न होने की बात कर के अध्यात्म शैली के कथन को स्पष्ट करते हैं।

उक्त गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

''देखो, यहाँ 'आचारांगादि' शब्द से वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत दिगम्बर जैनदर्शन के आचारांग आदि शास्त्रों को निमित्तरूप में लिया गया है। कहा है कि आचारांगादि शास्त्रों का ज्ञान शब्दश्रुत है, अत: व्यवहारज्ञान है और निषेध्य है; क्योंकि वे आचारांगादि व्यवहारज्ञान के आश्रय हैं। जिस ज्ञान की पर्याय में भगवान आत्मा आश्रयभूत या निमित्त न होकर 'शब्दश्रुत' निमित्त हो, वह शब्दश्रुतज्ञान व्यवहार है और निषेध करने योग्य है।

जीव, अजीव, आस्रव आदि नवपदार्थ दर्शन हैं, जैसा शब्दश्रुत ज्ञान है वैसा ही जीवादि नवपदार्थ दर्शन हैं; क्योंकि जीवादि भेदरूप नवपदार्थ दर्शन के आश्रय हैं, इसलिए सातत्त्व या नवपदार्थ दर्शन हैं। यह व्यवहार है। यह व्यवहारदर्शन निषेध्य है।[१]

अब कहते हैं कि 'छह जीव निकाय चारित्र है' यह भाषा तो देखो! छहकाय के जीवों का समूह चारित्र है। — ऐसा कह रहे हैं। यहाँ पाँच महाव्रतादि के विकल्परूप व्यवहारचारित्र की बात है।

प्रश्न : फिर भी 'छहनिकाय' को चारित्र क्यों कहा?

उत्तर : ये व्यवहारचारित्र के जो विकल्प हैं न! इनका आश्रय छहजीवनिकाय है; अत: पाँच महाव्रत के परिणामों को चारित्र न कहकर इन परिणामों में जो छहनिकाय निमित्त हैं, उन छहजीवनिकाय को ही चारित्र कह दिया है।[२]

आचारांगादि शब्दश्रुतज्ञान को व्यवहार व आत्मज्ञान को निश्चय कहने का तात्पर्य यह है कि आचारांगादि व्यवहारज्ञान में शब्दश्रुत निमित्त है। उस आचारांगादि में शब्दश्रुत जानने में आया, पर आत्मा जानने में नहीं आया; इसकारण उसे व्यवहार कहा। तथा सत्यार्थज्ञान में, निश्चयज्ञान में परिपूर्ण भगवान आत्मा जानने में आया; इसकारण इसे निश्चय कहा। शब्दश्रुतज्ञान तो विकल्प है। वास्तविकरूप से देखें तो बंध का कारण है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २२४-२२५

२. वही, पृष्ठ २२५

जो ज्ञान त्रिकाली शुद्ध आत्मा को जानता है, वह यथार्थ ज्ञान है। तथा शुद्ध को जाननेवाले ज्ञान को शुद्ध का आश्रय होता है।[१]

बापू! सम्यग्दर्शन का उपादान तो सम्यग्दर्शन की पर्याय स्वयं है। तथा उसमें निमित्त-आश्रय-हेतु त्रिकाली भगवान शुद्ध आत्मा है। तथा उसमें सम्पूर्ण भगवान आत्मा श्रद्धान में आता है, श्रद्धेय बनता है; इसकारण कहा है कि 'शुद्धात्मा दर्शन है।[२]

अब तीसरा बोल — 'शुद्ध आत्मा चारित्र है' यह इसकारण कहा कि शुद्ध आत्मा चारित्र का आश्रय है। परमपवित्र त्रिकाली एक शुद्ध ज्ञायकभावमय सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा चारित्र का आश्रय है। यह वीतरागभावरूप निश्चयचारित्र है।

पहले तो 'छह जीवनिकाय चारित्र है' — ऐसा जो कहा, वह व्यवहारचारित्र की अपेक्षा कहा; क्योंकि उसका आश्रय भगवान आत्मा नहीं, बल्कि छह जीवनिकाय हैं। वस्तुतः जो वह व्यवहार-चारित्र है, वह विकल्प है, राग है, बंध की पंक्ति में है। जबकि यह जो वीतरागपरिणतिरूप निश्चयचारित्र है, उसका आश्रय-निमित्त स्व-स्वरूप त्रिकाली शुद्ध आत्मा है। वह अबंध है, मोक्ष का कारण है।

जहाँ तक पूर्ण वीतरागता न हो, वहाँ तक व्यवहार के विकल्प आते हैं, पर वे निषेध करने योग्य ही है।[३]

भाई! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है। बापू! अन्दर भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध नित्यानन्दमय एक ज्ञायकभावरूप परमपारिणामिकभाव से नित्य विराजमान है, वह ही सम्यग्दर्शन का विषय व ध्येय है। इस पूर्ण परमात्मा का दर्शन ही जैनदर्शन है।

शुद्ध आत्मा का ज्ञान, शुद्ध आत्मा का दर्शन, शुद्ध आत्मा का चारित्र-शुद्धरत्नत्रय — ये ही मोक्ष का मार्ग है, अतीन्द्रिय सुखरूप आनन्द की दशा है।[४]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २२७
२. वही, पृष्ठ २२९
३. वही, पृष्ठ २२९-२३०
४. वही, पृष्ठ २३२

अरे भाई! जो कुछ करना है, वह सब अंतरंग में ही करना है, अपने आत्मा में ही करना है। और आत्मा में भी क्या करना है, कुछ भी नहीं। मात्र आत्मा को जानना है, उसी का श्रद्धान करना है एवं उसी में स्थिर होना है, जमना है। इसके सिवाय आत्मा में भी कुछ नहीं करना है।

इसीलिए तो कहते हैं कि समस्त ही व्यवहार निषेध करने लायक है; क्योंकि वह सब बंध का ही कारण है।

अहा! जिसके ज्ञान में शुद्धात्मा आ गया, दर्शन में शुद्धात्मा आ गया तथा शुद्धात्मा में ही रमणता हो गई; उसे शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र होता ही है। इसकारण निश्चयनय व्यवहार का निषेधक है और व्यवहारनय निषेध्य है। जब व्यवहारनय निषेध्य ही हो गया तो फिर व्यवहार से निश्चय होता है — यह बात ही कहाँ रही?[१]''

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी ने जो परिभाषा सम्यग्दर्शन की दी है; क्या वह व्यवहारसम्यग्दर्शन की परिभाषा है? रामजी भाई ने तत्त्वार्थसूत्र की टीका में उसे निश्चयसम्यग्दर्शन सिद्ध किया है।

इस प्रश्न का उत्तर स्वामीजी इसप्रकार देते हैं —

''**प्रश्न :** तत्त्वार्थसूत्र में भी तो '**तत्त्वार्थश्रद्धानम्**' तथा '**जीवाजीवास्त्रवबंध**' इन दो सूत्रों में इसीप्रकार कहा है न ?

उत्तर : हाँ, कहा है; परन्तु वहाँ निश्चय समकित की बात है। वहाँ नवभेद कहकर भी एक वचन के प्रयोग द्वारा नवभेदरूप पदार्थों से भिन्न शुद्धनय के बल से प्राप्त अभेद एकरूप ज्ञायकभावमात्र आत्मा के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहकर निश्चयसम्यग्दर्शन की बात कही है।

यहाँ तो नवभेद कहकर नवपदार्थ कहे हैं। एक आत्मा नहीं, बल्कि जीवादि नवपदार्थ दर्शन हैं — ऐसा यहाँ स्पष्ट कहा है। अत: यह व्यवहारदर्शन है, क्योंकि इनका आश्रय (निमित्त) भेदरूप नवपदार्थ है। व्यवहार समकित का विषय, आश्रय, हेतु, आधार, भेदरूप नवपदार्थ हैं। अत: निषेध करने योग्य हैं।[२]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २३७
२. वही, पृष्ठ २२५

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि आगमज्ञानरूप व्यवहारज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धानरूप व्यवहारदर्शन और छह काय के जीवों की रक्षा के पालनरूप व्यवहारचारित्र सच्चे मोक्षमार्ग नहीं हैं; क्योंकि ये तो मिथ्यादृष्टि भव्यों के साथ-साथ अभव्यों के भी हो सकते हैं, नववें ग्रैवेयक तक जानेवाले द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टियों के भी होते ही हैं। इसकारण इन्हें मोक्ष के हेतु कहना अनेकान्तिक दोष से दूषित है।

अनेकान्तिक हेत्वाभास का स्वरूप गाथा २६५ के अनुशीलन में स्पष्ट किया ही है।

सच्चा मोक्षमार्ग तो आत्मज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान, आत्मश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन और आत्मध्यानरूप सम्यक्चारित्र ही है; क्योंकि इनके होने पर नियम से मुक्ति की प्राप्ति होती है और इनके न होने पर मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। अतः यह एक ही सच्चा मोक्षमार्ग है।

इन गाथाओं के बाद आचार्य जयसेन की टीका में चार गाथायें आती हैं; जिनमें दो गाथायें तो आत्मख्याति में आगे २८६ व २८७वीं गाथा के रूप में आने वाली हैं और दो गाथायें आत्मख्याति में है ही नहीं। उक्त चारों गाथाओं का अनुशीलन आगे यथास्थान किया जायेगा।

अब यहाँ आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है —

(उपजाति)

रागादयो बंधनिदानमुक्तास्-
ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त —
मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥ १७४ ॥

(सोरठा)

कहे जिनागम माँहि शुद्धातम से भिन्न जो ।
रागादिक परिणाम कर्मबंध के हेतु वे ॥
यहाँ प्रश्न अब एक उन रागादिक भाव का ।
यह आतम या अन्य कौन हेतु है अब कहैं ॥ १७४ ॥

शुद्धचैतन्यमात्रज्योति से भिन्न रागादिभाव ही बंध के कारण हैं — यह बात तो कह दी गई। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उन रागादिभाव का निमित्त कौन है — अपना आत्मा या कोई अन्य? इसकी चर्चा पुनः आगामी गाथाओं में की जा रही है।

इस कलश में तो मात्र इतनी बात ही कही गई है कि जो रागादिभाव कर्मबंध के हेतु हैं; उनका हेतु (निमित्त) कौन है आत्मा या अन्य पदार्थ? इसका उत्तर आगामी गाथाओं में दिया जायेगा।

इस कलश की भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं —

(कवित्त)

जे जे मोह करम की परनति, बंधनिदान कही तुम सब्ब ।
संतत भिन्न सुद्ध चेतन सौं, तिन्हकौ मूल हेतु कहु अब्ब ॥
कै यह सहज जीव कौ कौतुक, कै निमित्त है पुग्गल दब्ब ।
सीस नवाइ शिष्य इम पूछत, कहै सुगुरु उत्तर सुन भब्ब ॥

गुरुदेव के समक्ष मस्तक नवाकर शिष्य प्रश्न करता है कि जो-जो मोहकर्म की मोह-राग-द्वेषरूप परिणति है; उस सभी को आपने बंध का कारण बताया है। वह मोह-राग-द्वेषरूप परिणति शुद्धात्मा से सदा ही भिन्न है।

हे गुरुदेव! अब आप यह बताइये कि शुद्धात्मा से भिन्न एवं बंध के कारणरूप उस मोह-राग-द्वेष परिणति का मूल हेतु कौन है? क्या यह जीव के सहज कौतुक का परिणाम है या इसमें पुद्गलद्रव्य निमित्त है?

इसप्रकार मस्तक नवाकर शिष्य के द्वारा प्रश्न किये जाने पर श्रीगुरु जो उत्तर देते हैं; हे भव्य जीवों! तुम उसे ध्यान से सुनो।

इसप्रकार इस कलश में मात्र यह प्रश्न ही उपस्थित किया गया है कि मोह-राग-द्वेषरूप भावों का हेतु कौन है; जिसका उत्तर आगामी गाथाओं में दिया जा रहा है। ●

समयसार गाथा २७८-२७९

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥

(हरिगीत)

ज्यों लालिमामय स्वयं परिणत नहीं होता फटिकमणि ।
पर लालिमायुत द्रव्य के संयोग से हो लाल वह ॥ २७८ ॥
त्यों ज्ञानिजन रागादिमय परिणत न होते स्वयं ही ।
रागादि के ही उदय से वे किए जाते रागमय ॥ २७९ ॥

जिसप्रकार स्फटिकमणि शुद्ध होने से रागादिरूप से, लालिमारूप से अपने आप परिणमित नहीं होता; परन्तु अन्य लालिमादि युक्त द्रव्यों से वह लाल किया जाता है; उसीप्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होने से अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता; परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागादि रूप किया जाता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"जिसप्रकार स्वयं परिणमन स्वभाववाला होने पर भी स्फटिकमणि अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण स्वयं में रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप लालिमा आदि रूप परिणमित नहीं होता; अपितु उस परद्रव्य के द्वारा ही शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ लालिमा आदि रूप परिणमित किया जाता है; जो परद्रव्य स्वयं लालिमा आदि रूप होने से स्फटिकमणि की लालिमा में निमित्त होता है।

उसीप्रकार स्वयं परिणमन स्वभाववाला होने पर भी यह शुद्ध आत्मा अपने शुद्धस्वभाव के कारण स्वयं में रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप रागादिरूप परिणमित नहीं होता; अपितु उस परद्रव्य के द्वारा ही शुद्धस्वभाव से

च्युत होता हुआ रागादिरूप परिणमित किया जाता है; जो परद्रव्य स्वयं रागादिरूप होने से आत्मा के रागादिरूप परिणमन में निमित्त होता है। — ऐसा वस्तु का स्वभाव है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार स्फटिकमणि के लाल रंगरूप परिणमन में शुद्धस्वभाववाला स्फटिकमणि स्वयं तो निमित्त हो नहीं सकता, जवापुष्प आदि कोई परद्रव्य ही उसमें निमित्त होता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के रागरूप परिणमन में शुद्धस्वभाववाला भगवान आत्मा स्वयं तो निमित्त हो नहीं सकता, क्रोधादिरूप कोई कर्म का उदय ही उसमें निमित्त होता है।

भाव यह है कि आत्मा का रागादिरूप परिणमन नैमित्तिकभाव है, उपाधिभाव है, कर्मोदयजन्यभाव है, विभावभाव है; स्वभावभाव नहीं।

पण्डित जयचंदजी छाबड़ा इस बात को भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

''स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है; वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप ललाई आदिरूप नहीं परिणमता; किन्तु लाल आदि परद्रव्य के निमित्त से (स्वयं ललाई आदिरूप परिणमते ऐसे परद्रव्य के निमित्त से) ललाई आदिरूप परिणमता है। इसीप्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है; वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु रागादिरूप परद्रव्य के निमित्त से (अर्थात् स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेवाले परद्रव्य के निमित्त से) रागादिरूप परिणमता है। ऐसा वस्तु का ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तर्क को अवकाश नहीं है।''

आचार्य जयसेन भी इस गाथाओं के भाव को इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं।

इन गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार समझाते हैं —

''निमित्त का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए यहाँ यह कहा जा रहा है कि भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु निमित्तकारण के अभाव में अकेला स्वयं राग-द्वेषरूप परिणमन नहीं करता; किन्तु आत्मा जब अपने अशुद्ध उपादान से

स्वयं रागरूप परिणमता है, तब कर्म का रागरूप उदय नियम से निमित्त होता ही है। बस, इसीकारण यह कहा है कि आत्मा परद्रव्य के द्वारा ही रागादिरूप परिणमता है।[१]

पर्याय में विकार स्वद्रव्य के निमित्त से नहीं होता; किन्तु परद्रव्य के निमित्त से होता है; इसलिए परद्रव्य के द्वारा ही रागादिरूप परिणमता है — ऐसा व्यवहार से निमित्त की मुख्यता की अपेक्षा से कहा जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो उस समय जीव को रागादिरूप अवस्था होने का स्वयं का ही जन्मक्षण है, परद्रव्य तो फिर भी निमित्तमात्र ही है। पर ने उसे रागादिरूप परिणमाया नहीं है।

प्रश्न : इस कोरे बौद्धिक व्यायाम में धर्म सम्बन्धी क्या लाभ है? छोड़ो न इन व्यर्थ की बातों को?

उत्तर : अरे भाई! ये व्यर्थ की बातें नहीं हैं, इसकी यथार्थ समझ से ही धर्म होता है। देखो, भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वरूप स्वयं त्रिकाली ध्रुव है। यदि हम अपने उस ध्रुव आत्मा में अपने उपयोग को ले जावें, उस ओर अपनी दृष्टि करें तो वह विकाररूप नहीं होता, किन्तु निर्मल-निर्विकाररूप परिणमित होता है, जो कि साक्षात् धर्म है; परन्तु वर्तमानदशा में हम पर का लक्ष्य करके परिणमित हो रहे हैं, इससे हमारी परिणति रागादिरूप हो रही है। इस समय हमारी स्वयं की योग्यता ही ऐसी है, जो पर का लक्ष्य करके विकारी हो रही है। इसमें पर का या कर्म का कोई दोष नहीं है। फिर भी परलक्ष्यी होने से पर के ऊपर आरोप तो आता ही है, व्यवहार से ऐसा कहा भी जाता है कि पर ने विकार कराया अथवा कर्मोदय से विकार हुआ। परन्तु यह सब उपचार कथन है।[२]''

इसप्रकार इन गाथाओं में मात्र इतना ही कहा गया है कि रागादिभावों की उत्पत्ति में परसंग ही मूल निमित्त कारण है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २४२
२. वही, पृष्ठ २४३.

अब इसी अर्थ का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है —

(उपजाति)

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांतः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १७५ ॥

(सोरठा)

अग्निरूप न होय सूर्यकान्तमणि सूर्य बिन ।
रागरूप न होय यह आतम परसंग बिन ॥ १७५ ॥

जिसप्रकार सूर्यकान्तमणि स्वतः से ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता; उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिंब निमित्त है; उसीप्रकार आत्मा स्वतः से ही रागादिभावरूप नहीं परिणमता; उसके रागादिरूप परिणमन में निमित्त परसंग ही है। वस्तु का ऐसा स्वभाव सदा ही प्रकाशमान है।

उक्त कलश के भाव का स्पष्टीकरण करते हुए कलशटीकाकार कलशटीका में लिखते हैं —

"भावार्थ इसप्रकार है कि द्रव्य के परिणाम का कारण दो प्रकार का है — एक उपादानकारण है, दूसरा निमित्तकारण है।

उपादानकारण द्रव्य के अन्तर्गर्भित है, अपने परिणाम पर्यायरूप परिणमनशक्ति; वह तो जिस द्रव्य की, उसी द्रव्य में होती है — ऐसा निश्चय है।

निमित्तकारण — जिस द्रव्य का संयोग प्राप्त होने से अन्य द्रव्य अपनी पर्यायरूप परिणमता है; वह पर्याय तो जिस द्रव्य की है उस द्रव्य में होती है, अन्य द्रव्यगोचर नहीं होती — ऐसा निश्चय है।

जैसे मिट्टी घट पर्यायरूप परिणमती है, उसका उपादानकारण है मिट्टी में घटरूप परिणमनशक्ति; निमित्तकारण है बाह्यरूप कुम्हार, चक्र, दण्ड इत्यादि; वैसे ही जीवद्रव्य अशुद्ध परिणाम-मोह-राग-द्वेषरूप परिणमता है, उसका उपादानकारण है जीवद्रव्य में अन्तर्गर्भित विभावरूप अशुद्धपरिणमनशक्ति, **तस्मिन् निमित्तं** निमित्त कारण है **परसंग : एव** दर्शनमोह चारित्रमोह कर्मरूप बंध जो जीव के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाहरूप पुद्गल द्रव्य का पिण्ड, उसका उदय।

यद्यपि मोहकर्मरूप पुद्गल पिण्ड का उदय अपने द्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापकरूप है, जीवद्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है; तथापि मोहकर्म का उदय होने पर जीवद्रव्य अपने विभावपरिणामस्वरूप परिणमता है — ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।''

कलशटीका के उक्त कथन में कार्य की उत्पत्ति में उपादानकारण और निमित्तकारण की भूमिका को स्पष्ट किया गया है।

उक्त कलश के भाव को स्पष्ट करने के लिए पण्डित बनारसीदासजी ने दो छन्दों की रचना की है, जिनमें मूल कलश में दिये गये सूर्यकान्तमणि का उदाहरण तो दिया ही है, साथ में नदी के प्रवाह का उदाहरण भी दिया है। प्रथम छन्द में सूर्यकान्तमणि का एवं दूसरे छन्द में नदी के प्रवाह का उदाहरण दिया है।

उक्त दोनों छन्दों में से प्रथम छन्द इसप्रकार है —

(सवैया इकतीसा)

जैसैं नाना बरन पुरी बनाइ दीजै हेठ,
उज्जल विमल मनि सूरज-करांति है।
उज्जलता भासै जब वस्तु कौ विचार कीजै,
पुरी की झलक सौं बरन भाँति भाँति है॥
तैसैं जीव दरब कौं पुग्गल निमित्तरूप,
ताकी ममता सौं मोह मदिरा की भांति है।
भेदग्यान द्रिष्टि सौं सुभाव साधि लीजै तहाँ,
सांची शुद्ध चेतना अवाची सुख शांति है॥

इस छन्द का अर्थ समझने के पहिले एक बात स्पष्ट कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि सूर्यकान्तमणि उसे कहते हैं कि जिस पर सूर्य की किरणें पड़ने पर वह गर्म हो जाता है, एकदम लाल सुर्ख हो जाता है, आग उगलने लगता है और स्फटिकमणि वह है, जो स्वयं तो एक निर्मल स्वच्छ पारदर्शी होता है; किन्तु उसमें जिस रंग की डाक लगा देते हैं, वह उसी रंगरूप दिखाई देने लगता है।

यहाँ इस छन्द में नाम तो सूर्यकान्तमणि का लिखा है और उसमें अनेक रंगों की डाक लगाने की बात लिखी है। इससे प्रतीत होता है कि कम से कम बनारसीदासजी की दृष्टि में सूर्यकान्तमणि और स्फटिकमणि एक ही वस्तु हैं, जिसमें उक्त दोनों विशेषतायें एक साथ ही पाई जाती हैं। शब्दकोश में भी इसप्रकार के संकेत प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी स्फटिकमणि तो सूर्यकान्तमणि नहीं होते; परन्तु सूर्यकान्तमणि भी एक विशेष प्रकार का स्फटिकमणि ही है।

जो भी हो, हम तो यहाँ इस छन्द में जो बात कही गई है; उसी के अनुसार अर्थ करते हैं।

जिसप्रकार उज्ज्वल निर्मल सूर्यकान्तमणिरूप स्फटिकमणि में अनेक प्रकार के रंगों से युक्त डाक लगा देने पर वह अनेक रंगों वाला दिखाई देने लगता है; किन्तु जब उसके वस्तुस्वभाव के समीप जाकर देखते हैं तो वह उज्ज्वल ही भासित होता है; उसीप्रकार इस आत्मा में पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से अनेक प्रकार के मोह-ममता के भाव उदित दिखाई देते हैं; किन्तु जब भेदज्ञान की दृष्टि से स्वभाव की साधना की जाती है तो अन्तर में सच्ची शुद्ध चेतना ही दिखाई देती है और अनिवर्चनीय सुख-शान्ति का अनुभव होता है।

इसी भाव का प्रकाशक दूसरा छन्द इसप्रकार है —

(सवैया इकतीसा)

जैसैं महिमंडल मैं नदी कौ प्रवाह एक,
ताही मैं अनेक भांति नीर की ढरनि हैं।
पाथर कौ जोर तहां धार की मरोर होति,
कांकर की खांनि तहां झाग की झरनि है॥
पौंन की झकोर तहां चंचल तरंग ऊठै,
भूमि की निचांनि तहां भौंर की परनि है।
तैसैं एक आतमा अनंत-रस पुद्गल,
दुहूं के संजोग मैं विभाव की भरनि है॥

जिसप्रकार पृथ्वीतल पर अर्थात् समतल भूमि पर नदी का प्रवाह एकरूप होता है, तो भी पानी के प्रवाह में अनेकरूपता देखने में आती है। जहाँ पत्थरों

का जोर होता है, वहाँ पानी में मरोर (टेड़ा-मेड़ा होना) देखने में आती है और जहाँ कंकड़ों की खान होती है, वहाँ पानी में झाग पड़ने लगता है; जहाँ हवा का जोर होता है, हवा की झकोर लगती है; वहाँ चंचल तरंगें उठने लगती हैं और जहाँ भूमि नीची होती है, भूमि पर ढलान होती है; वहाँ भँवर पड़ जाती है।

उसीप्रकार एक आत्मा के साथ अनन्त रसवाले अनेक पुद्गलों का संयोग होने पर आत्मा में अनेकप्रकार की विभाव परिणति होने लगती है।

इसप्रकार इन छन्दों में यही कहा है कि सूर्यकान्तमणि-स्फटिकमणि तथा पानी के प्रवाह का स्वभाव तो जो है, सो ही है; किन्तु सूर्य की किरणों के संग से सूर्यकान्तमणि आग उगलने लगता है, डाक के संग से स्फटिकमणि अनेक रंगोंरूप हो जाता है और पत्थरों के टकराव, कंकड़ों के संग, पवन के जोर और जमीन की ढाल से पानी में मरोड़ होने लगती है, झाग पड़ने लगता है, तरंगें उठने लगती हैं और भँवर पड़ने लगती है; उसीप्रकार परसंग से आत्मा में रागादि विकार होने लगते हैं।

तात्पर्य यह है कि विकार का मूल हेतु परसंग ही है।

इसी बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"देखो, यहाँ सूर्यकान्तमणि का दृष्टान्त देकर आत्मा के विकारी परिणमन की प्रक्रिया को समझा रहे हैं। कहते हैं कि जिसतरह सूर्यकान्तमणि अकेला स्वयं अपने आप अग्निरूप नहीं परिणमता, बल्कि उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्तभूत है। यद्यपि सूर्य के कारण भी सूर्यकान्तमणि में अग्नि नहीं होती; तथापि सूर्य सूर्यकान्तमणि को अग्निरूप होने में निमित्त अवश्य है। ऐसा ही दोनों का सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यदि सूर्य को अग्नि का उत्पादक मानें तो अन्य साधारण पत्थर में भी सूर्य से अग्नि उत्पन्न हो जाना चाहिए और सूर्य के बिना ही सूर्यकान्तमणि में अग्नि का उत्पाद मानें तो रात्रि के काल में जब सूर्य नहीं उगा, तब भी सूर्यकान्तमणि में अग्नि उत्पन्न होते रहना चाहिए; पर ऐसा कभी नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि सूर्यकान्तमणि में सूर्य की निमित्तता के बिना अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि सूर्यकान्तमणि जो अग्निरूप होता है, वह अपनी उससमय की पर्यायगत योग्यता से होता है और सूर्यबिम्ब उसमें निमित्तमात्र है। सूर्य का बिम्ब उसमें कुछ नहीं करता।

ठीक इसीप्रकार आत्मा स्वयं अपने आप कभी विकारी नहीं होता; विकार का निमित्त भी नहीं बनता। आत्मा तो त्रिकाल चिद्रूपस्वरूप एक शुद्ध ही है। वह स्वयं अकेला विकाररूप कैसे हो, क्यों हो? आत्मा की वर्तमानपर्याय में जो विकार-पुण्य-पाप के भाव, दया-दान-भक्ति आदि के शुभभाव व हिंसा-झूठ-चोरी आदि के पापभाव-अशुभभाव होते हैं, उनका निमित्तकारण भगवान आत्मा स्वयं नहीं है, उसमें तो परसंग ही निमित्त है। जब आत्मा कर्मों का संग करता है तो पर्याय में विकार होता है। विकार होने में भगवान आत्मा निमित्त नहीं है, पर परसंग अर्थात् जड़कर्मों का उदय निमित्त होता है।

देखो, परसंग का अर्थ ऐसा कदापि नहीं है कि कर्म विकार कराता है। हाँ, अपने तत्समय की योग्यता से आत्मा में जब जैसा विकार होता है, तब तदनुकूल परसंग निमित्तरूप होता अवश्य है।[१]

परसंग एव —ऐसा जो कहा, उसका अर्थ यह नहीं है कि परवस्तु जबरन राग कराती है। वस्तुत: बात यह है कि जब जीव स्वयं अपनी उपादानगत तत्समय की योग्यता से परसंग करता है, तब विकार होता है। स्वभाव के आश्रय से विकार नहीं होता।[२]"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि रागादिरूप परिणमन आत्मा का स्वभाव नहीं है, स्वभावभाव नहीं है; अपितु परसंग से उपजा विभाव है, विभावभाव है। यद्यपि यह बात भी सत्य है कि पर ने कुछ नहीं कराया है; तथापि यह भी सत्य ही है कि इस विकार का मूल हेतु परसंग है, स्वयंकृत परसंग ही है।

अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव आगामी कलश में कहते हैं कि इसप्रकार के वस्तुस्वरूप से परिचित ज्ञानीजीव रागादिभावों में एकत्वबुद्धि नहीं करते। यह कलश आगामी गाथा की उत्थानिका का काम भी करता है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २४६-२४७
२. वही, पृष्ठ २४९

कलश मूलतः इसप्रकार है —

(अनुष्टुप्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १७६ ॥

(दोहा)

ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने विज्ञ सदीव ।
अपनापन ना राग में अतः अकारक जीव ॥ १७६ ॥

चूंकि ऐसे अपने वस्तुस्वभाव को ज्ञानीजीव जानते हैं; इसकारण वे रागादि को निजरूप नहीं करते, रागादि में अपनापन स्थापित नहीं करते। यही कारण है कि वे रागादि के कर्त्ता नहीं हैं।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"ज्ञानी अपने वस्तुस्वभाव को, अकेले ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को, पूर्ण आनन्दामृत से भरे तत्त्व को जानता है; इसकारण वह रागादि को अपना नहीं करता, उनमें आत्मबुद्धि नहीं करता। भले ही वे रागादिभाव वर्तमानदशा में पर के लक्ष्य से आत्मा में हुए हों, हो रहे हों; परन्तु उनमें ज्ञानी को अपनापन नहीं होता।

धर्मी की पर अथवा निमित्तों पर से पर्यायबुद्धि टूट गई है तथा अंतर में स्वभावदृष्टि प्रगट हो गई है; इसकारण पर के निमित्त से पर्याय में जो रागादि होते हैं, उन्हें वह अपने नहीं मानता।[१]

जिन्होंने अपने वस्तुस्वरूप को जान लिया, वे धर्मी पुरुष रागादि के कर्त्ता नहीं हैं; अकर्त्ता हैं, मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हैं। यद्यपि वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण रागादिक भाव होते हैं; पर वे उनके मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं; उनके कर्त्ता नहीं होते।[२]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वरूप को जाननेवाले ज्ञानी जीव रागादि विकारीभावों में अपनापन स्थापित नहीं करते, उन्हें अपना नहीं जानते, अपना नहीं मानते; इसकारण वे रागादिभावों के कर्त्ता-भोक्ता भी नहीं हैं।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २५०
२. वही, पृष्ठ २५०

समयसार गाथा २८०

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को गाथा द्वारा कहते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है —

ण य रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥ २८० ॥

(हरिगीत)

ना स्वयं करता मोह एवं राग-द्वेष कषाय को ।
इसलिए ज्ञानी जीव कर्त्ता नहीं है रागादि का ॥ २८० ॥

ज्ञानी राग-द्वेष-मोह अथवा कषायभावों में अपनापन नहीं करता; इसकारण वह उन भावों का कारक नहीं है अर्थात् कर्त्ता नहीं है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"यथोक्त वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी स्वयं के शुद्धस्वभाव से च्युत नहीं होता; इसकारण वह मोह-राग-द्वेष भावों रूप स्वयं परिणमित नहीं होता और दूसरे के द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता। यही कारण है कि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अकर्त्ता ही है — ऐसा नियम है।"

गाथा में तो मात्र यही कहा गया था कि ज्ञानी रागादिभावों का कर्त्ता नहीं है; किन्तु टीका में यह भी कह दिया है कि ज्ञानी जीव न तो स्वयं रागादिभावरूपपरिणमित होता है और न दूसरों के द्वारा ही रागादिरूप परिणमित किया जाता है। इसप्रकार ज्ञानी किसी भी प्रकार से रागादिभावरूप परिणमित नहीं होता — इसकारण वह रागादि का अकर्त्ता है।

इसी बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"इसमें दो बोल आये हैं, दो तथ्य स्पष्ट हुए हैं —

१. धर्मी स्वयं से तो राग-द्वेष-मोह आदि भावरूप परिणमित होता ही नहीं।

२. कर्म आदि पर से भी वह रागादिरूप परिणमित नहीं होता।

जिसने आत्मा के शुद्ध वीतरागस्वभाव को जान लिया एवं अनुभव कर लिया, उसकी दृष्टि शुद्धस्वभाव पर निरन्तर रहने से उसके ज्ञानमय परिणमन ही है। वह राग-द्वेष-मोह आदि भाव से कैसे परिणम सकता है? तथा जो स्वयं विकाररूप न परिणमे, उसको कर्म आदि परपदार्थ विकाररूप कैसे परिणमा सकते हैं? 'दूसरा परिणमाता है' यह तो निमित्त का कथनमात्र है।[१]

भूमिकानुसार ज्ञानी को दया, दान, पुण्य-पाप के भाव आते तो हैं, पर वह उनका कर्त्ता नहीं है। वह तो एक ज्ञानमयभाव का ही कर्त्ता है और रागादिभावों का अकर्त्ता ही है। उसके राग करने का अभिप्राय नहीं है। निर्मल ज्ञानभाव का करनेवाला ज्ञानी मलिन रागादि को कैसे करे?[२]"

चूंकि अज्ञानी उक्त परमसत्य को नहीं जानता — इसकारण वह रागादिभावों का कर्त्ता होता है — अब इस भाव का पोषक और आगामी गाथा का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है —

(अनुष्टुप्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १७७ ॥

(दोहा)

ऐसे वस्तुस्वभाव को ना जाने अल्पज्ञ ।
धरे एकता राग में नहीं अकारक अज्ञ ॥ १७७ ॥

अज्ञानी अपने स्वभाव को नहीं जानता — इसकारण रागादि भावों में अपनापन करता है। यही कारण है कि वह उन रागादि भावों का कर्त्ता होता है।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार समझाते हैं —

"अज्ञानी अपने अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द के रसकन्द, शुद्ध, एक, ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को नहीं जानता। वस्तु के स्वभाव पर उसकी दृष्टि नहीं है, उसका ज्ञानोपयोग स्वरूपसन्मुख नहीं है, वह बाहर में निमित्त के तथा पुण्य-पाप के भावों के सन्मुख हो रहा है; इसकारण वह निरन्तर रागादिभावों से परिणमित होता हुआ पर का कर्त्ता बनता है, जो कि अज्ञानभाव है।[३]"

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २५५
२. वही, पृष्ठ २५५
३. वही, पृष्ठ २५९

१७६-१७७वें कलश में क्रमशः ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति का विवेचन होने से नाटक समयसार में कविवर पण्डित बनारसीदासजी ज्ञानी और अज्ञानी का वर्णन विस्तार से करते हुए लगभग २१-२२ छन्द लिखते हैं; जो मूलतः पठनीय हैं। विस्तार भय से यहाँ देना सम्भव नहीं है तथा वे छन्द सन्दर्भित विषयवस्तु से विशेष संबंध भी नहीं रखते; फिर भी वैराग्यपोषक होने से उनका अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए।

नमूने के रूप में धन-सम्पत्ति से मोह तोड़ने की प्रेरणा देनेवाला एक छन्द इसप्रकार है —

(सवैया इकतीसा)

जासैं तू कहत यह संपदा हमारी सो तौ,
साधुनि अडारी ऐसैं जैसे नाक सिनकी ।
ताहि तू कहत याहि पुन्नजोग पाई सो तौ,
नरक की साई है बड़ाई डेढ़ दिन की ॥
घेरा मांहि परयौ तू विचारै सुख आंखिन कौ,
माखिन के चूटत मिठाई जैसे भिनकी ।
ऐते परि होहि न उदासी जगवासी जीव,
जग मैं असाता है न साता एक छिन की ॥

जिसप्रकार छिनकने योग्य नाक को बालकजन सिनक लेते हैं; उसीप्रकार तू (अज्ञानी) ने इस धनादि परिग्रह को छाती से लगा रखा है और कहता है कि यह तो हमारी सम्पत्ति हैं।[१] यह भी कहता है कि यह तो मुझे बड़े भारी पुण्य के योग से प्राप्त हुई है। अरे भाई! यह तो नरक की साई है, नरक जाने का बयाना है, एडवांस बुकिंग है; इसमें बड़ाई तो मात्र डेढ़ दिन की है, थोड़े समय की ही है। जिसप्रकार मिठाई पर मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं; उसीप्रकार इस सम्पत्ति के कारण तू स्वार्थी लोगों से घिरा रहता है और आँखों देखी ठकुर सुहाती बातें सुनकर प्रसन्न होता रहता है। इस जगत में असाता-असाता ही है, एक क्षण की भी साता नहीं है। आश्चर्य है कि ऐसी स्थिति होने पर भी ये जगवासी अज्ञानी जीव जगत से उदास नहीं होते हैं।

---

१. यदि इस पंक्ति में समागत **सिनकी** के स्थान पर **छिनकी** पाठान्तर स्वीकार करें तो इसका अर्थ इसप्रकार होगा — जिसे तू अपनी सम्पत्ति बताता है; उसे तो साधुजनों ने नाक के समान छिनक दिया है, छोड़ दिया है, ठुकरा दिया है।

समयसार गाथा २८१-२८२

विगत कलश में यह कहा गया है कि अज्ञानी अपने स्वभाव को न जानने के कारण रागादि भावों का कर्त्ता होता है; अब इसी बात को आगामी गाथाओं द्वारा कहते हैं; जो इसप्रकार है —

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रागादि बंधदि पुणो वि ॥ २८१ ॥
रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा ॥ २८२ ॥

(हरिगीत)

राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो ।
उनरूप परिणत जीव फिर रागादि का बंधन करे ॥ २८१ ॥
राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो ।
उनरूप परिणत आत्मा रागादि का बंधन करे ॥ २८२ ॥

राग-द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर अर्थात् उनके उदय होने पर जो भाव होते हैं; उनरूप परिणमित होता हुआ अज्ञानी रागादि को पुनः पुनः बाँधता है।

राग-द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर अर्थात् उनके उदय होने पर जो भाव होते हैं; उनरूप परिणमित हुआ आत्मा रागादि को बाँधता है।

उक्त दोनों गाथायें लगभग एक सी ही हैं। इनमें मात्र इतना ही अन्तर है कि प्रथम गाथा में अन्तिम शब्द है — **बंधदि पुणो वि** और दूसरी गाथा में उनके स्थान पर **बंधदे चेदा** शब्दों का प्रयोग किया गया है; शेष दोनों गाथायें समान ही हैं। उक्त शब्दों में जो अन्तर है; उनके अर्थ में भी कोई विशेष अन्तर ख्याल में नहीं आता। तात्पर्य यह है कि दोनों गाथाओं का भाव लगभग एक ही है।

आचार्य अमृतचंद्र आत्मख्याति में दूसरी गाथा की उत्थानिका में **ततः स्थितमेतत्** लिखकर उक्त बात की ही पुष्टि करते प्रतीत होते हैं तथा आचार्य

जयसेन तात्पर्यवृत्ति में **तमेवार्थं दृढ़यति** लिखकर एकदम साफ कर देते हैं कि इस गाथा में भी पूर्व गाथा की बात को ही दृढ़ता प्रदान कर रहे हैं।

इसप्रकार इन दोनों गाथाओं का भाव लगभग एकसा ही है।

आचार्य अमृतचंद्र इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"यथोक्त वस्तुस्वभाव को नहीं जाननेवाला अज्ञानी अनादिकाल से अपने शुद्धस्वभाव से च्युत ही है; इसकारण कर्मोदय से उत्पन्न राग-द्वेष-मोह आदि भावरूप परिणमता हुआं, राग-द्वेष-मोहादि भावों का कर्त्ता होता हुआ कर्मों से बंधता ही है — ऐसा नियम है।

निश्चय से अज्ञानी को पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से होनेवाले राग-द्वेष-मोहादि परिणाम ही आगामी पौद्गलिक कर्मों के बंध के कारण हैं।"

इस बात को पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"अज्ञानी वस्तुस्वभाव को तो यथार्थ जानता नहीं और कर्मोदय से जो भाव होते हैं, उन्हें अपना समझकर परिणमता है; इसलिये वह उनका कर्त्ता होता हुआ पुनः पुनः आगामी कर्मों को बाँधता है — ऐसा नियम है।

अज्ञानी के कर्म के निमित्त से जो राग-द्वेष-मोहादि परिणाम होते हैं; वे ही पुनः आगामी कर्मबंध के कारण होते हैं।"

यद्यपि आचार्य जयसेन ने भी इन गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति के अनुसार ही किया है; तथापि **किंच विस्तरः** लिखकर एक बात की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया है। वे लिखते हैं —

"जहाँ हम राग-द्वेष-मोह शब्दों का प्रयोग करते हैं; वहाँ मोह शब्द का अर्थ मिथ्यात्वादि का जनक दर्शनमोह लेना चाहिए और राग-द्वेष शब्दों से क्रोधादि कषायों का उत्पादक चारित्रमोह लेना चाहिए।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि मोह शब्द से मिथ्यात्वादि का जनक दर्शनमोह लेने में तो कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु राग-द्वेष शब्दों से चारित्रमोह को कैसे लिया जा सकता है?

शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है — कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय।

कषायवेदनीय नामक चारित्रमोह में द्वेष के उत्पादक होने से क्रोध और मान द्वेषरूप हैं तथा रागोत्पादक होने से माया और लोभ रागरूप हैं।

नोकषायवेदनीय नामक चारित्रमोह में रागोत्पादक होने से स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य और रति — ये पाँच नोकषायें रागरूप हैं तथा द्वेष की उत्पादक होने से अरति, शोक, भय और जुगुप्सा — ये चार नोकषायें द्वेषरूप हैं।

इसप्रकार के अभिप्राय से मोह शब्द से दर्शनमोह या मिथ्यात्व कहा जाता है और राग-द्वेष शब्दों से चारित्रमोह कहा जाता है। यह बात सर्वत्र ही जानना चाहिए।''

आचार्य जयसेन के उक्त स्पष्टीकरण से यह बात एकदम साफ हो जाती है कि जहाँ मोह-राग-द्वेष शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ 'मोह' शब्द मिथ्यात्व का और राग-द्वेष शब्द कषायों के सूचक हैं।

पर यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि मोह पद का उपयोग दर्शनमोह और चारित्रमोह — दोनों के सम्मिलितरूप के लिए भी किया जाता है; क्योंकि दर्शनमोह और चारित्रमोह आखिर हैं तो मोह के ही भेद-प्रभेद। मोह शब्द का प्रयोग करते समय और जिनागम में प्राप्त मोह शब्द का अर्थ करते समय इस बात की विशेष सावधानी रखना अत्यन्त आवश्यक है। •

प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं, उन्हें धर्म कहते हैं। जैसे — नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सत्-असत्, भिन्नता-अभिन्नता आदि। जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं, उन्हें गुण कहते हैं। जैसे — आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि; पुद्गल में रूप, रस, गंध आदि।

— तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १४३

समयसार गाथा — २८३-२८५

अब आगामी गाथाओं द्वारा यह समझाते हैं कि भगवान आत्मा रागादिभावों का अकारक किसप्रकार है?

गाथाएँ मूलत: इसप्रकार हैं —

अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं ।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा ॥ २८३ ॥
अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चखाणं पि ।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा ॥ २८४ ॥
जावं अप्पडिकमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वदि आदा तावं कत्ता सो होदि णादव्वो ॥ २८५ ॥

(हरिगीत)

है द्विविध अप्रतिक्रमण एवं द्विविध है अत्याग भी ।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा ॥ २८३ ॥
अत्याग अप्रतिक्रमण दोनों द्विविध हैं द्रवभाव से ।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा ॥ २८४ ॥
द्रवभाव से अत्याग अप्रतिक्रमण होवें जबतलक ।
तबतलक यह आतमा कर्ता रहे — यह जानना ॥ २८५ ॥

अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है। इसीप्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का जानना चाहिए। इस उपदेश से आत्मा अकारक कहा गया है।

अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है — द्रव्यसंबंधी अप्रतिक्रमण और भावसंबंधी अप्रतिक्रमण। इसीप्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है — द्रव्यसंबंधी अप्रत्याख्यान और भावसंबंधी अप्रत्याख्यान। इस उपदेश से आत्मा अकारक कहा गया है।

जबतक आत्मा द्रव्य का और भाव का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है; तबतक वह कर्त्ता होता है — ऐसा जानना चाहिए।

भूतकाल संबंधी दोषों का परिमार्जन प्रतिक्रमण है और भविष्य में दोषों को नहीं होने देने का संकल्प प्रत्याख्यान है। प्रतिक्रमण का नहीं होना अप्रतिक्रमण है और प्रत्याख्यान का नहीं होना अप्रत्याख्यान है।

आचार्य जयसेन के अनुसार पूर्वानुभूत विषयों के अनुभवरूप रागादिक का स्मरण अप्रतिक्रमण है और भविष्य में होनेवाले रागादि के विषयों की आकांक्षा अप्रत्याख्यान है।

ये अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण — ये दो अप्रतिक्रमण के भेद हैं और द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान — ये दो अप्रत्याख्यान के भेद हैं।

इनका स्पष्टीकरण पण्डित जयचंदजी छाबड़ा के भावार्थ में इसप्रकार किया गया है —

"अतीत काल में जिन परद्रव्यों का ग्रहण किया था, उन्हें वर्तमान में अच्छा समझना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना; वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है और उन परद्रव्यों के निमित्त से जो रागादिभाव हुए थे, उन्हें वर्तमान में अच्छा जानना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, भाव अप्रतिक्रमण है।

इसीप्रकार आगामी काल सम्बन्धी परद्रव्यों की इच्छा रखना, ममत्व रखना, द्रव्य अप्रत्याख्यान है और उन परद्रव्यों के निमित्त से आगामी काल में होनेवाले रागादिभावों की इच्छा रखना, ममत्व रखना, भाव अप्रत्याख्यान है।

इसप्रकार द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान — ऐसा जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का दो प्रकार का उपदेश है; वह द्रव्य-भाव के निमित्त-नैमित्तिकभाव को बतलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त हैं और रागादिभाव नैमित्तिक हैं।

इसप्रकार आत्मा रागादिभावों को स्वयमेव न करने से रागादिभावों का अकर्त्ता ही है — ऐसा सिद्ध हुआ।

इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा रागादिभावों का अकर्त्ता ही है; तथापि जबतक उसके निमित्तभूत परद्रव्य के अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान हैं, तबतक उसके

रागादिभावों का अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है और जबतक रागादिभावों का अप्रतिक्रमण, अप्रत्याख्यान है; तबतक वह रागादिभावों का कर्त्ता ही है; जब वह निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करता है, तब उसके नैमित्तिक रागादिभावों का भी प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है और जब रागादिभावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है, तब वह साक्षात् अकर्त्ता ही है।''

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

''यह आत्मा स्वयं से तो रागादिभावों का अकारक ही है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का उपदेश (कथन) है, वह द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकत्व को प्रकट करता हुआ आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिए यह निश्चित हुआ की परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं।

यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान के कर्तृत्व के निमित्तत्व का उपदेश निरर्थक ही होगा। उसके निरर्थक हो जाने पर एक आत्मा को ही रागादिभावों का निमित्तत्व आ जावेगा, जिससे नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आयेगा और उससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा।

इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है।

इसप्रकार यद्यपि आत्मा रागादिभावों का अकारक ही है; तथापि जबतक वह निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता; तबतक नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं होता। इसीप्रकार जबतक इन रागादिभावों का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं करता; तबतक वह इन भावों का कर्त्ता ही है।

जब आत्मा निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करता है; तभी नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान होता है और जब इन भावों का प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान होता है; तब वह साक्षात् अकर्त्ता ही है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में सामान्य अर्थ तो आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार ही करते हैं; तथापि **किंच** लिखकर जो विशेष बात लिखते हैं; वह इसप्रकार है —

"अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही कर्मों के कर्त्ता हैं, ज्ञानी जीव नहीं। यदि जीव कर्त्ता हो तो सदा ही कर्तृत्व का प्रसंग आयेगा; क्योंकि जीव तो सदा विद्यमान ही रहता है। रागादिविकल्परूप अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान अनित्य हैं; इसलिए सदा नहीं रहते और स्वस्थभाव से च्युत होनेवाले जीवों के ही होते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जब जीव स्वस्थभाव से च्युत होता हुआ अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानरूप परिणमित होता है, तब कर्मों का कारण होता है; किन्तु स्वस्थभाव में रहने पर अकारक ही रहता है — यह भावार्थ है।"

इन गाथाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"आत्मा स्वभाव से तो रागादि का अकारक ही है। यदि आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ही रागादि शुभाशुभभावों का कर्त्ता हो तो द्रव्य व भाव रूप से किया गया अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का दो प्रकार का उपदेश संभव नहीं होगा। द्रव्यप्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान अर्थात् उन संयोगी पदार्थों का त्याग जो विकार के उत्पन्न होने में निमित्त होते हैं तथा भावप्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान अर्थात् शुभाशुभ विकार का त्याग — ऐसे दोनों ही प्रकार के प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान का उपदेश संभव नहीं है; क्योंकि यदि आत्मा स्वभाव से ही रागादि का कारक हो तो फिर वह रागादि को कैसे छोड़ सकता है?[१]

यहाँ जो निमित्तरूप परद्रव्य हैं तथा उनके लक्ष्य से हुए नैमित्तिकरूप विकारीभाव हैं। इन दोनों में एकसमय का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, पर दोनों ही आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। यदि आत्मा का स्वभाव विकाररूप होने का हो तो विकार व विकार के निमित्तों से बचना संभव ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में द्रव्य व भावरूप अप्रतिक्रमण को छोड़ने का उपदेश भी निरर्थक सिद्ध होगा।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २६९-२७०

परन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि विकार नैमित्तिक है, स्वभावभाव नहीं है, स्वभाव के लक्ष्य से इन्हें अवश्य ही छोड़ा जा सकता है।[१]

भगवान आत्मा का स्वभाव परद्रव्य और उसके लक्ष्य से हुए विकारी परिणामों के अभावस्वभावरूप है। व्यवहार दया-दान-भक्ति के विकल्प भी तेरे कर्तव्य नहीं हैं; क्योंकि जब पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, तब ये विकल्प होते हैं। इसकारण भगवान का उपदेश है कि परद्रव्यों को एवं परद्रव्य के लक्ष्य से हुए विकारीभावों को छोड़ दे।[२]

यदि यह न माना जाए कि रागादिभावों का निमित्त परद्रव्य ही है तो एक आत्मा को ही रागादिभावों की उत्पत्ति का निमित्तपना मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से आत्मा को राग का नित्य कर्त्तापना मानना पड़ेगा तथा ऐसा मानने से आत्मा कभी भी रागरहित नहीं हो सकेगा।[३]

आत्मा स्वभाव से तो अकारक ही है, तथापि जबतक वह निमित्तभूत परद्रव्यों का प्रतिक्रमण नहीं कर पाता, उनसे विमुख होकर स्वरूप की ओर नहीं झुक पाता, परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर वहाँ से उपयोग को हटा नहीं पाता, तबतक वह नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण नहीं कर पाता।

इस उपर्युक्त कथन से कुछ लोग ऐसा अर्थ निकालते हैं कि परद्रव्यों को छोड़ें तो परद्रव्य के संबंध से हुआ विकार छूट जायेगा; इसलिए परद्रव्य को छोड़ने का उपदेश देने लगते हैं; परंतु यहाँ तो यह कहा है कि जो परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ता है तो उसके लक्ष्य से होनेवाले विकार को भी छोड़ देता है।[४]

'आत्मा स्वभाव से तो रागादिक का अकारक ही है।' पर ध्यान रहे, यह कथन द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से किया गया कथन है। पर्याय की अपेक्षा कहें तो बात यह है कि जबतक जीव स्वद्रव्य का लक्ष्य नहीं करता, परद्रव्य का ही लक्ष्य करता रहता है; तबतक वह पर के लक्ष्य से होनेवाले राग-द्वेष-मोहादि भावों को नहीं छोड़ता और तबतक वह उनका कर्त्ता ही है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २७२
२. वही, पृष्ठ २७३
३. वही, पृष्ठ २७४
३. वही, पृष्ठ २७६

यहाँ 'निमित्तभूत परद्रव्य को छोड़ें' — ऐसा जो कहा — उसका अर्थ परद्रव्य को छोड़ना नहीं है, बल्कि परद्रव्य के लक्ष्य को छोड़ने की बात कही है। परद्रव्य तो छूटा हुआ ही है, उसे जब ग्रहण ही नहीं किया तो छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ से उठ सकता है? परद्रव्य तो छूटा ही पड़ा है। उसे पकड़ा ही कब था जो छोड़े? वस्तुतः आत्मा तो परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित ही है।[१]

भूत-भविष्य से संबंधी परद्रव्यों को एवं परद्रव्यों के निमित्त से हुए अपने रागादिभावों की एकता तोड़कर जब स्व-स्वभाव में एकता करे, तब ही सच्चा प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान होता है। ये प्रतिक्रमण एवं प्रत्याख्यान ही यथार्थ धर्मस्वरूप हैं। जब जीव विकार व विकार के निमित्तों से पीछे हटकर शुद्धस्वभाव में आये, तब साक्षात् अकर्त्ता होता है।[२]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह भगवान आत्मा स्वभाव से तो रागादिभावों का अकर्त्ता ही है; तथापि जब रागादिभावों का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करता है, तब साक्षात् अकर्त्ता होता हैं।

रागादिभावों के वास्तविक कर्त्ता तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान अथवा अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान से संयुक्त जीव ही हैं।

इसीलिए जिनागम में द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के त्याग का उपदेश दिया गया है। यदि आत्मा ही रागादि का कर्त्ता हो तो फिर इन प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान के उपदेश की आवश्यकता ही क्यों रहे?

एक बात यह भी है कि आत्मा तो नित्य है, सदा ही रहनेवाला है; उसे रागादि का कर्त्ता मानने पर रागादि भी सदा होते रहेंगे। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान अनित्य है; इसकारण रागादिभाव भी तभीतक होंगे, जबतक कि अप्रतिक्रमण व अप्रत्याख्यान है। इनके अभाव होने पर रागादि का अभाव भी हो जायेगा; जो सभी को इष्ट है।

तात्पर्यवृत्ति में बंधाधिकार यहाँ समाप्त हो जाता है। इन गाथाओं के बाद जो दो गाथाएँ आत्मख्याति में आती हैं; वे तात्पर्यवृत्ति में पहले ही आ गई हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २७७
२. वही, पृष्ठ २८१

बंधाधिकार की समाप्ति पर आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में बंध के विनाश के लिये कैसी भावना भाना चाहिए — यह बात विशेषरूप से लिखते हैं; जो इसप्रकार है —

"मैं सहज, शुद्ध, ज्ञानानन्द, एकस्वभाववाला हूँ; मैं निर्विकल्प हूँ; मैं उदासीन हूँ; मैं निरंजन निज शुद्धात्म सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधि से उत्पन्न वीतरागसहजानन्दरूप सुखानुभूति लक्षणवाले स्वसंवेदन ज्ञान से संवेद्य-गम्य-प्राप्य-भरित अवस्थावाला हूँ; मैं राग-द्वेष-मोह, क्रोध-मान-माया-लोभ, पंचेन्द्रियविषयव्यापार, मन-वचन-काय व्यापार, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म, ख्याति-लाभ-पूजा, दृष्ट-श्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूप निदान-माया-मिथ्यात्वरूप तीनों शल्यों एवं सर्व विभावपरिणामों से रहित शून्य हूँ।

शुद्धनिश्चयनय से मैं तथा सभी तीनलोक और तीनकाल में भी मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से इसीप्रकार शुद्ध हैं — ऐसी भावना निरन्तर करना चाहिए।" •

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त जगत पर से दृष्टि हटानी होगी। समस्त जगत से आशय है कि आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म आदि जड़ (अचेतन) द्रव्य तो 'पर' हैं ही, अपने आत्मा को छोड़कर अन्य चेतन पदार्थ भी 'पर' हैं तथा आत्मा में प्रतिसमय उत्पन्न होने वाली विकारी-अविकारी पर्यायें (दशा) भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकतीं। उनसे भी परे अखण्ड त्रिकाली चैतन्यध्रुव आत्मा-तत्त्व है, वही एकमात्र दृष्टि का विषय है, जिसके आश्रय से आत्मानुभूति प्रगट होती है, जिसे कि धर्म कहा जाता है।

— **तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ**, पृष्ठ १३५

समयसार गाथा २८६-२८७

विगत गाथाओं और उसकी टीका में द्रव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण तथा द्रव्यप्रत्याख्यान और भावप्रत्याख्यान में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव बताया गया है।

अब आगामी गाथाओं में द्रव्य और भाव की उसी निमित्त-नैमित्तिकता को सोदाहरण समझाते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं —

आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा दु जे णिच्चं ॥ २८६ ॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम होदि कयं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥ २८७ ॥

(हरिगीत)

अध:कर्मक आदि जो पुद्गल दरब के दोष हैं ।
परद्रव्य के गुणरूप उनको ज्ञानिजन कैसे करें ? ॥ २८६ ॥
उद्देशिक अध:कर्म जो पुद्गल दरबमय अचेतन ।
कहे जाते वे सदा मेरे किये किस भाँति हों ? ॥ २८७ ॥

अध:कर्म आदि जो पुद्गल द्रव्य के दोष हैं; उन्हें ज्ञानी (आत्मा) कैसे करे? क्योंकि वे तो सदा ही परद्रव्य के गुण हैं।

पुद्गलद्रव्यमय अध:कर्म और उद्देशिक मेरे किये कैसे हो सकते हैं? क्योंकि वे सदा अचेतन कहे गये हैं।

अध:कर्म आहार और उद्देशिक आहार को आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"स्वयं पाकेनोत्पन्न-आहार-अध:कर्मशब्देनोच्यते। आहारग्रहणात् पूर्वं तस्य पात्रस्य निमित्तं यत्किमप्यशनपानादिकं कृतं तदौपदेशिकं भण्यते।"

उक्त पंक्तियों का अर्थ आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज और वीरसागरजी महाराज इसप्रकार करते हैं —

"स्वयं बनाने से सम्पन्न हुआ आहार अध:कर्म शब्द से कहा जाता है और आहार ग्रहण करने से पहले उस पात्र के निमित्त से जो कुछ अन्न-पान सम्पन्न किया जाता है; उसे औद्देशिककहते हैं।"

पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में अध:कर्म और उद्देशिक आहार को जिसप्रकार समझाते हैं; वह उन्हीं की भाषा में इसप्रकार है —

"जो पापकर्म करि आहार निपजै, ताकूं अध:कर्मनिष्पन्न कहिये तथा जो आहार किसी के निमित्त निपजै, ताकूं उद्देशिक कहिये।"

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोशकार जैनेन्द्रवर्णी अनेक ग्रन्थों के उल्लेखों के आधार पर सारांश के रूप में अध:कर्म और उद्दिष्ट आहार को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"जिन कार्यों के करने से जीवहिंसा होती है, उन्हें अध:कर्म कहते हैं। अध: कर्म युक्त किसी भी पदार्थ की मन, वचन, काय से साधुजन अनुमोदना नहीं करते और न ऐसा आहार व वसति आदि का ग्रहण करते हैं।[१]

यदि पात्र अपने चित्त में अपने लिए बने आहार का अथवा भोजन के उत्पादन संबंधी किसी प्रकार का विकल्प करता है तो वह भाव से उद्दिष्ट है। ऐसा आहार साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए।[२]"

उक्त कथन में आहार के साथ-साथ वसति (रहने के स्थान) की भी चर्चा है। तात्पर्य यह है कि रहने के स्थान के निर्माण में भी आरम्भजनित हिंसा होती है; अत: वह भी अध:कर्म है। अत: वसति के निर्माण कार्य में भी साधुजनों को मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से दूर रहना चाहिए।

स्वामीजी अध:कर्म और उद्देशिक आहार को इसप्रकार समझाते हैं —

"साधु के कहने से साधु के लिए गृहस्थ यदि आहारादि बनाता है, पानी भरकर लाता है, उसे उष्ण करता है, अनेकप्रकार की रसोई बनाता है; तो उसे उद्देशिक आहार कहते हैं।[३]

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग १, पृष्ठ ४८
२. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४१३
३. वही, पृष्ठ २९३

यदि साधु को यह पता लग जाय, किसी कारण से यह ज्ञात हो जाय कि यह आहार अमुक गृहस्थ द्वारा मेरे उद्देश्य से बनाया गया है और वह साधु उसे ग्रहण करले तो उस साधु को उद्देशिक आहार ग्रहण करने का महान दोष लगता है।[१]

इसीप्रकार जो साधु उपदेश द्वारा अथवा व्यक्तिगत कहकर अपने लिए आहार बनाने की प्रेरणा देता है; तो वह आहार अध:कर्म दोष से दूषित है।[२]

प्रश्न : अध:कर्म का क्या अर्थ है?

उत्तर : साधुजन यह कहें कि हमारे लिए अमुक प्रकार का आहार-पानी बनाओ! तथा गृहस्थ उनके निर्देशानुसार आहार बनाये तो वह अध:कर्म से उत्पन्न हुआ आहार है। साधु अपने आहार के बारे में किसी श्रावक से कभी कुछ भी नहीं कहते, अपने आहार बनाने का निर्देश नहीं देते।

प्रश्न : और उद्देशिक आहार क्या है?

उत्तर : साधु ने गृहस्थ से स्पष्ट तो नहीं कहा कि मेरे लिए अमुक प्रकार का आहार बनाओ, परन्तु उन्हें यह ज्ञात भी हो जावे कि गृहस्थ ने हमारे उद्देश्य से विशेष व्यवस्था की है तो वह आहार उन्हें उद्देशिक आहार हो गया। अत: वे अपने उद्देश्य से बने आहार को भी ग्रहण नहीं करते।[३]"

आचार्य जयसेन के अनुसार स्वयं भोजन बनाने की क्रिया अध:कर्म है और पंडित जयचंदजी छाबड़ा तथा जैनेन्द्र वर्णी के अनुसार हिंसादि से निष्पन्न आहार अध:कर्म है तथा स्वामीजी के अनुसार चाहे स्वयं बनावे, चाहे कहकर बनावे, प्रेरणा देकर बनवावे; भोजन पकाने की क्रिया आरंभजनित होने से अध: कर्म है।

उक्त सभी कथनों का तात्पर्य यह है कि अत्यन्त सावधानी पूर्वक भोजन बनाने में भी आरंभजनित जो हिंसा होती है; उस हिंसा का भागीदार बनानेवाला तो है ही, बनवानेवाला भी है, प्रेरणा देनेवाला भी है; इसकारण बनाना, बनवाना,

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २९४
२. वही, पृष्ठ २९४
३. वही, पृष्ठ ३००

अनुमोदन करना सभी अधःकर्म हैं। यही कारण है कि मुनिराज भोजन बनाने-बनवाने की क्रिया-प्रक्रिया में मन से, वचन से, काय से किसी भी रूप में प्रवृत्त नहीं होते, संलग्न नहीं होते; यही उनका अधःकर्म दोष से दूर रहना है। इसीप्रकार वसति (धर्मशाला आदि) के निर्माण कार्यों से भी मुनिराजों को विरत रहना चाहिए।

उद्देशिक आहार के सन्दर्भ में तो सभी एकमत से कहते हैं कि पात्र के निमित्त से निर्मित भोजन ही उद्देशिक आहार है।

तात्पर्य यह है कि साधुजन भोजन बनाने की प्रक्रिया से पूर्णतः असंपृक्त रहते हैं। वे नहीं चाहते कि कोई उनके उद्देश्य से भोजन बनावे, तत्संबंधी आरंभ करे; क्योंकि वे सर्वारंभ और सर्वपरिग्रह के पूर्णतः त्यागी हैं; मन-वचन-काय से त्यागी हैं, कृत-कारित-अनुमोदना से त्यागी हैं, नवकोटि से त्यागी हैं। यही कारण है कि वे उनके उद्देश्य से बनाये गये आहार को ग्रहण नहीं करते।

उक्त सन्दर्भ में इन्हीं गाथाओं की टीका में समागत आचार्य जयसेन का निम्नांकित कथन महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है —

"यहाँ अभिप्राय यह है कि भविष्य में, भूत में या वर्तमान में कभी भी योग्य आहारादि के विषय में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनारूप नौ प्रकार के विकल्पों से जो शुद्ध हैं, रहित हैं; उनके दूसरे के द्वारा बनाये हुए आहारादि विषयक बन्ध कभी नहीं हो सकता। यदि दूसरे के परिणामों के द्वारा बन्ध हो जाय तो फिर तो कभी भी किसी को निर्वाण नहीं हो सकेगा। कहा भी है —

णवकोडिकम्मसुद्धो पच्छापुरदो य संपदियकाले ।
परसुहदुःखणिमित्तं बज्झदि जदि णत्थि णिव्वाणं ॥

त्रिकाल सम्बन्धी कार्यों से मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना रूप नवकोटि से शुद्ध जीव भी दूसरों के सुख-दुःख के निमित्त से यदि बंधने लगे तो फिर तो किसी को भी मुक्ति संभव नहीं होगी।

इसप्रकार ज्ञानियों को आहार ग्रहण से होनेवाला बंध नहीं है।"

आचार्य जयसेन के उक्त कथन से यह बात एकदम साफ हो जाती है कि यदि आहार बनने की प्रक्रिया में मुनिराजों का मन-वचन-काय और कृत-

कारित-अनुमोदनारूप नवकोटि प्रवर्तन नहीं है, संलग्नता नहीं हैं तो उन्हें अध: कर्म और औद्देशिक दोष भी नहीं लगेंगे; किन्तु यदि इन नवकोटियों में से एक भी कोटि टूटती है तो मुनिराज को दोष अवश्य लगेगा।

आहार संबंधी अध:कर्म दोष और औद्देशिक दोष मुनिराज की ओर से ही हैं, मुनिराज के लिए ही हैं; अत: इनसे बचने की पूरी जिम्मेदारी उनकी स्वयं की ही है।

यद्यपि गृहस्थ द्वारा किये गये किसी भी कार्य की जिम्मेवारी मुनिराज की नहीं है; तथापि यदि मुनिराज की रंचमात्र भी सक्रियता उस ओर होती है तो वे उक्त दोषों से बच नहीं सकते।

यह तो गाथाओं में उदाहरण के रूप में समागत अध:कर्म आहार और उद्देशिक आहार की सामान्य चर्चा हुई; गाथाओं का मूल प्रतिपाद्य तो कुछ और ही है, जिसे आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

इन गाथाओं का भाव पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"यहाँ अध:कर्म और उद्देशिक आहार के दृष्टान्त से द्रव्य और भाव की निमित्त-नैमित्तिकता दृढ़ की है।

जिस पापकर्म से आहार उत्पन्न हो, उसे अध:कर्म कहते हैं तथा उस आहार को भी अध:कर्म कहते हैं। जो आहार, ग्रहण करनेवाले के निमित्त से ही बनाया गया हो, उसे उद्देशिक कहते हैं। — ऐसे (अध:कर्म और उद्देशिक) आहार का जिसने प्रत्याख्यान नहीं किया, उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव का भी प्रत्याख्यान नहीं किया और जिसने तत्त्वज्ञानपूर्वक उस आहार का प्रत्याख्यान किया है, उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव का भी प्रत्याख्यान किया है।

इसप्रकार समस्त द्रव्य और भाव को निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना चाहिये।

जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, उसे रागादिभाव भी होते हैं; वह उनका कर्त्ता भी होता है और इसलिये कर्म का बन्ध भी करता है; जब आत्मा ज्ञानी होता है, तब उसे कुछ ग्रहण करने का राग नहीं होता; इसलिये रागादिरूप परिणमन

भी नहीं होता और इसलिये आगामी बन्ध भी नहीं होता। (इसप्रकार ज्ञानी परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है।)''

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

''जिसप्रकार अध:कर्म और उद्देश्य से उत्पन्न निमित्तभूत आहारादि पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (मुनि) नैमित्तिकभूत बंधसाधक भाव का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग नहीं करता; उसीप्रकार समस्त परद्रव्यों का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उनके निमित्त से होनेवाले भाव को भी नहीं त्यागता।

अध:कर्म आदि पुद्गलद्रव्य के दोषों को आत्मा वस्तुत: तो करता ही नहीं; क्योंकि वे परद्रव्य के परिणाम हैं; इसलिए उन्हें आत्मा के कार्यत्व का अभाव है। इसकारण अध:कर्म और उद्देशिक पुद्गलकर्म मेरे कार्य नहीं हैं; क्योंकि वे सदा ही अचेतन हैं; इसलिए उनको मेरे कार्यत्व का अभाव है।

इसप्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा (मुनि) जिसप्रकार नैमित्तिकभूत बंधसाधकभाव का प्रत्याख्यान करता है; उसीप्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ (त्याग करता हुआ) आत्मा उनके निमित्त से होनेवाले भावों का भी प्रत्याख्यान करता है।

इसप्रकार द्रव्य और भाव को निमित्त-नैमित्तिकता है।''

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में उक्त दोनों गाथाओं के साथ में एक-एक गाथा और भी प्राप्त होती है। वे गाथायें उक्त गाथाओं की पूरक गाथायें ही हैं। उन गाथाओं का क्रम इसप्रकार है —

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा हु जे णिच्चं॥
आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कहमणुमण्णदि अणेण कीरमाणा परस्स गुणा॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होदि कदं जं णिच्चमचेदणं वृत्तं॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचेदणं वृत्तं॥

अध:कर्म आदि जो ये पुद्गलद्रव्य के दोष हैं; उनको सम्यग्ज्ञानी कैसे कर सकता है; क्योंकि ये सदा ही परद्रव्य के गुण हैं।

अध:कर्म आदि जो ये पुद्गलद्रव्य के दोष हैं; ये दूसरे के द्वारा किये हुए गुण हैं तो ज्ञानी उनकी अनुमोदना कैसे कर सकता है?

ये अध:कर्म और औद्देशिक पुद्गलमय होने से सदा ही अचेतन कहे गये हैं। ये मेरे द्वारा किये कैसे हो सकते हैं।

ये अध:कर्म और औद्देशिक पुद्गलद्रव्यमय होने से सदा अचेतन कहे गये हैं। ये मेरे द्वारा कारित भी कैसे हो सकते हैं, मेरे द्वारा कराये भी कैसे जा सकते हैं?

उक्त चारों गाथाओं में से पहली और तीसरी गाथा तो आत्मख्याति में आ ही चुकी हैं। दूसरी और चौथी गाथा तात्पर्यवृत्ति में विशेष आई हैं।

उक्त चारों गाथाओं को उनके अर्थ सहित बारीकी से देखते हैं तो पहली और दूसरी गाथा तथा तीसरी और चौथी गाथा लगभग एक-सी ही हैं। पहली गाथा में करने की बात है और दूसरी गाथा में अनुमोदना की बात है। इसीप्रकार तीसरी गाथा में करने की बात है और चौथी गाथा में कराने की बात है। बस मात्र इतना ही अन्तर है।

आचार्य जयसेन ने इन गाथाओं की जो टीका लिखी है; उसमें भी इससे अधिक कुछ नहीं है। इन गाथाओं के जुड़ने से इतना हुआ कि करने के साथ कराना और अनुमोदना करना भी जुड़ गये हैं। इसप्रकार नवकोटि से त्याग की बात पर बल पड़ गया है।

इन गाथाओं की टीका में आचार्य जयसेन ने जो विशेष तात्पर्य लिखा है, उसकी चर्चा उद्दिष्ट भोजन के सन्दर्भ में की ही जा चुकी है। अत: अब यहाँ कुछ लिखना अभीष्ट नहीं है।

इन गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"यहाँ उद्देशिक व अध:कर्म का तो दृष्टान्त मात्र दिया है। वस्तुत: सिद्धान्त तो यह है कि समस्त परद्रव्य, जिसमें देव-शास्त्र-गुरु जैसे परमपूज्य निमित्त भी सम्मिलित हैं। उन सबके लक्ष्य को छोड़ता हुआ साधक उनके निमित्त से हुए

राग को भी छोड़ता है। उस साधक का ज्ञान अत्यन्त स्थिर हो जाता है। बस इसी का नाम प्रत्याख्यान है।

भाई! यहाँ समस्त निमित्त-नैमित्तिक संबंध तोड़ने की बात है। निश्चय से मुनिमार्ग तो एक शुद्धोपयोग ही है। परद्रव्य संबंधी जो विकल्प होते हैं, उनमें मुनित्व नहीं है। 'जयधवला' ग्रन्थ में तो स्पष्टरूप से ऐसा लिखा है कि 'मैंने एक शुद्धोपयोग की प्रतिज्ञा की थी, परन्तु मैं उसमें नहीं रह सका। तथा यह छहकाय के जीवों की दया का विकल्प हुआ है, निर्दोष आहार लेने का विकल्प हुआ है, इससे मेरी वह प्रतिज्ञा टूट गई है, इससे प्रत्याख्यान का भंग हुआ; क्योंकि पर की ओर अपने मन का झुकाव होना विकार है, दोष है। एक स्वद्रव्य की ओर झुकाव होना ही निर्विकार है।'

देखो! मुनिराज को निर्दोष आहार लेने का विकल्प आता है। इसमें मुनित्व को कोई बाधा नहीं है। इससे मुनिपना नहीं जाता। किंतु यदि इन्हें अध:कर्मी, उद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार लेने का विकल्प आवे तो मुनिपना नहीं रहता।

यहाँ तो यह कहते हैं कि 'मुनिराज के सभी परद्रव्यों के ओर का झुकाव छूट जाता है। आहार का, विहार का, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति के भाव का झुकाव छोड़कर एक स्व-द्रव्य में आना तथा उसी में स्थिर रहना ही मुनिराजों का मुख्य धर्म है। यही वास्तविक मुनिदशा है। धन्य है ऐसी मुनिदशा!

प्रश्न : यदि ऐसा है तो उन्हें प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करना चाहिये या नहीं?

उत्तर : स्वद्रव्य में आना एवं स्थिर रहना तो अस्ति से प्रतिक्रमण का स्वरूप है। तथा परद्रव्य से, छहकाय के जीवों की रक्षा आदि के विकल्पों से भी छूटना — यह नास्ति से प्रतिक्रमण है। निर्मलानन्दनाथ आत्मा में आकर ठहरना — बसना तथा पर से खसना-हटना दोनों एक ही बात के दो पहलू हैं। दो जुदी-जुदी बातें हैं ही कहाँ?[१]

यहाँ तो सर्व परद्रव्यों से छूटने की बात कही है। निर्दोष आहार लेना भी विकल्प है। निर्दोष आहार लेने से मुनिपना खण्डित नहीं होता, उसमें कोई दोष

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २९७-२९८

भी नहीं लगता; परन्तु यहाँ प्रत्याख्यान व प्रतिक्रमण के प्रकरण में परद्रव्य का सर्वथा आश्रय छोड़कर एक स्वद्रव्य का पूर्ण आश्रय करने की बात है; क्योंकि तभी केवलज्ञान की प्राप्ति के योग्य स्थिति बनती है; पूर्णता की प्राप्ति होती है; जो कि मुनिराजों का परमध्येय है।

सारांश यह है कि इसप्रकार समस्त परद्रव्यरूप निमित्त और उन निमित्तों के लक्ष्य से तथा उनके संबंध से हुए विकारी भावों को मुनिराज त्यागते हैं, प्रत्याख्यान करते हैं। तभी सम्पूर्णतया स्वद्रव्य का आश्रय होता है और केवलज्ञान होता है।

इसके सिवाय जिनके उद्देशिक आदि दोष युक्त आहार लेने का बंध साधकभाव होता है, उनके तो यथार्थ मुनिपना ही नहीं रहता। सच्चे मुनिराजों को भी जबतक निर्दोष आहार-पानी लेने का भाव, छहकाय के जीवों की रक्षा का भाव-विकल्प रहता है, तबतक केवलज्ञान नहीं होता।[१]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार यदि ज्ञानी मुनिराज अधः कर्म दोष और उद्देशिक दोष से रहित निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं तो उन्हें आहार करते हुए भी तत्संबंधी आरंभ जनित बंध नहीं होता; उसीप्रकार पर से पूर्णतः असंपृक्त ज्ञानीजनों को भी परकृत दोष के कारण किंचित् भी बंध नहीं होता।

इस बात को यहाँ द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान के निमित्त-नैमित्तिक संबंध के हेतु से समझाया गया है।

पंचेन्द्रियों के विषयरूप परद्रव्य के निमित्त (लक्ष्य) से आत्मा में राग-द्वेष-मोहरूप नैमित्तिक भाव होते हैं और वे राग-द्वेष-मोह बंध के कारण हैं। यदि पंचेन्द्रिय के विषयरूप परद्रव्य का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कर दिया जाय तो उनके निमित्त से होनेवाले मोह-राग-द्वेष भी नहीं होंगे; उनका भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो जावेगा। इसतरह परद्रव्यरूप पंचेन्द्रियों के विषयों के त्याग के समय तत्संबंधी मोह-राग-द्वेष भावों का भी त्याग हो जाता है; अतः उनसे होनेवाला बंध भी नहीं होता है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २९८-२९९

इसप्रकार अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही बंध के कारण हैं और प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान बंध के अभाव के कारण हैं। यह भगवान आत्मा न तो बंध का कारक है और बंध के अभाव का ही कारक है। यह तो पूर्णतः अकारक ही है।

ये गाथाएँ बंधाधिकार की अन्तिम गाथाएँ हैं। इसकारण इनमें बंध की प्रक्रिया व उसके अभाव की प्रक्रिया समझाकर भगवान आत्मा को उससे पार बताया गया है; उसे बंध का अकारक बताया गया है।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है —

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात् ।
तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ॥
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं ।
येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥

(सवैया इकतीसा)

परद्रव्य हैं निमित्त परभाव नैमित्तिक,
नैमित्तिक भावों से कषायवान हो रहा ।
भावीकर्मबंधन हो इन कषायभावों से,
बंधन में आतमा विलायमान हो रहा ॥
इसप्रकार जान परभावों की संतति को,
जड़ से उखाड़ स्फुरायमान हो रहा ।
आनन्दकन्द निज-आतम के वेदन में,
निजभगवान शोभायमान हो रहा ॥१७८॥

इसप्रकार परद्रव्य और अपने भावों की निमित्त-नैमित्तिकता का विचार भली-भाँति करके परद्रव्यमूलक इन बहुभावों की संतति को एक ही साथ उखाड़ फैंकने का इच्छुक पुरुष उन समस्त परद्रव्यों को बलपूर्वक भिन्न करके धारावाही रूप से बहते हुए पूर्ण एक संवेदन से युक्त अपने आत्मा को प्राप्त करता है। इसी से कर्मबन्धन को जड़मूल से उखाड़ फैंकनेवाला भगवान अपने में ही स्फुरायमान होता है।

इस कलश का भाव पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"जब परद्रव्य की और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता जानकर समस्त परद्रव्यों को भिन्न करने में, त्याग करने में आते हैं, तब समस्त रागादि भावों की संतति कट जाती है और तब आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ कर्म बंधन को काटकर अपने में ही प्रकाशित होता है। इसलिए जो अपना हित चाहते हैं, वे ऐसा ही करें।"

इस कलश के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"मूल पाठ में '**तन्मूला**' शब्द का शब्दार्थ — दोष का मूलकारण परद्रव्य है, ऐसा लिखा है; परन्तु उसका अभिप्राय पण्डित राजमलजी ने कलश टीका में स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि 'परद्रव्य का स्वामित्व है मूल कारण जिसका।' तात्पर्य यह है कि विकार की संतति का मूलकारण परद्रव्य नहीं, बल्कि परद्रव्य का स्वामीपन है।[१]

मोक्षपाहुड़ की १६वीं गाथा में कहा है कि 'स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति अर्थात् मलिन संसार की प्राप्ति होती है।' वहीं १३वीं गाथा में भी कहा है कि 'स्वद्रव्य में रति मोक्ष का कारण है तथा परद्रव्य में रति संसार का कारण है।[२]

जिसके निमित्त से नये-नये कर्म बंधते हैं, उस विकारी परिणति की संतति का मूल परद्रव्य का स्वामीपन है। तथा स्वद्रव्य का स्वामीपन मुक्ति का कारण है। पराश्रय से बंध व स्वाश्रय से मुक्ति — यह सबका संक्षिप्त सारांश है।

यहाँ बंध अधिकार में परद्रव्य का आश्रय बंध का कारण कहा है। समयसार नाटक में कविवर बनारसीदास ने मोह व राग-द्वेष के परिणाम को बंध का कारण कहा है। तथा कलश टीकाकार श्री राजमलजी ने परभाव के स्वामीपन को मूलकारण कहा है। मोक्षपाहुड़ में '**पर दव्वाओ दुग्गई**' ऐसा कहा है। पर इन सबका अर्थ एक ही है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २८३
२. वही, पृष्ठ २८४
३. वही, पृष्ठ २८४

'समस्त परद्रव्यों को भिन्न करके' इस कथन का कुछ लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि सब कुछ छोड़कर जंगल में चले जाओ। परन्तु भाई! यह जंगल में नहीं, बल्कि अंदर आत्मा में जाने की बात है। जिसको अपने चैतन्य महाप्रभु का आश्रय हो गया है, वह बाहर में, घर में हो या वन में, उसे तो दोनों ही परज्ञेयरूप से एक समान हैं।

हाँ, घर में या वन में रहने का वर्तमान में जितना लक्ष्य है, उतना राग है। वह उस राग को भी अन्तर्मुखी पुरुषार्थ के बल से छोड़ देता है और स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि परद्रव्य अंदर आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो गया। शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि 'आत्मा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से शून्य है; क्योंकि आत्मा में एक त्यागोपादानशून्यत्व नाम की शक्ति है।' फिर भी जो ऐसा कहा जाता है कि परद्रव्य को छोड़ो या परद्रव्य का त्याग करो, उस कथन का क्या अभिप्राय है?

अरे भाई! यह भी एक उपदेश की शैली है, जिनागम की कथन पद्धति है। ऐसा कहकर आचार्यदेव ने तत्संबंधी राग का त्याग करने को कहा है। जिसके लक्ष्य से राग होता है, उस परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ो। उस तरफ से अपने उपयोग को हटा ले। पर की ओर का लक्ष्य हटते ही तत्संबंधी राग मिट जाता है। बस, उसे ही परद्रव्य का त्याग किया — ऐसा कहा जाता है। बंध अधिकार है न? अत: यहाँ परद्रव्य के लक्ष्य अथवा आश्रय से ही बंध होना कहा है और परद्रव्य का लक्ष्य या आश्रय छूटते ही उस जाति का राग टूट जाता है — इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।[१]''

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं —

(सवैया इकतीसा)

ग्यानी भेदग्यान सौं विलेछि पुद्गल कर्म,
आतमीक धर्म सौं निरालौ करि मानतौ ।
ताकौ मूल कारन अशुद्ध रागभाव ताके,
नासिबे कौं सुद्ध अनुभौ अभ्यास ठानतौ ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २८६

याही अनुक्रम पररूप सनबंध त्यागि,
आपमांहि अपनौ सुभाव गहि आनतौ ।
साधि सिवचाल निरबंध होत तिहूं काल,
केवल विलोक पाइ लोकालोक जानतौ ॥

ज्ञानी जीव भेदविज्ञान के बल से अपने आत्मा को पुद्गलकर्म से भिन्न जानकर अपने आत्मिक धर्मों से सम्पन्न निराला मानता है और पौद्गलिककर्मों के बंधन के मूलकारण जो आत्मा के अशुद्ध परिणामरूप रागादिभाव हैं; उनका नाश करने के लिए शुद्धात्मा के अनुभव करने का अभ्यास करता है।

इसप्रकार अनुक्रम से परपदार्थों से सम्बन्ध को तोड़कर अपने में अपना स्वभाव ग्रहण करता है। इसप्रकार मुक्ति के मार्ग की साधना करके तीनों काल सम्बन्धी बन्ध का अभाव कर लोकालोक को जाननेवाले केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस कलश में इस सम्पूर्ण प्रकरण का उपसंहार है, जिसमें कहा गया है कि इसप्रकार वस्तुस्वरूप जानकर, बन्ध की प्रक्रिया को पहिचान कर ज्ञानी जीव परलक्ष्य से उत्पन्न भावों को उखाड़ कर कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं और उनका ज्ञानस्वभाव-आनन्दस्वभाव पर्याय में भी स्फुरायमान हो जाता है।

अब बंधाधिकार के अन्त में अन्तिम मंगल के रूप में ज्ञानज्योति का स्मरण करते हैं —

(मदाक्रान्ता)

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां ।
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ॥
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत् ।
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥ १७९ ॥

(सवैया इकतीसा)

बंध के जो मूल उन रागादिभावों को,
जड़ से उखाड़ने उदीयमान हो रही ।
जिसके उदय से चिन्मयलोक की,
यह कर्मकालिमा विलीयमान हो रही ॥

जिसके उदय को कोई ना रोक सके,
अद्भुत शोर्य से विकासमान हो रही ।
कमर कसे हुए धीर-वीर गंभीर,
दिव्य ज्ञानज्योति प्रकाशमान हो रही ॥ १७९ ॥

बंध के कारणभूत रागादिभावों के उदय को निर्दयतापूर्वक विदारण करती हुई, उन रागादि के कार्यरूप ज्ञानावरणादि कर्मों के अनेक प्रकार के द्रव्यबंध को तत्काल ही दूर करके अज्ञानांधकार को नाश करनेवाली यह ज्ञानज्योति ऐसी प्रगट हुई, सम्पन्न हुई कि अब उसके विस्तार को, प्रसार को अन्य कोई रोक नहीं सकता, आवृत्त नहीं कर सकता।

तात्पर्य यह है कि जब सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट होती है; तब रागादिक नहीं रहते, रागादि के कर्मबंधरूप कार्य भी नहीं रहते; ऐसी स्थिति में ज्ञानज्योति को आवृत्त करनेवाला कोई नहीं रहता।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं —

(सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ मनुष्य अजान महाबलवान,
खोदि मूल वृच्छ कौ उखारै गहि बाहू सौं ।
तैसैं मतिमान दर्वकर्म भावकर्म त्यागि,
ह्वै रहै अतीत मतिग्यान की दशाहू सौं ॥
याही क्रिया अनुसार मिटै मोह अंधकार,
जगै जोति केवल प्रधान सविताहू सौं ।
चुकै न सकती सौं लुकै न पुद्गल मांहि,
धुकै मोख थल कौं रुकै न फिर काहू सौं ॥

जिसप्रकार कोई अजान महाबलवान पुरुष वृक्ष की जड़ को खोदकर अपनी भुजा से पकड़कर उखाड़ डालता है; उसीप्रकार मतिमान ज्ञानी जीव द्रव्यकर्म और भावकर्मों को त्यागकर मतिज्ञान की दशा से अतीत हो जाते हैं, पार हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उन्हें केवलज्ञान हो जाता है।

अरे भाई! इसी क्रिया के अनुसार मोहान्धकार नष्ट होता है, मोहान्धकार के नाश की यही विधि है और इसी क्रिया से सूर्य के समान केवलज्ञानज्योति

प्रकाशमान होती है। वह केवलज्ञानज्योति पुद्गल में छुपती नहीं है, किसी भी शक्ति से चुकती नहीं है और मोक्ष की ओर तेजी से गमन करती है; किसी के रोके रुकती नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी धर्मात्मा शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करते हैं।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"यहाँ कहते हैं कि बन्ध के कारणभूत जो अनादि से राग-द्वेष-मोह के भाव होते हैं, ज्ञानी अपने भगवान आत्मा के आश्रय से उनका नाश कर देता है।[१]

सारा जगत यह माने बैठा है कि 'मैं दूसरों का भला करता हूँ, बुरा करता हूँ, भला-बुरा कर सकता हूँ। जगत का कल्याण कर दूँ' — उसकी यह मान्यता बन्ध के कारणरूप तथा मिथ्यात्व व रागादिभावरूप है। ज्ञानी स्वभाव के उग्र पुरुषार्थ से उन मिथ्यात्व व रागादिभावों का निर्दयतापूर्वक नाश कर देता है। तात्पर्य यह है कि जब वह स्वयं अपने शुद्ध एक ज्ञानानन्दस्वभाव में संलग्न रहता है तो राग उत्पन्न ही नहीं होता। इसे ही निर्दयतापूर्वक नाश करना कहा जाता है।[२]

इसप्रकार स्वपर की पहचान करता हुआ स्वपरप्रकाशक ज्ञान जो शक्तिरूप से अन्दर था, अब पर्याय में प्रगट हो गया है। बस यही मोक्ष का मार्ग है। वह इसप्रकार प्रगट हुआ है कि अब उसे कोई भी शक्ति पुनः आवृत नहीं कर सकती, रोक नहीं सकती। अब जब कोई आवरण करनेवाला नहीं रहा; तब वह ज्ञानज्योति सम्पूर्ण लोकालोक को जानने की सामर्थ्य सहित प्रगट हो गई है।[३]"

अन्त में आत्मख्याति में **इति बंधो निष्क्रान्तः** —इसप्रकार बंध रंगभूमि से बाहर निकल गया — कहकर बंधाधिकार का समापन कर दिया गया।

बंधाधिकार के समापन के अवसर पर एक छन्द पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भी लिखते हैं; जिसमें बंधाधिकार का सार समाहित कर लिया गया है।

वह छन्द मूलतः इसप्रकार है —

(सवैया तेईसा)

ज्यों नर कोय परै रजमाहिं सचिक्कण अंग लगै वह गाढै,
त्यों मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बन्धन बाढ़े;
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाटै,
नाहिं बँधै तब कर्मसमूह जु आप गहै परभावनि काटै।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३०३
२. वही, पृष्ठ ३०३
३. वही, पृष्ठ ३०५

जिसप्रकार कोई व्यक्ति अपने अंगों पर चिकनाई लगाकर धूल में पड़ता है, लेटता है, लोटता है तो वह धूल उसे गाढ़ेपन से लग जाती है, चिपट जाती है; उसीप्रकार कोई मतिहीन अज्ञानी जीव राग-द्वेष में लिप्त होकर विचरण करता है तो उसे कर्मबंध होता ही है।

यथासमय यथार्थ उपदेश प्राप्तकर, सद्गुरु से परमसत्य को समझकर, बंध की पद्धति और उससे बचने का उपाय समझकर, भगवान आत्मा का सच्चा स्वरूप समझकर, राग-द्वेष को तजकर जब यह आत्मा निजात्मस्वभाव में रमण करता है, अपने भगवान आत्मा को चाटता है तो परभावों को काटता हुआ कर्मसमूह के बंधन को प्राप्त नहीं होता।

यहाँ भगवान आत्मा में लीन होने के अर्थ में **निजचाटै** शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसप्रकार तत्काल उत्पन्न हुए बछड़े को गाय अत्यन्त प्रेमपूर्वक चाटती है; उसीप्रकार ज्ञानी जीव भी अत्यन्त प्रेमपूर्वक निज आत्मा में लीन होते हैं।

तात्पर्य यह है कर्मबंधनरूप द्रव्यबंध और परभावरूप भावबंध से बचने का उपाय निज भगवान आत्मा को जानकर, उसमें ही अपनापन स्थापित करके, उसी में जमना-रमना है।

उक्त छन्द के मर्म को खोलते हुए स्वामीजी कहते हैं —

"यदि कोई निकटभव्यजीव परमार्थ उपदेश को प्राप्त करके पर की ओर के झुकाव को छोड़कर विकार के स्वाद को छोड़ देता है तो उसे भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत का स्वाद आता है, शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। बस, इसी का नाम धर्म है। इसे ही 'निजचाटै' शब्द द्वारा व्यक्त किया है।[१]

वास्तविकता यह है कि जो यथार्थ उपदेश को प्राप्त करके परद्रव्य के निमित्त से हुए नैमित्तिकभावों को—विकार को छोड़कर शुद्ध चैतन्यतत्त्व में अन्तर्लीन होता है, उसे शुद्ध आत्मानुभूति प्रकट होती है और वह उसमें निराकुल आनन्द को वेदता है — अनुभव करता है। अतः ऐसी निजानन्द रस की दशा ही धर्म है। बाकी पर में कर्त्ताबुद्धि के सारे विकल्प अधर्म हैं।[२]"

इसप्रकार यहाँ बंधाधिकार समाप्त होता है। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३०७

२. वही, पृष्ठ ३०७

मोक्षाधिकार

जीवाजीवाधिकार से संवराधिकार तक भगवान आत्मा को परपदार्थों और विकारी भावों से भिन्न बताकर अनेकप्रकार से भेदविज्ञान कराया गया है और निर्जराधिकार में भेदविज्ञानसम्पन्न आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टियों के भूमिकानुसार भोग और संयोगों का योग होने पर भी बंध नहीं होता, अपितु निर्जरा होती है — इस बात को सयुक्ति स्पष्ट किया गया है। बंधाधिकार में बंध के मूलकारणों पर प्रकाश डालने के उपरान्त अब इस मोक्षाधिकार में मुक्ति के वास्तविक उपाय पर प्रकाश डालते हैं।

अन्य अधिकारों के समान इस अधिकार का आरम्भ भी आत्मख्यातिकार **अथ प्रविशति मोक्षः** — इसप्रकार के वाक्य से करते हैं। तात्पर्य यह है कि मोक्ष भी एक स्वाँग है, मूलवस्तु नहीं है।

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार समझाते हैं —

''मोक्ष पर्याय है, यह त्रिकाली वस्तु नहीं है। जिसतरह संसार विकारी भेष है, मोक्षमार्ग आंशिक निर्मल भेष है; उसीतरह मोक्ष पूर्ण आनन्द की दशा का भेष है। जो भी नवीन अवस्थायें होती हैं; वे सब भेष हैं, स्वाँग हैं। मोक्ष भी एक स्वाँग है। स्थाई रहनेवाला तत्त्व तो त्रिकाली एक, ध्रुव, चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही है।

जिसप्रकार नृत्य के अखाड़े में अर्थात् नाटक के रंगमंच पर नाटक करनेवाला प्रवेश करता है; उसीप्रकार यहाँ मोक्षतत्त्व का स्वाँग धारण करके जीव प्रवेश करता है। वह सम्यक् प्रकार से सर्व स्वाँगों को जाननेवाला है। शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष आदि सभी स्वाँगों को जानता है।[१]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३१२

इस मोक्षाधिकार के आरंभ में सर्वप्रथम मंगलाचरण करते हुए आचार्य अमृतचंद्रदेव आत्मख्याति में उस ज्ञान को स्मरण करते हैं; जिस ज्ञान ने बंध और आत्मा को भिन्न-भिन्न करके आत्मा को कर्मबंधन से मुक्त किया है।

मंगलाचरण का उक्त छन्द मूलत: इसप्रकार है —

(शिखरणी)

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बंधपुरुषौ,
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतम् ॥
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानंदसरसं,
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥ १८० ॥

(हरिगीत)

निज आतमा अर बंध को कर पृथक् प्रज्ञाछैनि से ।
सद्ज्ञानमय निज आत्म को कर सरस परमानन्द से ॥
उत्कृष्ट है कृतकृत्य है परिपूर्णता को प्राप्त है ।
प्रगटित हुई वह ज्ञानज्योति जो स्वयं में व्याप्त है ॥ १८० ॥

अब प्रगट होनेवाले सहज परमानन्द से सरस, कृतकृत्य और उत्कृष्ट यह पूर्णज्ञान अनुभूति द्वारा निश्चित आत्मा को प्रज्ञारूपी करवत (आरा) द्वारा विदारण करके बंध और आत्मा को भिन्न-भिन्न करके आत्मा को साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ जयवंत वर्तता है।

यहाँ उस पूर्णज्ञान को स्मरण किया गया है; जो सहज परमानन्द से सरस है, करने योग्य सबकुछ कर लेने से कृतकृत्य है और सर्वश्रेष्ठ है तथा जिसने उस आत्मा को साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति कराई है, जिसने अनुभूति में प्राप्त आत्मा और बंध को भिन्न-भिन्न करके आत्मानुभूति प्राप्त की थी।

इसप्रकार इस मंगलाचरण के छन्द में यह भी कह दिया गया है कि आत्मा और बंध के बीच भेद जाननेवाले आत्मानुभवी पुरुष ही स्वयं में जमकर-रमकर पूर्णज्ञान प्राप्त करते हैं; सकल कर्मों से मुक्त होते हैं, मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"जिसप्रकार करोंत (आरी) से लकड़ी को चीरकर दो टुकड़े कर देते हैं अथवा कुल्हाड़ी से लकड़ी के संधि स्थान में चोट करके लकड़ी को फाड़कर उसके दो भाग अलग-अलग कर देते हैं; उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष प्रज्ञारूपी करोंत या कुल्हाड़ी से आत्मा व रागादि बंध को अलग-अलग कर देते हैं। बंध अर्थात् राग-व्यवहार भाव तथा आत्मा अर्थात् निश्चय शुद्धवस्तु — दोनों ही भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। इन्हें अपने ज्ञान में प्रज्ञारूपी छैनी से भिन्न जानने-मानने का नाम ही धर्म है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में तो उसे ही पुरुष कहा है, जो अपने ज्ञानानन्दस्वभाव का सेवन करता है। यहाँ आत्मा को ही पुरुषसंज्ञा से अभिहित किया है। जो उसे जाने-पहचाने, उसी में जमे-रमे, वही पुरुष है। अपने स्वरूप में जमने-रमनेवाले आत्मा ही सच्चे अर्थों में पुरुष हैं। शेष सब तो नपुंसक हैं।

जितने भी रागादि विकल्प हैं, उनसे भगवान आत्मा को भिन्न जानकर तथा राग का लक्ष्य छोड़कर, अन्दर जो ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा विराजमान है, उसमें झुकने, उस ओर ढलने से जो अनुभूति होती है; उस अनुभूति से ही आत्मा का निश्चय होता है, आत्मा प्राप्त होता है। राग व व्यवहार से आत्मा प्राप्त नहीं होता। जिस राग से आत्मा को भिन्न करना है, उससे ही आत्मा की प्राप्ति कैसे संभव है?[१]

वह ज्ञान आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराता हुआ अपने संपूर्ण स्वरूप केवलज्ञान को प्रगट करके सदा जयवंत वर्तता है। शक्तिरूप से अन्दर में जो अनन्तज्ञान व आनन्द था, वह शक्तिवान आत्मा में एकाग्रता के ध्यान से पर्याय में प्रगट हो गया, वह सदा जयवंत वर्तता है।

इसप्रकार यहाँ जो ज्ञान की सर्वोत्कृष्टरूप में महिमा प्रगट की है, वही मंगलवचन है।[२]"

यह छन्द मोक्षाधिकार का मंगलाचरणरूप होने से यहाँ सम्यग्ज्ञानज्योति को मुक्ति प्राप्त करानेवाली बताकर उसका महत्त्व बताया है, उसका स्मरण किया है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३१०
२. वही, पृष्ठ ३११

नाटक समयसार में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार किया गया है —

(सवैया इकतीसा)

भेदग्यान आरा सौं दुफारा करै ग्यानी जीव,
आतम करम धारा भिन्न-भिन्न चरचै ।
अनुभौ अभ्यास लहै परम धरम गहै,
करम भरम कौ खजानौ खोलि खरचै ॥
यौ ही मोख मुख धावै केवल निकट आवै,
पूरन समाधि लहै परम कौ परचै ।
भयौ निरदौर याहि करनौ न कछु और,
ऐसौ विश्वनाथ ताहि बनारसी अरचै ॥

ज्ञानीजीव भेदज्ञानरूपी आरे से आत्मा अर्थात् ज्ञानधारा और कर्मधारा को दुफाड़ा करके, भिन्न-भिन्न करके आत्मा के अनुभव का अभ्यास करता है, परम धर्म को ग्रहण करता है, कर्मोदय से उत्पन्न कर्म के खजाने को दिल खोलकर खर्च कर देता है। तात्पर्य यह है इस आत्मानुभव की प्रक्रिया से कर्मों की निर्जरा होती है।

इसप्रकार निर्जरा करता हुआ वह ज्ञानीजीव मोक्ष की ओर तेजी से गमन करता है, केवलज्ञान उसके अतिनिकट आ जाता है और पूर्ण समाधि को प्राप्त होकर वह परमतत्त्व में विलीन हो जाता है। इसप्रकार वह निरदौर हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उसकी दौड़-धूप समाप्त हो जाती है, उसका संसारपरिभ्रमण समाप्त हो जाता है, वह कृतकृत्य हो जाता है, उसे अब कुछ भी करना बाकी नहीं रहता है। ऐसे सम्पूर्ण विश्व को जाननेवाले विश्वनाथ भगवान आत्मा की बनारसीदासजी पूजन करते हैं, वे उसे नमस्कार करते हैं।

इसप्रकार इस मंगलाचरण के छन्द में पूर्णज्ञान को, परिपूर्ण ज्ञानज्योति को स्मरण किया गया है, नमस्कार किया गया है। •

समयसार गाथा २८८-२९०

मंगलाचरण के उपरान्त अब मोक्षाधिकार की मूल गाथायें आरंभ करते हैं; जिनमें आरंभ की तीन-तीन गाथायें इसप्रकार हैं —

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥ २८८ ॥
जइ ण वि कुणदि च्छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो सं ।
कालेण उ बहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥ २८९ ॥
इय कम्मबंधणाणं पदेसठिइपयडिमेवमणुभागं ।
जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो ॥ २९० ॥

(हरिगीत)

कोई पुरुष चिरकाल से आबद्ध होकर बंध के ।
तीव्र-मन्दस्वभाव एवं काल को हो जानता ॥ २८८ ॥
किन्तु यदि वह बंध का छेदन न कर छूटे नहीं ।
तो वह पुरुष चिरकाल तक निज मुक्ति को पाता नहीं ॥ २८९ ॥
इस ही तरह प्रकृति प्रदेश स्थिति अर अनुभाग को ।
जानकर भी नहीं छूटे शुद्ध हो तब छूटता ॥ २९० ॥

जिसप्रकार बहुत काल से बंधन में बंधा हुआ कोई पुरुष उस बंधन के तीव्रमंदस्वभाव को, उसकी कालावधि को तो जानता है; किन्तु उस बंधन को काटता नहीं है तो वह उससे मुक्त नहीं होता तथा बंधन में रहता हुआ वह पुरुष बहुत काल में भी बंधन से छूटनेरूप मुक्ति को प्राप्त नहीं करता।

उसीप्रकार यह आत्मा कर्मबंधनों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग को जानता हुआ भी कर्मबंधन से नहीं छूटता; किन्तु यदि रागादि को दूरकर वह स्वयं शुद्ध होता है तो कर्मबंधन से छूट जाता है।

तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति बंधन को जानने मात्र से बंधन मुक्त नहीं होता; बंधनों से मुक्त होने के लिए आत्मा को जानना-पहिचानना पड़ता है और

आत्मा में ही जमकर-रमकर रागादिभावों को दूर करना पड़ता है। ऐसा करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"आत्मा और बंध को अलग-अलग कर देना मोक्ष है। कोई कहता है कि बंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र ही मोक्ष का कारण है; किन्तु यह बात ठीक नहीं है। कर्म से बंधे हुए जीव को बंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार बेड़ी आदि से बंधे हुए जीव को बंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र बंधन से मुक्त होने का कारण नहीं है; उसीप्रकार कर्म से बंधे हुए जीव को कर्मबंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र कर्मबंधन से मुक्त होने का कारण नहीं है।

इस कथन से उनका खण्डन हो गया, जो कर्मबंध के विस्तार के ज्ञान से ही सन्तुष्ट हैं।"

करणानुयोग के शास्त्रों में कर्मबंधन की प्रक्रिया का विस्तार से निरूपण है। उसका अध्ययन कर जो लोग यह समझते हैं कि हमारे कर्मबंधन कट जावेंगे; क्योंकि हम तो सब जानते हैं कि कौनसा कर्म कब बंधता है, कैसे बंधता है ?

ऐसे लोगों से यहाँ कहा जा रहा है कि बंधन के स्वरूप को जानने मात्र से बंधन नहीं कटते।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि जो कर्मशास्त्रों का अध्ययन करके सन्तुष्ट हैं और ऐसा मान रहे हैं कि हम बड़े धर्मात्मा हैं और हमारे कर्मबंधन तो हमारे इस कर्मशास्त्रों के अध्ययन-मनन से ही कट जावेंगे; वे बहुत बड़े धोखे में हैं; क्योंकि बंधन के ज्ञान से बंधन नहीं कटते।

इस बात को आचार्य जयसेन और भी अधिक स्पष्टता से व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं —

"ज्ञानावरणादि मूलोत्तर प्रकृतियों के भेदवाले कर्मबंधनों के प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को जानता हुआ भी जीव कर्मबंधनों से मुक्त नहीं होता; किन्तु जब मिथ्यात्व और रागादि से रहित होता है, तब अनन्तज्ञानादिगुणात्मक

परमात्मस्वरूप में स्थित होता हुआ सर्व कर्मबंधनों से मुक्त होता है अथवा पाठान्तर यह भी है कि जब वह उन कर्मबंधनों को छेदता है, तब मुक्त होता है।

इस व्याख्यान से उन लोगों का खण्डन हो गया, जो लोग कर्मशास्त्रों में कथित प्रकृति आदि बंध के ज्ञान से ही सन्तुष्ट हैं।

क्यों ?

क्योंकि स्वरूप की उपलब्धिरूप वीतरागचरित्र से रहित लोगों को बंध के ज्ञानमात्र से स्वर्गादिसुख का निमित्तभूत पुण्य तो बंधता है, पर मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

इस व्याख्यान से कर्मबंध के निरूपक शास्त्रों के अध्ययन-मनन में ही सन्तुष्ट लोगों का निराकरण हो गया।''

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

''सिद्धशिला पर लटकने का नाम मोक्ष नहीं है। मोक्ष मानें ज्ञानानंदस्वरूपी भगवान आत्मा जब दु:ख की दशा से भिन्न पड़कर निज आनन्दरसकंदस्वरूप निज आत्मा में रहता है तो वही दशा मोक्ष है। पर्याय में परम आनन्द का लाभ होने का नाम ही मोक्ष है — ऐसा नियमसार में कहा है। पूर्ण चैतन्यघन प्रभु आत्मा की सम्यग्दर्शनरूप प्रतीति करना — केवलज्ञानरूप पूर्ण उपलब्धि करना — बस इसी का नाम मोक्ष है।

दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान आत्मा की पर्याय में अनादि से जो विकार का संबंध है, वही बंध है और वही संसार है। जब उस कर्म विकार से आत्मा मुक्त होकर पूर्ण अबन्ध हो जाता है, तब पूर्ण ज्ञान व आनंद की दशा प्रगट होती है। उसी अवस्था का नाम मोक्ष है।[१]

जब जीव राग व आत्मा को भिन्न-भिन्न जाने, राग से भिन्न शुद्ध आत्मा का अनुभव करे; तब धर्म होता है और तभी बंध से छूटता है। मात्र बंध के प्रपंच यानि भेद-प्रभेदों को जानने से धर्म नहीं होता, मोक्ष नहीं होता। कर्म प्रक्रिया को जानकर उनसे भेदज्ञान करके आत्मा में जमने-रमने से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है और यही धर्म है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३१५

२. वही, पृष्ठ ३१६

कर्म तो विधिवत् छेद करने से ही छिदते हैं, नष्ट होते हैं। अन्दर आत्मा में शुद्ध दृष्टि करे और उसी में रमणता करे तो कर्म नष्ट होते हैं। प्रज्ञा से राग को आत्मा से भिन्न करे तथा स्वरूप का अनुभव करे तो कर्म नष्ट होते हैं। शुद्ध का अनुभव करने से शुद्धता होती है। बंध के स्वरूप के विकल्पमात्र से बंध कभी भी नष्ट नहीं होता।[१]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही बताया गया है कि कर्मबंध के भेद-प्रभेदों के जाननेमात्र से कर्मबंधन का नाश नहीं होता, मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

देखो, यहाँ आचार्यदेव कर्मशास्त्र के विस्तार में जाने को प्रपंच में पड़ना कह रहे हैं। वैसे प्रपंच शब्द का अर्थ विस्तार ही होता है। तात्पर्य यह है कि आवश्यकतानुसार प्रयोजनभूत जानकारी का निषेध नहीं है; तथापि उसी में उलझे रहना और यह मानना कि यह मुक्ति का साधन है, हमें इसी से मुक्ति की प्राप्ति हो जावेगी; कदापि ठीक नहीं है। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३१६

भाई ! ये बननेवाले भगवान की बात नहीं है, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है। — ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जमजाना, रमजाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एकबार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायगा, लीन हो जायगा, समाधिस्थ हो जायगा। ऐसा होनेपर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख।

— आत्मा ही है शरण, पृष्ठ ८३

समयसार गाथा २९१-२९३

जो बात विगत गाथाओं में कही गई है, अब उसी बात को आगामी गाथाओं में सतर्क सिद्ध करते हैं।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं —

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ॥ २९१ ॥
जह बंधे छेत्तूण य बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥ २९२ ॥
बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि ॥ २९३ ॥

(हरिगीत)

चिन्तवन से बंध के ज्यों बंधे जन ना मुक्त हों ।
त्यों चिन्तवन से बंध के बंधे जीव न मुक्त हों ॥ २९१ ॥
छेदकर सब बंधनों को बद्धजन ज्यों मुक्त हों ।
त्यों छेदकर सब बंधनों को बद्धजिय सब मुक्त हों ॥ २९२ ॥
जो जानकर निजभाव निज में और बंधस्वभाव को ।
विरक्त हों जो बंध से वे जीव कर्म विमुक्त हों ॥ २९३ ॥

जिसप्रकार बंधनों से बंधा हुआ पुरुष बंधनों का विचार करने से बंधनों से मुक्त नहीं होता; उसीप्रकार जीव भी बन्धों के विचार करने से मुक्ति को प्राप्त नहीं करता।

जिसप्रकार बंधनबद्धपुरुष बंधनों को छेदकर मुक्त होता है; उसीप्रकार जीव भी बन्धनों को छेदकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

बंधों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर जो जीव बंधों के प्रति विरक्त होता है; वह कर्मों से मुक्त होता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"अन्य अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि बंधसंबंधी विचारशृंखला ही मोक्ष का कारण है; किन्तु यह भी ठीक नहीं है। कर्म से बंधे हुए जीवों को बंधसंबंधी विचारशृंखला भी मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार बेड़ी आदि से बंधे हुए पुरुष को उक्त बंधनसंबंधी विचारशृंखला बंध से छूटने का कारण (उपाय) नहीं है; उसीप्रकार कर्म से बंधे हुए पुरुष को कर्मबंधसंबंधी विचारशृंखला कर्मबंध से मुक्ति का कारण (उपाय) नहीं है।

इस कथन से कर्मसंबंधी विचारशृंखलारूप विशुद्ध (शुभ) भावरूप धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अंध है; उन्हें समझाया है।

कर्म से बंधे हुए जीव को बंध का छेद ही मोक्ष का कारण है; क्योंकि जिसप्रकार बेड़ी आदि से बंधे हुए पुरुष को बंधन का छेद ही बंधन से छूटने का उपाय है; उसीप्रकार कर्म से बंधे हुए जीव को कर्मबंधन का छेद ही कर्मबंधन से छूटने का उपाय है।

इस कथन से पूर्वकथित बंध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से ही सन्तुष्ट और बंध का विचार करनेवाले — इन दोनों को आत्मा और बंध के द्विधाकरण के व्यापार में लगाया जाता है।

जो निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को और उस आत्मा को विकृत करनेवाले बंध के स्वभाव को जानकर बंध से विरक्त होता है; वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है।

इस कथन से ऐसा नियम (सुनिश्चित) किया जाता है कि आत्मा और बंध का द्विधाकरण (पृथक्करण) ही मोक्ष का कारण है।"

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र कर्मबंधसंबंधी विचारशृंखलारूप धर्मध्यान से मुक्ति माननेवालों को अंधबुद्धि कह रहे हैं। बंध और आत्मा के बीच किये गये भेदविज्ञान को मुक्ति का कारण बताते हुए वे यहाँ बंध का विचार करनेवाले और बंध के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट लोगों को आत्मा और बंध के द्विधाकरण में लगाना चाहते हैं। इसकारण निष्कर्ष वाक्य में वे साफ-साफ कहते हैं कि इन दोनों को आत्मा और बंध के द्विधाकरण में लगाया जाता है; क्योंकि यह सुनिश्चित है कि आत्मा और बंध का द्विधाकरण ही मुक्ति का कारण है।

इस संबंध में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है —

"विशुद्ध धर्मध्यान का अर्थ है शुभभाव, जो कि पुण्यबंध का कारण है। इसे ही आगम में अपायविचय धर्मध्यान कहा है। 'धर्मध्यान' शब्द जरा अटपटा लगता है, परन्तु यहाँ यह नाम व्यवहार धर्मध्यान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नियमसार में आया है कि निश्चय धर्मध्यान व व्यवहार धर्मध्यान — दोनों भिन्न-भिन्न हैं। शुद्ध आत्मा के आश्रय से जो शुद्धता प्रगट होती है, वह निश्चय धर्मध्यान है तथा कर्म आदि की चर्चा एवं विचारधारारूप पर के लक्ष्य से जो शुभभाव होता है, वह व्यवहार धर्मध्यान है। वर्तमान में लोगों में अधिकांश यह बात चलती है कि शुभभाव से धर्म होता है, परन्तु भाई! शुभभाव निश्चय से तो आर्तध्यानरूप भाव है — यह धर्मध्यान हो भी कैसे? देखो न! यह स्पष्ट कहा है कि 'विशुद्ध धर्मध्यान से जिसकी बुद्धि अंध है .....।' शुभभाव से धर्म माननेवाले, शुभभाव से बंधन से छूटना माननेवाले अंध हैं — ऐसा कहा है।

अरे भाई! देखो, जो शुभभाव में आकंठ निमग्न हो गये हैं, उन जीवों को यह खबर नहीं है कि अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का पिण्डस्वरूप चैतन्य महाप्रभु हम स्वयं हैं। वे अंधबुद्धि हैं न ?[१]

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि जो अपने अनन्त शक्तिस्वरूप भगवान आत्मा का आश्रय न लेकर स्वाध्याय के माध्यम से कर्म के बंध, उदय, सत्ता आदि की शुभभावरूप चर्चामात्र से सन्तुष्ट है, वह अंधबुद्धि है; क्योंकि वह केवल शुभभाव को ही देखता है; इन शुभभावों से भिन्न अपने भगवान आत्मा को नहीं देखता।[२]

कर्मों से छूटने को मोक्ष कहना निमित्तसापेक्ष कथन है और विकार से छूटने को मोक्ष कहना अशुद्ध उपादानसापेक्ष कथन है तथा शुद्ध उपादान की अपेक्षा कहें तो अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करनेवालों को मोक्ष होता है — ऐसा कहा जाता है। शुद्ध आत्मा का आश्रय लेने से विकार उत्पन्न ही नहीं होता। बस, इसे ही विकार का छेद कहा जाता है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३१९
२. वही, पृष्ठ ३२०
३. वही, पृष्ठ ३२२

राग को राग में रहने दो और ज्ञानोपयोग को अन्दर ज्ञानस्वभावी आत्मा में जोड़ दो तो राग व आत्मा भिन्न हो जाते हैं। बस, यही धर्म है और धर्म करने की विधि भी एकमात्र यही है। शेष धार्मिक क्रियायें सब इसी के साधनभूत हैं; अत: व्यवहार से उन साधनों को भी धर्म कहा जाता है।[१]

देखो, पूरे दिन धंधा-व्यापार, स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब के भरण-पोषण तथा भोग-उपभोग में लगे रहना — यह पाप का व्यापार है तथा दया-दान, भक्ति-पूजा और बंध-मोक्ष आदि के विचारों में अटके रहना — यह सब पुण्य का व्यापार है एवं पुण्य-पाप से भिन्न अन्दर विराज रहे शुद्धचैतन्य में लगना भेदज्ञान का व्यापार है, धर्म का व्यापार है।

आत्मा को राग से भिन्न करने का यह व्यापार ही धर्म है। अरे भाई! अनादि से ज्ञान को राग में जोड़ रखा है, वहाँ से तोड़कर ज्ञान को आत्मा में जोड़ना ही धर्म का प्रथम सोपान है।[२]

अहो ! आत्मा का स्वभाव ऐसा आश्चर्यकारक है कि पर में कुछ फेरफार करता नहीं और सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्त परपदार्थों सहित लोकालोक को जानता है। चैतन्यचमत्कारमात्र कहकर यह कहा गया है कि आत्मा मात्र ज्ञायकस्वभावी है। पर के या राग के भाव भी आत्मा की चीज नहीं हैं — ये भाव भी शरीर की भाँति ही आत्मा से अन्य हैं।

ऐसे आत्मस्वभाव को और विकार करनेवाले बंधस्वभाव को — दोनों को जानकर जो बंध से विराम ले लेता है अर्थात् रागादिभाव से विरक्त हो जाता है; वही सर्वकर्मों से छूटता है। व्यवहाररत्नत्रय का राग भी बंधस्वभाव ही है; अत: उससे भी जो विरक्त होता है, वह सर्वकर्मों से छूटता है, मुक्ति प्राप्त करता है।

रागादि विकारों से आत्मा को भिन्न करना ही मोक्ष का कारण है — ऐसा नियम इस कथन से सिद्ध होता है। रागादि से भिन्न आत्मा की प्रतीति करना सम्यग्दर्शन, रागादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान और रागादि से भिन्न आत्मा का आचरण करना सम्यक्चारित्र है। इसप्रकार राग से, विकार से आत्मा को भिन्न करना — अनुभवना मोक्ष का कारण है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३२३
२. वही, पृष्ठ ३२३

यह सिद्धान्त फलित होने पर यह बात ही कहाँ ठहरती है कि व्यवहाररत्नत्रय से निश्चयमोक्षमार्ग होता है? यहाँ तो यह कह रहे हैं कि व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग से आत्मा को भिन्न अनुभव करना मोक्ष का कारण है।[१]''

स्वामीजी के उक्त कथन में धर्मध्यान को निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का बताया गया है और कर्मबंधन के चिंतन को व्यवहार धर्मध्यान कहा गया है। उसी की पुष्टि इन्हीं गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति में प्राप्त आचार्य जयसेन के भावार्थ से भी होती है; जो इसप्रकार है —

''समस्त शुभाशुभ बाह्य द्रव्यों के अवलम्बन के बिना चिदानन्दस्वरूप एक आत्मा के अवलम्बन से उत्पन्न वीतराग धर्मशुक्लध्यान से रहित जीव बंधप्रपंचरचना के चिंतनरूप सराग धर्मध्यानरूप शुभोपयोग से स्वर्गादि सुख के कारणरूप पुण्यबंध को तो प्राप्त करते हैं; किन्तु मोक्ष को प्राप्त नहीं होते। — ऐसा भावार्थ है।''

इसी प्रकरण पर भावार्थ लिखते हुए मुनिश्री वीरसागरजी महाराज लिखते हैं —

''जो कोई ऐसा मानते हैं कि 'शास्त्र के पठन-पाठन, कर्मबंधन के उदय, बंध, उदीरणा आदि और प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदि प्रकार की चिंता-चर्चा-मनन-चिंतन-चिंतवन आदि करके और बहिरंग क्रिया करने से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ और मोक्षमार्ग शुरू हुआ' उनके प्रति सम्बोधन करते हुए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि बंध का चिंतन करने से शुभोपयोग होता है। वह चिंतवन बाह्यद्रव्य का आलम्बन लेकर होता है, उससे विकल्प ही होते हैं, वह निर्विकल्पसमाधि (स्वानुभूति - शुद्धोपयोग) नहीं है; इसलिए मोक्षमार्ग शुरू नहीं होता है। इस बंधन के विकल्प करते रहने से सम्यग्दर्शन - स्वानुभव प्राप्त नहीं होता है। यानि स्वानुभव लेने से ही चतुर्थादि गुणस्थान प्रगट होते हैं। स्वानुभव से ही मोक्ष प्राप्त होता है। स्वानुभव के समय अपने स्वभाव शुद्ध, परिपूर्ण, स्वतंत्र, चिदानन्दमय आत्मा का आलम्बन होने से वहाँ शुभाशुभभाव नहीं हैं; इसलिए कर्मबंध की संवरपूर्वक निर्जरा होती है — कर्मबंध छूटते हैं।''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३२५

उक्त सम्पूर्ण कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि कर्मबंध प्रक्रिया के ज्ञान और चिन्तन-मनन से कर्मबंध का अभाव नहीं होता; क्योंकि यह सब शुभभावरूप हैं और शुभभावों से पुण्यबंध होता है, बंध का अभाव नहीं होता, संवर-निर्जरा नहीं होते, मोक्ष नहीं होता।

प्रश्न : जिसप्रकार खाने के ज्ञान से अथवा खाने की चर्चा से पेट नहीं भरता, अपितु खाना खाने से पेट भरता है; उसीप्रकार बंध के ज्ञान और बंध की चर्चा से कर्म नहीं कटते, अपितु कर्म काटने से कर्म कटते हैं। — यह बात तो ठीक, किन्तु मूल बात तो यह है कर्म काटने के लिए क्या किया जाय ?

कर्म काटने के लिए भगवान की भक्ति, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, दया-दान और कठोर तपस्या ही करनी होगी न ?

उत्तर : अरे भाई ! ये सब तो शुभभाव और जड़ शरीर की क्रियारूप क्रियाकलाप हैं; कर्मबंध का अभाव इनसे नहीं होता। कर्मबंध का अभाव अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति तो निजात्म के अनुभव से होती है। यह बात आचार्य अमृतचंद्र और आचार्य जयसेन के कथनों से भली-भाँति सिद्ध हो चुकी है।

ध्यान रखने योग्य बात यह है कि यहाँ 'बंध के ज्ञान और बंध के विचार से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती' — यह कहकर आचार्यदेव हमें किसी क्रियाकाण्ड या शुभभाव में नहीं उलझाना चाहते हैं; अपितु इनसे विरक्त कर आत्मानुभव की ओर ले जाना चाहते हैं, भेद-विज्ञान की भावना को प्रबल करने की प्रेरणा देना चाहते हैं।

यहाँ एक बात और भी विशेष ध्यान देने योग्य है; वह यह है कि २९२वीं गाथा में जहाँ आत्मख्याति में **जह बंधे छेत्तूण** पद है, वही तात्पर्यवृत्ति में **जह बंधे मुत्तूण** पद पाया जाता है।

लगता है आचार्य जयसेन के सामने पाठान्तर के रूप में छेत्तूण, मुत्तूण और भित्तूण तीन रूप उपलब्ध थे; क्योंकि उन्होंने तात्पर्यवृत्ति में इस पद का अर्थ करते हुए **छित्वा, भित्वा** और **मुक्त्वा** —इसप्रकार तीन अर्थ किये हैं। उदाहरण में भी रस्सी से बंधा हुआ, सांकल से बंधा हुआ और काठ की बेड़ी से बंधा हुआ — ऐसे तीन प्रकार के पुरुष लिये हैं।

उनका कथन मूलत: इसप्रकार है —

"जिसप्रकार बन्धन में बंधा हुआ कोई पुरुष रस्सी के बंधन को, सांकल के बंधन को, काठ की बेड़ी के बंधन को — किसी भी प्रकार के बंधन को किसी को छेदकर, किसी को भेदकर और किसी को छोड़कर (खोलकर) अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से बंधन से मुक्त होता है; उसीप्रकार जीव भी वीतरागीनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानरूपी शस्त्र से बंध को छेदकर—दो टुकड़े कर, भेदकर—विदीर्णकर, छोड़कर—छुड़ाकर—खोलकर निजशुद्धात्म की उपलब्धिरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।"

इसी गाथा की टीका में आचार्य जयसेन एक ऐसे विषय पर प्रकाश डालते हैं, जो आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों के लिए अत्यंत उपयोगी है। वह इसप्रकार है —

"**यहाँ शिष्य कहता है** कि प्रकृत ग्रंथ में जो निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञान कहा है, वह घटित नहीं होता; क्योंकि जिसप्रकार जैनमत में सत्तावलोकनरूप चक्षुदर्शन आदि दर्शन निर्विकल्प कहे हैं; उसीप्रकार बौद्धमत में ज्ञान को निर्विकल्प कहा है; किन्तु वह निर्विकल्प भी विकल्प का जनक होता है। जैनमत में तो 'ज्ञान विकल्प का उत्पादक होता है' — ऐसा नहीं है; किन्तु ज्ञान स्वरूप से ही सविकल्प और स्वपरप्रकाशक है।

अब इसका समाधान करते हैं। वस्तुत: बात यह है कि जैनमत में ज्ञान को कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प कहा है।

वह इसप्रकार है — जिसप्रकार विषयानन्दरूप सरागस्वसंवेदनज्ञान सराग संवित्तिविकल्परूप से सविकल्प ही है; तो भी शेष अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों के सद्भाव होने पर भी उनकी मुख्यता नहीं होने से निर्विकल्प भी कहते हैं।

उसीप्रकार स्वशुद्धात्म की संवित्तिरूप वीतरागस्वसंवेदनज्ञान भी स्वसंवित्तिरूप एक आकार वाला होने से सविकल्प होने पर भी तथा शेष अनिच्छित सूक्ष्म बाह्य विकल्पों के सद्भाव होने पर भी, उनकी मुख्यता नहीं होने से शुद्धात्म की अनुभूति को निर्विकल्प भी कहते हैं।

ईहामतिज्ञानपूर्वक अथवा बुद्धिपूर्वक स्वसंवित्ति के आकाररूप अंतर्मुख प्रतिभास के होने पर भी उसीसमय अनिच्छित सूक्ष्म बाह्यविकल्प भी होते हैं; उसीकारण से स्वपरप्रकाशक सिद्ध होता है।

इसप्रकार निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञान का तथा स्वपरप्रकाश ज्ञान का यह कथन अत्यंत स्पष्ट है। यदि इसका व्याख्यान आगम, अध्यात्म और तर्कशास्त्र के अनुसार किया जाए तो बहुत विस्तार हो जाता है। यहाँ अध्यात्मशास्त्र होने से उसका कथन विस्तार से किया जाना उचित नहीं है।''

आचार्य जयसेन के उक्त कथन से यह बात अत्यंत स्पष्ट हो जाती है कि आत्मानुभूति के काल में आत्मा मुख्य और गौण रूप से स्व और पर — दोनों को ही जानता है तथा ज्ञान का स्वभाव ही विकल्पात्मक होने से अनुभव के काल में भी वह सविकल्प ही रहता है; क्योंकि उसकी आत्मसंवित्ति तो साकार (सविकल्प) है ही; अनिच्छित सूक्ष्म बाह्यविकल्प भी रहते ही हैं; उन्हें गौण करके ही आत्मानुभव को निर्विकल्प कहा जाता है।

इसप्रकार आत्मानुभव कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प होता है। इसमें भी सविकल्पता का वजन अधिक है; क्योंकि वह वस्तुस्थिति के आधार पर है, ज्ञान के सविकल्प (साकार) स्वभाव के आधार पर है और निर्विकल्पता अपेक्षाकृत कम वजनदार है; क्योंकि वह विकल्पों को गौण करके कही गई है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि आचार्यदेव स्वानुभूति को सविकल्प सिद्ध करने में उसके स्वपरप्रकाशकपने को हेतु रूप में प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो अनुभव के काल में ज्ञान स्वपरप्रकाशक नहीं रहेगा। लगता है कि आचार्यदेव को ज्ञान का स्वपरप्रकाशक नहीं रहना किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं है। इसीलिए वे ऐसा तर्क प्रस्तुत करते हैं।

इस संदर्भ में जो लोग भ्रमित हैं; उन्हें इस प्रकरण का गहराई से अध्ययन करना चाहिए।

प्रश्न : अनुभूति को तो निर्विकल्प ही कहा जाता है। अभीतक तो ऐसा ही सुनते आये हैं; पर यहाँ उसे कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प कहा जा रहा है। चलो, उसे भी मान लेते हैं; पर यह कैसे माना जा सकता है कि सविकल्पता का वजन अधिक है ?

उत्तर : कृपया आचार्य जयसेन के कथन को बारीकी से देखें। आचार्य जयसेन तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि बौद्धमत में ज्ञान को निर्विकल्प

कहते हैं; पर वह निर्विकल्पज्ञान भी विकल्प का जनक है; किन्तु जैनमत में तो ज्ञान को विकल्प का जनक न कहकर स्वरूप से ही सविकल्प और स्वपरप्रकाशक कहा है।

तात्पर्य यह है कि विकल्पात्मकता और स्वपरप्रकाशकपन ज्ञान का स्वभाव है, स्वरूप है; विभाव या विकार नहीं है।

आगे आचार्य जयसेन अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूप वीतरागस्वसंवेदनज्ञान स्वसंवित्तिरूप एक आकारवाला होने से सविकल्प होने पर भी तथा शेष अनिच्छित सूक्ष्मबाह्यविकल्प के सद्भाव होने पर भी; उन्हें गौण करके ही अनुभूति को निर्विकल्प कहा है।

ध्यान रहे यहाँ स्वसंवेदनज्ञान को दो कारणों से सविकल्प कहा गया है। एक तो वह स्वयं स्वभाव से ही साकार होने से सविकल्प है और दूसरे स्वसंवित्तिकाल में सूक्ष्म बाह्यविकल्पों का सद्भाव रहता है; इसकारण सविकल्प है। उक्त दोनों प्रकार के विकल्पों के होने पर भी उन्हें गौण करके और स्थूल बाह्यविकल्पों का अभाव होने से उनकी मुख्यता करके स्वसंवेदनज्ञान को निर्विकल्प कहा जाता है। इसप्रकार सविकल्पता का वजन अधिक है। स्वपरप्रकाशकपना भी आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा में सदा रहता ही है; इसलिए अनुभूतिकाल में भी रहेगा ही।

उक्त कथनों में सम्पूर्ण वस्तुस्थिति हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट है; फिर भी आपको नहीं जचती तो हम क्या कर सकते हैं ? यदि आपने आजतक यह बात नहीं सुनी तो इसमें आचार्यों का तो कुछ दोष है नहीं।

यद्यपि यह बात आगम में तो है ही और ज्ञानीजन भी जानते ही हैं; तथापि आजकल कम सुनने में आती है — यह बात भी सत्य ही है। इसीकारण तो प्रसंग आने पर हम यहाँ आप सब का ध्यान विशेष आकर्षित कर रहे हैं; जिससे भविष्य में यह कहने का अवसर न रहे कि हमने तो यह बात कभी सुनी ही नहीं।

हमारा तो बस इतना ही अनुरोध है कि अब आप इस विषय को यों ही न छोड़ दें; इस पर गहराई से मंथन अवश्य करें। ●

समयसार गाथा २९४

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि बंध से मुक्ति का उपाय आत्मा और बंध के बीच द्विधाकरण ही है। अत: अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि उक्त द्विधाकरण का साधन क्या है ? आत्मा और बंध के बीच यह द्विधाकरण किस साधन से किया जाय ? क्या दया, दान, व्रत-शील-संयम, तप-त्याग, पूजा-पाठ आदि क्रियायें और तत्सम्बन्धी शुभभावों से यह काम हो जायेगा ?

उक्त प्रश्न के उत्तर में ही इस २९४ वीं गाथा का जन्म हुआ है। यही कारण है कि इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि यदि कोई यह कहे कि आत्मा और बंध का द्विधाकरण किस साधन से होता तो उसका उत्तर इसप्रकार है —

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥ २९४॥

(हरिगीत)

जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हों ।
दोनों पृथक् हो जायें प्रज्ञाछैनि से जब छिन्न हों ॥ २९४॥

जीव तथा बंध नियत स्वलक्षणों से छेदे जाते हैं। प्रज्ञारूपी छैनी से छेदे जाने पर वे नानात्व (भिन्नपने) को प्राप्त होते हैं।

उक्त गाथा में यही कहा गया है कि आत्मा और बंध के द्विधाकरण में एकमात्र साधन भगवती प्रज्ञा ही है। तात्पर्य यह है कि इस महान कार्य का साधन भी तेरे अन्दर ही विद्यमान तेरी बुद्धि ही है; कहीं बाहर नहीं जाना है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र विस्तार से इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"आत्मा और बंध के द्विधा करनेरूप कार्य का कर्त्ता तो आत्मा है; किन्तु करण कौन है — इस बात पर गंभीरता से विचार करने पर यह सुनिश्चित होता

है कि भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है; क्योंकि निश्चय से करण कर्त्ता से भिन्न नहीं होता। प्रज्ञा के द्वारा आत्मा और बंध का छेद करने पर वे अवश्य ही भिन्नता को प्राप्त होते हैं; इसलिए यह सुनिश्चित ही है कि प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बंध का द्विधाकरण होता है।

प्रश्न : आत्मा चेतक है और बंध चेत्य है। ये दोनों अज्ञानदशा में चेत्य-चेतकभाव की अत्यन्त निकटता के कारण एक जैसे हो रहे हैं, एक जैसे ही अनुभव में आ रहे हैं और भेदविज्ञान के अभाव के कारण मानो वे दोनों चेतक ही हों — ऐसा व्यवहार किया जाता है, उन्हें व्यवहार में एकरूप में ही माना जाता है — ऐसी स्थिति में उन्हें प्रज्ञा द्वारा कैसे छेदा जा सकता है ?

उत्तर : आत्मा और बंध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अन्तःसंधि में प्रज्ञाछैनी को सावधानी से पटकने से उनको छेदा जा सकता है — ऐसा हम मानते हैं।

अन्य समस्त द्रव्यों में असाधारण होने से, अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाने से चैतन्य आत्मा का लक्षण (स्वलक्षण) है। वह चैतन्य प्रवर्त्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय में व्याप्त होकर प्रवर्त्तता है और निवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है; वे समस्त सहवर्ती और क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं — इसप्रकार लक्षित करना चाहिए; क्योंकि आत्मा उसी एक चैतन्यलक्षण से लक्षित है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि समस्त सहवर्ती और क्रमवर्ती अनन्त पर्यायों के साथ अविनाभावी सम्बन्ध होने से आत्मा चिन्मात्र ही है — ऐसा निश्चय करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिन-जिन गुण-पर्यायों में चैतन्यलक्षण व्याप्त होता है; वे सब गुण और पर्यायें आत्मा ही हैं — ऐसा जानना चाहिए।

बंध का लक्षण आत्मद्रव्य से असाधारण — ऐसे रागादिभाव हैं; ये रागादिभाव आत्मद्रव्य के साथ साधारणता (एकत्वरूप) को धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते, अपितु वे सदा चैतन्यचमत्कार से भिन्नरूप ही प्रतिभासित होते हैं।

और यह चैतन्य आत्मा अपनी समस्त पर्यायों में व्याप्त होता हुआ जितना प्रतिभासित होता है, उतने ही रागादिक प्रतिभासित नहीं होते; क्योंकि जहाँ रागादिक नहीं होते, वहाँ भी चैतन्य का आत्मलाभ होता है अर्थात् आत्मा होता है।

और जो चैतन्य के साथ रागादिभावों की उत्पत्ति भासित होती है; वह तो चेत्य-चेतकभाव (ज्ञेय-ज्ञायकभाव) की अति निकटता के कारण ही भासित होती है, रागादि और आत्मा के एकत्व के कारण नहीं।

जिसप्रकार दीपक के द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले घटादिक पदार्थ दीपक के प्रकाशत्व को ही प्रगट करते हैं, घटत्वादिक को नहीं; उसीप्रकार आत्मा के ज्ञान में ज्ञात होनेवाले रागादिभाव आत्मा के चेतकत्व को ही प्रकट करते हैं, रागादिकत्व को नहीं।

ऐसा होने पर भी आत्मा और बंध की अति निकटता के कारण भेदसंभावना का अभाव होने से अर्थात् भेद दिखाई न देने से अज्ञानी को अनादिकाल से आत्मा और रागादि में एकत्व का व्यामोह (भ्रम) है; जो कि प्रज्ञा द्वारा अवश्य ही छेदा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि उक्त एकत्व के व्यामोह को आत्मसन्मुख ज्ञान की पर्याय द्वारा अवश्य ही मिटाया जा सकता है।''

आचार्य जयसेन उक्त गाथा की टीका अत्यन्त संक्षेप में लिखते हैं। वे गाथा के भाव को मात्र दुहरा ही देते हैं; परन्तु प्रज्ञाछैनी को शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाले भेदज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं। उनकी दृष्टि में शुद्धात्मानुभूतिरूप भेदविज्ञान ही वह प्रज्ञाछैनी है, जिससे आत्मा और बंध को भेदा जा सकता है।

आत्मख्याति टीका में यहाँ जिस आत्मा को बंध से भिन्न जानना है, उसे समस्त सहवर्ती पर्यायों और क्रमवर्ती पर्यायों से अभिन्न बताया गया है। यह तो आप जानते ही हैं कि सहवर्ती पर्याय का आशय गुणों से है। इसप्रकार यहाँ चैतन्य का अनुसरण करनेवाले अनन्तगुण और उनके निर्मल परिणमन को आत्मा कहा गया है और रागादिभावरूप विकारी परिणमन को बंधरूप निरूपित किया गया है। प्रज्ञाछैनी द्वारा इन दोनों के बीच ही भेदज्ञान करना है। ध्यान रहे यह मोक्षाधिकार चल रहा है, भेदविज्ञान का प्रकरण है और उत्कृष्ट अध्यात्म की चर्चा चल रही है।

जो लोग आध्यात्मिक चर्चा में सर्वत्र ही आत्मा को समस्त पर्यायों से भिन्न निरूपित करते हैं; उन्हें उक्त प्रकरण का गंभीरता से अध्ययन करना चाहिए और प्रतिपादन करते समय भी इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तुत प्रकरण में क्या अपेक्षा है ?

स्वामीजी भी अनेक स्थानों पर स्पष्टरूप से कहते हैं कि यहाँ निर्मल पर्याय को शामिल करके बात कर रहे हैं। ऐसी सावधानी अध्यात्म के प्रत्येक प्रवक्ता को रखना आवश्यक है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि मुख्यरूप से मोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले मोह-राग-द्वेष एवं सुख-दु:खादि को ही मलिनभाव कहते हैं और वे ही बंध में शामिल हैं; आत्मा के अन्य सभी परिणमन नहीं; क्योंकि कतिपय गुणों के परिणमन को छोड़कर शेष सभी गुणों का परिणमन तो सदा निर्मल ही रहता है।

प्रश्न : आत्मख्याति में कहा गया है कि जहाँ रागादिक नहीं होते, वहाँ भी आत्मा पाया जाता है; अत: रागादिक आत्मा नहीं हैं।

उक्त संदर्भ में प्रश्न यह है कि आत्मा की ऐसी कौनसी दशा है कि जहाँ रागादि नहीं पाये जाते ?

इसके उत्तर में यदि यह कहा जाये कि सिद्धदशा में रागादि नहीं पाये जाते हैं तो हम कहेंगे की सिद्धदशा में तो मतिज्ञानादि भी नहीं पाये जाते; किन्तु इन्हें तो आत्मा का लक्षण माना गया है। केवलज्ञान भी छद्मस्थ अवस्था में नहीं होता। इसप्रकार तो उसे भी आत्मा का लक्षण नहीं माना जा सकेगा।

इसप्रकार सबकुछ मिलाकर प्रश्न यह है कि जब मतिज्ञानादि आत्मा में शामिल हो सकते हैं तो फिर रागादि क्यों नहीं; क्योंकि मतिज्ञानादि के समान ही रागादिक भी आत्मा की ही पर्यायें हैं।

उत्तर : अरे, भाई ! आत्मा का स्वभाव तो जानना-देखना है, जिसे हम चैतन्य कहते हैं और यही चैतन्य आत्मा का लक्षण है।

जो आत्मा के साथ सदा रहे, वही आत्मा का आत्मभूत (वास्तविक) लक्षण बन सकता है। सामान्यदर्शन और सामान्यज्ञान आत्मा के साथ सदा रहते हैं। अत: वे सामान्यदर्शन-ज्ञान ही आत्मा के वास्तविक लक्षण है।

मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शनादि दर्शन तो उक्त सामान्यज्ञान-दर्शन के भेद-प्रभेद हैं। यदि उनमें से कोई एक ज्ञान और एक दर्शन भी रहा तो सामान्यज्ञान-दर्शन भी रहे ही। इसप्रकार ज्ञान-दर्शन सामान्य रूप से आत्मा के साथ सदा रहते हैं; इसकारण वे आत्मा के लक्षण हैं।

वैसे तो 'सामान्य' पद का प्रयोग अनेक स्थानों पर द्रव्य या गुणों के अर्थ में ही होता है; तथापि यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ सामान्यज्ञान और सामान्यदर्शन पदों से अकेले ज्ञान और दर्शन गुण ही नहीं लेना है; अपितु उनमें जानने-देखने रूप परिणमन भी शामिल है।

वास्तव में तो यहाँ मुख्यरूप से जानने-देखनेरूप पर्याय के सामान्यपने की ही बात है। जानना सामान्य, देखना सामान्य; जानना-देखना सामान्य — ऐसा सामान्य ही लेना है। तात्पर्य यह है कि किसको जाना, क्या जाना, कैसे जाना; सही जाना या गलत जाना; कुमतिज्ञान से जाना या सुमतिज्ञान से जाना या केवलज्ञान से जाना — इन सब बातों की कोई अपेक्षा रखे बिना मात्र जाना — इतना ही लेना है; इसी का नाम सामान्यज्ञान है। किसी भी रूप में भी सही, पर यदि जानने की क्रिया सम्पन्न हुई है तो वह ज्ञान सामान्यज्ञान है और वही आत्मा का लक्षण है, उसी से भगवान आत्मा लक्षित होता है।

आत्मा का यह जानने-देखने रूप लक्षण निगोदिया से लेकर सिद्ध भगवान तक सभी में पाया जाता है और आत्मा के अतिरिक्त पदार्थों में नहीं पाया जाता है तथा आत्मा में सदा रहता ही है; इसकारण यह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषों से रहित एकदम निरापद आत्मभूत लक्षण है।

प्रश्न : कभी ऐसा भी तो हो सकता है कि कर्मों से आवरित होकर आत्मा कुछ भी न जाने ?

उत्तर : नहीं, भाई ! ऐसा कभी नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान का अन्तिम अंश सदा निरावरण ही होता है, उस पर कर्म का आवरण पड़ता ही नहीं है। यदि कर्मावरण से वह भी लुप्त हो जावे तो आत्मा के अचेतन हो जाने की आपत्ति उपस्थित हो जावेगी। यह करणानुयोग से पुष्ट बात है।

गोम्मटसार : जीवकाण्ड की गाथा ३१९ में यह विषय आया है, उसकी सम्यक्ज्ञानचंद्रिका नामक टीका में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि श्रुतज्ञान का पर्याय नामक भेद निरावरण होता है। उनका मूलकथन इसप्रकार है —

"जो पर्यायज्ञान भी आवरै तौ ज्ञान का अभाव होइ, ज्ञान गुण का अभाव भए, गुणी (अैसैं) जीवद्रव्य का भी अभाव होइ, सो अैसैं होइ नाही; तातैं पर्यायज्ञान निरावरण ही है।"

इसप्रकार सामान्यज्ञान और सामान्यदर्शन आत्मा के लक्षण हैं और यह भगवान आत्मा उनसे लक्षित होता है।

रागादिभाव तो आत्मा के विभाव हैं, स्वभाव नहीं; वे उस बंध के लक्षण हैं, जिस बंध से आत्मा को भिन्न करना है; वे आत्मा के लक्षण कैसे बन सकते हैं, वे आत्मा में शामिल भी कैसे हो सकते हैं ?

प्रश्न : इसप्रकार तो मिथ्याज्ञान भी आत्मा का लक्षण हो जावेगा ?

उत्तर : अरे, भाई ! कहा है न कि आत्मा का लक्षण तो सामान्यदर्शन और सामान्यज्ञान है; जिसमें सम्यक् और मिथ्या का कोई भेद नहीं होता, अल्पता और पूर्णता का भी कोई भेद नहीं होता।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व तो श्रद्धा के दोष हैं, ज्ञान के नहीं, दर्शन के भी नहीं। मिथ्यादर्शन (मिथ्याश्रद्धा) के कारण ज्ञान मिथ्याज्ञान नाम पाता है और दर्शन गुण की पर्यायों में तो मिथ्या और सम्यक् का कोई भेद होता ही नहीं है। अल्पता भी कोई विकार नहीं है।

जानना तो जानना है — चाहे अल्प हो या पूर्ण, सम्यक् हो या मिथ्या और यह सामान्य जानना ही आत्मा का लक्षण है, जिससे भगवान आत्मा लक्षित होता है।

प्रश्न : द्रव्यसंग्रह में तो आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शनों को जीव का लक्षण कहा है और तत्त्वार्थसूत्र में भी उपयोग को जीव का लक्षण बताकर उसके आठ और चार भेद बताये हैं।

उनमें से ज्ञानोपयोग के आठ भेद इसप्रकार हैं —

१. कुमतिज्ञान, २. कुश्रुतज्ञान, ३. कुअवधिज्ञान, ४. सुमतिज्ञान, ५. सुश्रुतज्ञान, ६. सुअवधिज्ञान, ७. मनःपर्ययज्ञान और ८. केवलज्ञान।

दर्शनोपयोग के चार भेद इसप्रकार हैं —

१. चक्षुदर्शन, २. अचक्षुदर्शन, ३. अवधिदर्शन और ४. केवलदर्शन।

इसप्रकार तो सभी कुज्ञान और सुज्ञान आत्मा के लक्षण हो गये।

उत्तर : बात तो तुम ठीक ही कहते हो; क्योंकि यदि इन्हें किसी भी रूप में जीव के लक्षण में शामिल नहीं करेंगे तो क्या मिथ्यात्व की अवस्था में सभी जीव अपने लक्षण से रहित नहीं हो जावेंगे ? किन्तु ऐसा तो होता नहीं है।

पर, भाई ! आप इस बात पर ध्यान क्यों नहीं देते कि मिथ्या और सम्यक् के भेद से रहित सामान्यज्ञानदर्शन ही जीव का लक्षण है। यह बात द्रव्यसंग्रह की परिभाषा में भी स्पष्टरूप से कही गई है, वह इसप्रकार है —

अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥६॥

उक्त गाथा में समागत **सामान्यपद** विशेष ध्यान देने योग्य है। भेदरूप होने से उक्त लक्षण को व्यवहारलक्षण कहा और इनके ही अभेदरूप सामान्यज्ञान-दर्शन चेतना को निश्चयलक्षण कहा है।

ज्ञान के किसी एक विशेष भेद को जीव का लक्षण नहीं माना जा सकता; किन्तु उन सभी भेदों में जो जानना सामान्य है, वह जीव का लक्षण है।

जिनमें सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान सभी आ गये — ऐसे उक्त आठ प्रकार के ज्ञानों और चार प्रकार दर्शनों में पाया जानेवाला सामान्य ज्ञान-दर्शन ही आत्मा का वास्तविक लक्षण है, जिसे चैतन्य कहते हैं और उक्त चैतन्यलक्षण से ही भगवान आत्मा लक्षित होता है और रागादिभाव बंध के लक्षण हैं और उनसे बंध लक्षित होता है।

आत्मा और राग की यही अन्तःसंधि है, जिसमें प्रज्ञाछैनी को डालना है, जिससे आत्मा और बंध का द्विधाकरण होगा।

प्रश्न : यह बात तो ठीक, पर प्रज्ञाछैनी तो सम्यग्ज्ञान को कहते हैं न? ऐसी स्थिति में वह प्रज्ञाछैनी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के पास है ही कहाँ, जिसे वह आत्मा और बन्ध के बीच डाले ?

उत्तर : जिसप्रकार भेदविज्ञान भी सम्यग्ज्ञान ही है; तथापि अनादिमिथ्यादृष्टि जीव भी देशनालब्धि के माध्यम से वर्णादि और रागादि से भिन्न निज आत्मा को समझकर करणलब्धि की ओर बढ़ता है और आत्मानुभूति प्राप्त कर सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सम्यक्दर्शन के पूर्व में सम्पन्न यह प्रक्रिया भी एकप्रकार से भेदविज्ञान ही कही जाती है; उसीप्रकार आगम, युक्ति और गुरूपदेश से बंध और आत्मा के बीच खींची गई विभाजन रेखा को खींचनीवाली बुद्धि भी एक प्रकार से प्रज्ञाछैनी ही है। असली काम तो यही

प्रज्ञाछैनी करती है; क्योंकि सम्यग्ज्ञानरूप प्रज्ञाछैनी तो तब प्रगट होती है कि जब आत्मा और बंध के बीच द्विधाकरण का काम हो चुकता है; फिर भी असली प्रज्ञाछैनी तो आत्मानुभूति से सम्पन्न भेदविज्ञान ही है, सम्यग्ज्ञान ही है।

यह तो सब जानते ही हैं कि सम्यग्ज्ञान तो सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है। पर यह भी तो सत्य है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान करने का सम्पूर्ण पुरुषार्थ उसके पूर्व मिथ्यात्व की भूमिका में ही सम्पन्न होता है। अतः यह सोचकर निराश नहीं होना चाहिए कि हमारे पास तो प्रज्ञाछैनी है ही नहीं। आत्मा और बंध के बीच भेद जानने में लगी बुद्धि ही वह प्रज्ञाछैनी है, जो आत्मप्राप्ति का साधन बनती है और वह तो आपके पास है ही।

प्रश्न : हमारे पास बुद्धि तो है, पर आपने ही तो कहा है कि असली प्रज्ञाछैनी तो आत्मानुभूति ही है, सम्यग्ज्ञान ही है और वह तो हमारे पास है ही नहीं; हम क्या करें? हमारी कुछ समझ में नहीं आता।

उत्तर : अरे, भाई ! यह समस्या अकेली तुम्हारी नहीं है, सभी की है। सभी ज्ञानियों ने इस का सामना किया है और अपना काम कर दिखाया है। जिन जीवों ने आजतक आत्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की है; उन सभी के पास आत्मानुभूतिरूप प्रज्ञाछैनी कहाँ थी ? क्योंकि आत्मानुभूतिरूप प्रज्ञाछैनी तो आत्मानुभूति करने के साथ ही प्रगट होती है। साथ ही प्रगट होने की बात भी कहाँ है; क्योंकि उस आत्मानुभूति का नाम ही तो प्रज्ञाछैनी है।

उपलब्ध विवेक बुद्धि से ही उन्होंने आत्मा को प्राप्त करने का पुरुषार्थ किया है और सफलता भी प्राप्त की है। अतः अब तुम भी परमागम के अभ्यास से, ज्ञानियों के सदुपदेश से और युक्तियों के सम्यक् प्रयोग से बन्ध से भिन्न आत्मा को जानने का पुरुषार्थ करो, किंकर्त्तव्यविमूढ़ होने से कुछ भी होनेवाला नहीं है।

प्रश्न : आप कुछ भी कहो, पर मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि जब हमारा यह उपलब्ध ज्ञान मिथ्याज्ञान ही है तो फिर इससे सच्चा निर्णय कैसे हो सकता है; आखिर उस निर्णय की सच्चाई का आधार क्या होगा ?

उत्तर : अरे, भाई ! उसकी सच्चाई का आधार जिनागम है, गुरूपदेश है और निष्तुष युक्तियाँ हैं। भाई ! तेरा उसमें क्या है ? वह तो परमागम में प्रतिपादित परमसत्य है, अरहन्त परमात्मा की दिव्यध्वनि में समागत वस्तुस्वरूप है, ज्ञानी गुरुओं द्वारा उद्घाटित रहस्य है; उसकी प्रामाणिकता का आधार वे ही अरहन्तदेव हैं, वीतरागी निग्रंथ गुरु हैं और वीतरागता की पोषक जिनवाणी माँ है। तेरे वर्तमान क्षयोपक्षमज्ञान में तो वह परमसत्य उनके माध्यम से मात्र जाना गया है। तेरे ज्ञान के मिथ्याज्ञानरूप होने से उसकी सच्चाई में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आखिर इसीप्रकार से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही तो आत्मार्थी जीव अनुभव की ओर बढ़ते हैं। उक्त तथ्य को, परमसत्य को मिथ्या मानकर करणलब्धि में प्रवेश थोड़े ही होगा। करणलब्धि में प्रवेश के लिए देव-शास्त्र-गुरु के आधार पर उक्त निर्णय करके, उसमें अटूट श्रद्धा के बल पर आत्मा आत्मसम्मुख होता है।

अतः परमागम के अभ्यास के आधार पर किये गये निर्णय को मिथ्या समझकर उससे विरक्त न रहो, अपितु उसे यथार्थ मानकर उसी दिशा में आगे बढ़ो। तुम्हारा काम अवश्य होगा।

अरे, भाई ! जिनवाणी में भी स्थान-स्थान पर तत्त्वाभ्यास करने की ही प्रेरणा दी गई है। कहा गया है —

तातैं जिनवर कथित, तत्त्व अभ्यास करीजै ।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपौ लख लीजै ॥[१]

प्रश्न : हमने तो एक भजन में पढ़ा था कि मोह को ताला लगो है बड़ो, तो तू समकित कुंजी से उसे खोल क्यों नहीं लेता ?

उत्तर : पर, भाई ! जबतक मिथ्यात्व नहीं गया, तबतक हमारे पास सम्यक्त्व है ही कहाँ कि जिससे मिथ्यात्व के ताले को खोल लें। मिथ्यात्व का ताला सदा टूटता ही है, खुलता नहीं; क्योंकि सम्यक्त्व चाबी तो उसी

१. पण्डित दौलतरामजी : छहढाला; चौथी ढाल, छन्द ६

तिजोड़ी में बन्द है कि जिसमें यह ताला लगा हुआ है। वस्तुत: बात तो यह कि सम्यक्त्व तो मिथ्यात्व के नाश का फल है, कारण नहीं; क्योंकि वह तो मिथ्यात्व के नाश होने पर ही होता है।

न सही सम्यक्त्व, पर वह भगवान आत्मा तो तेरे पास ही है कि जिसके आश्रय से मिथ्यात्व का नाश होता है, सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। तेरे पास की क्या बात है, वह तो तू स्वयं ही है। तू उसे देख, तू उसे जान; क्योंकि उस भगवान आत्मा को जानने-देखने की शक्ति तुझ में अभी भी विद्यमान है। जब वह भगवान आत्मा जानने-देखने में आयेगा; तब वह असली प्रज्ञाछैनी भी सहज ही प्रगट हो जावेगी। जो है, उसे तो देखता नहीं है और जो नहीं है, उसके लिए आकुलित होता है — यह मार्ग नहीं है। मार्ग तो यही है कि हम अपने उपलब्धज्ञान को बन्ध से भिन्न भगवान आत्मा को जानने में लगावें।

अरे, भाई ! तेरी यह प्रज्ञाछैनी असली है या व्यावहारिक — इन विकल्पों से विराम लेकर एक बार अन्तर में झाँककर तो देख, तेरा भगवान आत्मा दिखाई देता या नहीं? तुम्हारी रुचि के जोर से जिस ज्ञान की पर्याय में वह जानने में आयेगा, वही ज्ञान की पर्याय ही असली प्रज्ञाछैनी बन जावेगी और यही कहा जायेगा कि कार्य तो इसी असली प्रज्ञाछैनी से हुआ है।

प्रश्न : यह बात तो ठीक ही है; फिर भी सम्यग्दर्शन होने के पहले, आत्मानुभूति होने के पहले; करणलब्धि में और करणलब्धि में प्रवेश के पहले देशनालब्धि प्राप्त हो जाने के बाद का वह ज्ञान, जो कि सम्यग्ज्ञानी गुरु के उपदेश से प्राप्त हुआ है, जिनागम को पढ़कर हुआ है; वह ज्ञान है तो मिथ्याज्ञान ही न ? उसे सम्यग्ज्ञान तो नहीं कहा जा सकता।

उत्तर : हाँ, उसे सम्यग्ज्ञान तो नहीं कहा जा सकता; पर मिथ्याज्ञान कहना भी तो उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उसकी सच्चाई का आधार सम्यक्त्वसम्मुख मिथ्यादृष्टि का ज्ञान नहीं; अपितु सर्वज्ञ भगवान द्वारा निरूपित जिनागम है, सम्यग्ज्ञानी गुरुओं का उपदेश है। तुम स्वयं ही तो कह रहे हो कि सम्यग्ज्ञानी गुरु के उपदेश से हुआ ज्ञान, सर्वज्ञकथित जिनागम को पढ़कर हुआ ज्ञान। जब वह सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार है, ज्ञानी गुरुओं के ज्ञान के अनुसार है; तब भी उसे मिथ्या कहना तुम्हें ठीक लगता है क्या ?

उक्त सन्दर्भ में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार में समागत जैनन्याय के दिग्गज आचार्य विद्यानन्दि का अभिप्राय भी ज्ञातव्य है।

तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के तीसरे सूत्र के तीसरे-चौथे श्लोक के वार्तिक में आचार्य विद्यानन्दिजी इस बात की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है —

"सत्यज्ञानात्पूर्वं तद्विषये ज्ञानं न मिथ्या सत्यज्ञानजननयोग्यत्वात्, नापि सत्यं पदार्थयाथात्म्यपरिच्छेदकत्वाभावात्; किं तर्हि ? सत्येतरज्ञानविविक्तं ज्ञानसामान्यं।[१]

सत्यज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान होने के पहले सम्यग्ज्ञान के ज्ञेय (त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा) के विषय में जो ज्ञान था, वह मिथ्या तो नहीं था; क्योंकि सत्यज्ञान (सम्यग्ज्ञान) को उत्पन्न करने की योग्यता उसमें थी। उसे सत्यज्ञान (सम्यग्ज्ञान) भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें पदार्थों (त्रिकालीध्रुव आत्मा व अन्य पदार्थों) को यथार्थरूप से (आत्मानुभूतिपूर्वक) जानने का अभाव है।

तो फिर उसे क्या कहें ?

न वह सत्यज्ञान (सम्यग्ज्ञान) है और न असत्यज्ञान (मिथ्याज्ञान); वह तो सामान्यज्ञान है।"

जिन लोगों को इस सन्दर्भ में विशेष जानने की जिज्ञासा हो; वे लोग तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार के उक्त प्रकरण का गहराई से अध्ययन करें।

प्रश्न : जब सम्पूर्ण जगत को दो भागों में बाँटना है और उन भागों के नाम हैं — आत्मा और बंध; तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उक्त भगवती प्रज्ञा को आत्मा में रखना या बंध में अर्थात् स्व में रखना कि पर में ?

उत्तर : तुम्हीं बताओ किस में रखना चाहिए ? बंध में शामिल करना तो संभव है नहीं; क्योंकि बंध का लक्षण तो रागादि है और यह भगवती प्रज्ञा राग-द्वेषरूप तो है नहीं। आत्मा का लक्षण चैतन्य है और यह प्रज्ञा तो चैतन्य का ही परिणमन है; अत: आत्मा में ही रखना होगा। यही कारण है कि यहाँ अत्यन्त

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार : द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ७२

स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि चैतन्य में व्याप्त होने से सभी गुण-पर्यायें आत्मा ही हैं। यह भगवती प्रज्ञा भी चैतन्य में व्याप्त है, अत: आत्मा ही है।

आत्मख्याति टीका के आरंभ में ही कहा है कि आत्मा और बंध के द्विधा करने रूप कार्य का कर्त्ता आत्मा ही है और भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है; क्योंकि निश्चय से करण कर्त्ता से भिन्न नहीं होता। इसप्रकार स्पष्ट ही है कि भगवतीप्रज्ञा भगवान आत्मा में शामिल है, बंध में नहीं। यदि उसे आत्मा से भिन्न मानेंगे, पर मानेंगे तो फिर यह आत्मा आत्मानुभूति प्राप्त करने में भी पराधीन हो जावेगा; जो कि कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकता; क्योंकि पराधीनता से सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

कहा भी है —

'पराधीन सपनहुँ सुख नाहीं'

अत: समस्त विकल्पों को तोड़कर जो भी बुद्धि-विवेक तुम्हें प्राप्त है; उससे बन्ध से भिन्न निज आत्मा को जानो; परमागम के अभ्यास से जानो, युक्तियों के अवलम्बन से जानो और ज्ञानी धर्मात्माओं के सहयोग से उसी को प्राप्त करने में लग जावो।

अधिक क्या कहें — अपनी बुद्धि को बंध से भिन्न अपने आत्मा की ओर मोड़ो। मोड़ो क्या, उसे सहज ही आत्मा में लगने दो। यही एक मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं।

उक्त गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"अहा ! वीतराग जैन परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि दु:ख की दशा का भाव और आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा को भिन्न-भिन्न करना हो तो कर्त्ता भी आत्मा ही है और साधन (करण) भी आत्मा ही है। राग से — दु:ख से भिन्न करने में स्वरूप की ओर झुकी ज्ञान की वर्तमानदशा साधन है। राग के साथ ज्ञान की वर्तमानदशा की एकता थी, वस्तु के साथ नहीं। वस्तु तो ध्रुव है। वह ज्ञान की पर्याय ज्यों ही अन्दर में ढली नहीं कि तत्काल राग से भिन्न अपना आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा ख्याल में आ जाता है। इसप्रकार आत्मा को राग से भिन्न करने का साधन भगवती प्रज्ञा है, अन्तर में एकाग्र हुई ज्ञान की पर्याय ही है।

लोग कहते हैं कि भेदज्ञान का साधन व्यवहार है; परन्तु भाई ! यहाँ तो अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा है कि भगवती प्रज्ञा ही — अन्तर एकाग्र हुई स्वानुभव की दशा ही विकार से भिन्न करने का साधन है।[१]

यहाँ कहते हैं कि एकमात्र भगवती प्रज्ञा ही आत्मा व विकार के भेदज्ञान में समर्थ साधन है। जिसतरह करोंत से लकड़ी के दो फाड़ हो जाते हैं; उसीतरह भेदज्ञान की बुद्धिरूप प्रज्ञाछैनी आत्मा व विकार को भिन्न-भिन्न कर देती है। अहा ! देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति, विनय का राग व पंच महाव्रतादि का राग आदि जो भी व्यवहार है, इन सबसे भगवान आत्मा को भिन्न करने के स्वभाववाला साधन एकमात्र भगवती प्रज्ञा ही है और वह प्रज्ञा आत्मा से अभिन्न है। इसप्रकार आत्मा की अन्तर्मुख झुकती हुई ज्ञान की पर्याय प्रज्ञाछैनी ही कर्त्ता है और यही एकमात्र भेदज्ञान का साधन है।[२]

भगवान आत्मा चेतक है और दया-दान, व्रत-भक्ति तथा हिंसा-झूठ-चोरी आदि के विकारीभाव चैत्य अर्थात् ज्ञेय हैं। ये यद्यपि आत्मा की पर्याय में ही होते हैं तो भी विभावभाव होने से ये आत्मा नहीं हैं। दोनों में अत्यन्त निकटता है अर्थात् जिससमय आत्मा में विकार उत्पन्न होता है, उसीसमय उस आत्मा में उस राग को जाननेवाला ज्ञान भी उत्पन्न होता है। जाननेवाला भगवान आत्मा जब जानने की दशारूप उत्पन्न होता है, उसीसमय राग की उत्पत्ति होती है, यह निकटता है। निश्चय से विकार चैत्य है अर्थात् जाननेलायक है और आत्मा चेतक है और चेतक में बंधभाव नहीं है। ऐसा होते हुए भी, दोनों की अतिनिकटता के कारण अज्ञानी 'विकाररूप चैत्य ही मैं हूँ' — ऐसा मानता है।

देखो ! आत्मा और विकार — दोनों एक हो रहे हैं — ऐसा कहा है न ? वस्तुतः ये दोनों एक नहीं हैं, पर अज्ञानी को ये एक जैसे भासित होते हैं।

अरे ! अज्ञानी ने अनन्तकाल से आत्मा व बंध के बीच भेदज्ञान नहीं किया।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३३०-३३१
२. वही, पृष्ठ ३३२
३. वही, पृष्ठ ३३३-३३४

वह चैतन्य प्रवर्तित होता हुआ जिन-जिन पर्यायों में व्याप्त होकर प्रवर्तता है, वे-वे समस्त सहवर्ती पर्यायें (गुण) आत्मा हैं — ऐसे लक्षण से पहचानना। देखो, यहाँ गुणों को पर्याय कहा है। द्रव्य में इतना भेद पड़ा न ? इसकारण गुणों को पर्याय कहा है। ज्ञानगुण के साथ अन्य जो-जो अनन्त गुण सहवर्ती हैं, उनमें चैतन्य व्याप्त होकर प्रवर्तता है। इसलिए वे आत्मा ही हैं — ऐसा जानना।[१]

समय-समय पर जो नवीन पर्याय क्रमबद्ध उत्पन्न होती है, उस पर्याय के उत्पाद को ग्रहण करता, पूर्व की पर्याय को छोड़ता (निवर्तता) एवं गुणरूप से कायम रहता हुआ एक आत्मा ही है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो द्रव्य, गुण व पर्यायरूप आत्मा को देखा — वही सर्वज्ञ की जानी-देखी बातें हैं। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य तथा अस्तित्व, वस्तुत्व आदि — ये सभी गुण सहवर्ती हैं, एक साथ रहते हैं।

त्रिकाली गुण स्वभावों को यहाँ सहवर्ती कहा है। भगवान आत्मा इन सभी गुणों में प्रवर्तता है, व्यापता है तथा जो नवीन-नवीन अवस्थाएँ क्रम से होती हैं, उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। गुण नये-नये नहीं होते। इसप्रकार सहवर्ती गुण व क्रमवर्ती पर्यायें — ये सब आत्मा ही हैं — ऐसे लक्षण से आत्मा ही एक लक्षित होता है।[२]

चैतन्यलक्षण जो गुणरूप से त्रिकाल है, वह तो चैतन्य, चैतन्य, चैतन्य —! इसप्रकार चैतन्य सामान्यरूप से त्रिकाल ध्रुव है। इससे आत्मा का ग्रहण नहीं होता; परन्तु इसकी जो नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं, उनमें प्रवर्तित होता हुआ और पूर्व पर्यायों से निवर्तित होता हुआ आत्मा उन-उन निर्मल पर्यायों से जानने में आता है।[३]

आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु है। चैतन्य गुण इसका शक्तिरूप लक्षण है और ज्ञान-दर्शन की पर्यायें आत्मा का व्यक्त लक्षण है। अन्तर्लक्ष्य करने पर ये जो

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३३७
२. वही, पृष्ठ ३३७-३३८
३. वही, पृष्ठ ३३८

ज्ञान गुणस्वरूप है, वह आत्मा है — ऐसा जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह सम्यग्ज्ञान है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में अन्तर ढलती हुई ज्ञान की दशा जो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को जानती है, अनुभव करती है, वह ज्ञान है।[१]

जहाँ एक चैतन्यगुण है, वहाँ दूसरी अनन्त शक्तियाँ एवं चारित्र, सुख, वीर्य, जीवत्व, कर्त्ता, कर्म, करण आदि एकरूप अविनाभाव से हैं और जहाँ चैतन्य की एकसमय की पर्याय है, वहाँ साथ ही इन अनन्त गुणों की पर्यायें एक अविनाभावी हैं। अहा ! ..... ऐसा भगवान आत्मा मात्र ज्ञायकस्वरूप चैतन्यप्रकाश से भरपूर चैतन्य सूर्य है। जो आँखों से दिखाई देता है — यह तो जड़ सूर्य है। इसे तो स्वयं को यह खबर ही नहीं है कि मैं प्रकाश का बिम्ब हूँ। चैतन्य सूर्य तो अनुपम है। उसकी इस सूर्य से उपमा कैसी ?[२]

जिसप्रकार अग्नि को देखनेवाली आँख अग्निरूप नहीं होती; उसीप्रकार राग को जानने-देखनेवाला ज्ञान रागरूप नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान व राग एक द्रव्यमय नहीं हैं, भिन्न-भिन्न ही हैं। अनादि से दोनों एकरूप भासित होते हैं, पर यह अज्ञानजनित भ्रम है।[३]

जिसतरह दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करता है — यह तो व्यवहार का कथन है। वास्तविक रूप से तो दीपक अपने स्व-पर को प्रकाशित करनेवाले एक प्रकाशस्वभाव को ही प्रकाशित करता है; क्योंकि दीपक घट-पटरूप व घट-पट दीपकरूप कभी होता ही नहीं है।

उसीतरह आत्मा द्वारा चेतन में आनेवाले रागादि आत्मा के चेतकपने को ही जाहिर करते हैं, रागादिपने को नहीं। भगवान आत्मा शुद्ध-एक-ज्ञायक-भावरूप है, चेतकस्वभावी है। वह रागादि पुण्य-पाप के भावों को जानने के काल में वास्तव में तो अपनी उस ज्ञानपर्याय को ही जानता है, जिसमें ये पुण्य-पाप के भाव ज्ञात हो रहे हैं। यदि आत्मा पुण्य-पाप आदि भावों को जाने तो आत्मा स्वयं पुण्य-पापरूप हो जाये; परन्तु आत्मा कभी पुण्य-पापरूप नहीं होता।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३३८
२. वही, पृष्ठ ३३९
३. वही, पृष्ठ ३४१

'रागादि को आत्मा जानता है' — ऐसा कहना तो व्यवहार है। वास्तविक रूप से तो ज्ञान अपने द्वैतरूप स्व-पर को प्रकाशित करनेवाले एकमात्र अपने एक ज्ञानस्वभाव को — चेतकस्वभाव को ही प्रकाशित करता है; क्योंकि ज्ञान पुण्य-पाप आदि भावोंरूप तथा पुण्य-पाप आदि ज्ञानभावरूप कभी नहीं परिणमते। ज्ञान तो सहज ही स्व-परप्रकाशकस्वभावी है, जो निरन्तर प्रकाशित होता है। ऐसा वस्तु का स्वरूप जानकर उसे अन्तर अनुभव में लेना समकित का कारण होता है।

अब कहते हैं कि आत्मा व बंध का लक्षणभेद होते हुए भी अज्ञानी को अनादिकाल से आत्मा व रागादि बंध में एकपने का भ्रम है। वह भ्रम एकमात्र प्रज्ञा द्वारा ही छेदा जा सकता है। जिसतरह अन्धकार को दूर करने का उपाय प्रकाश है, उसीतरह भ्रम या व्यामोह दूर करने का उपाय भी एकमात्र सम्यग्ज्ञान ही है।[१]

अब यहाँ आचार्यदेव इन दु:खों से छूटने का उपाय बताते हैं — पर की ओर के लक्ष्यवाला रागादिभाव बंध है और आत्मा चैतन्यलक्षण है। दोनों को लक्षणभेद से भिन्न-भिन्न जानकर आत्मानुभव करना धर्म है। यह धर्म आनन्दरूप और बंध दु:खरूप है। इसी भेदज्ञान को यहाँ प्रज्ञाछैनी कहा है।

प्रश्न : चैतन्यभाव को ही परमपारिणामिकभाव कहते हैं न ?

उत्तर : परमपारिणामिकभाव छहों द्रव्यों में होता है; इसलिए यहाँ चैतन्यलक्षण से लक्षित ज्ञायकभाव ही कहना उचित है। अहा ! अनन्त गुणमण्डित एक ज्ञायकभाव - चिन्मात्रभाव ही आत्मा है। ऐसे आत्मा के स्वरूप में वर्तमान परिणति को ढालना ही धर्म है।

लोक में जो दया को धर्म कहा गया है, वह तो स्थूल व्यवहार की बातें हैं, जो कहने-सुनने में ही अच्छी लगती हैं। यहाँ तो यह कहते हैं कि — दया तो परजीवों के लक्ष्य से हुआ शुभभाव है। यह तो बंध का लक्षण है, क्योंकि दया से तो पुण्यबंध ही होता है न ? इससे धर्म होना माने तो यह तो मिथ्यात्व है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३४२-३४३

अरे भाई ! तूने पर की दया पालने की तो अनन्तकाल से चिन्ता की है, पर अन्दर में निर्मलानन्द का नाथ जो चैतन्य महाप्रभु विराजता है, एकबार उस पर भी तो दया कर ! पर की दया पालने के चक्कर में तेरी स्वयं की हिंसा हो रही है। उसे भी तो देख। अहा ..... अनन्त शक्तियों का पिण्ड आत्मा चिन्मूर्ति प्रभुस्वरूप है। उसे ज्ञानपर्याय में ज्ञेय बनाकर उसकी प्रतीति करना स्व-दया है और यही सच्चा अहिंसा धर्म है।

जिस दया को धर्म का मूल कहा है, वह यही स्वदया है। इसे छोड़कर पर में रचना-पचना सचमुच 'स्व' की हिंसा है।[१]

भगवान आत्मा अन्दर में चिन्मूर्ति प्रभु आनन्द अमृत का सागर है, इसमें जो राग की वृत्ति उठती है, वह जहर है। इस जहर व अमृत के मध्य तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी डालते ही दोनों भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसी का नाम भेदज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, धर्म है। मोक्ष का मूल यही भेदज्ञान है। इसके सिवाय, व्रत-तप आदि के शेष सब विकल्प व्यर्थ हैं।

भेदज्ञान को एक अपेक्षा विकल्प भी कहते हैं; क्योंकि यह दो के बीच होता है न ? जबतक दो का लक्ष्य रहता है, तबतक भी सूक्ष्म विकल्प रहता है; परन्तु जब एक ज्ञायक में अन्तर्मुख होता है तो भेदज्ञान का निर्विकल्प परिणमन हो जाता है।

यहाँ इस गाथा में प्रज्ञाछैनी शब्द से स्वानुभव ज्ञान समझना, मात्र विकल्प नहीं समझना।[२]''

उक्त सम्पूर्ण चिन्तन का निष्कर्ष यह है कि इस गाथा में यही कहा गया है कि जीव और बन्ध को उनके स्वलक्षणों से जानकर, उनके बीच की अन्तः सन्धि को पहिचान कर, बुद्धि की तीक्ष्णता से उन्हें भेदकर, छेदकर, बन्ध से विरक्त होकर और उससे भिन्न अपने आत्मा में अनुरक्त होकर, उसी में समा जावो; सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३४४-३४५

२. वही, पृष्ठ ३४५

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है —

(स्रग्धरा)

प्रज्ञाछैत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः,
सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे,
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ १८१ ॥

(हरिगीत)

सूक्ष्म अन्तःसंधि में अति तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनी को ।
अति निपुणता से डालकर अति निपुणजन ने बन्ध को ॥
अति भिन्न करके आतमा से आतमा में जम गये ।
वे ही विवेकी धन्य हैं वे भवजलधि से तर गये ॥ १८१ ॥

अपने आत्मा को अपने अन्तरंग तेज में स्थिर करती हुई तथा निर्मल और दैदीप्यमान चैतन्यप्रवाह में मग्न करती हुई एवं बन्ध को अज्ञानभाव में डालती हुई —इसप्रकार आत्मा और बन्ध को भिन्न करती हुई, यह प्रज्ञाछैनी प्रवीण पुरुषों द्वारा किसी भी प्रकार प्रयत्नपूर्वक सावधानी से डालने पर आत्मा और कर्मबन्ध के बीच की सूक्ष्म अन्तःसंधि में अतिशीघ्रता से पड़ती है।

तात्पर्य यह है कि यह प्रज्ञाछैनी आत्मा और बन्ध को छेद देती है, भिन्न-भिन्न कर देती है और उपयोग के अन्तर्मुख होने से आत्मा का अनुभव हो जाता है।

यह प्रज्ञाछैनी बन्ध को किसप्रकार छेदती है — इसका विवरण देते हुए पांडे राजमलजी कलशटीका में लिखते हैं —

"उसका विवरण इसप्रकार है कि जो द्रव्यकर्म है ज्ञानावरणादि पुद्गल का पिण्ड, वह यद्यपि एक क्षेत्रावगाहरूप है; तथापि उसकी तो जीव से भिन्नपने की प्रतीति, विचारने पर उत्पन्न होती है; कारण कि द्रव्यकर्म पुद्गल पिण्डरूप है, यद्यपि एक क्षेत्रावगाहरूप है; तथापि भिन्न-भिन्न प्रदेश है, अचेतन है, बँधता है, खुलता है — ऐसा विचार करने पर भिन्नपने की प्रतीति उत्पन्न होती है।

नोकर्म है जो शरीर-मन-वचन, उससे भी उसप्रकार से विचारने पर भेद-प्रतीति उपजती है।

भावकर्म जो मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्धचेतनारूप परिणाम, वे अशुद्ध परिणाम वर्तमान में जीव के साथ एक परिणमनरूप हैं तथा अशुद्ध परिणाम के साथ वर्तमान में जीव व्याप्य-व्यापकरूप परिणमता है, इसकारण उन परिणामों का जीव से भिन्नपने का अनुभव कठिन है; तथापि सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर भिन्न प्रतीति होती है।

उसका विचार ऐसा है कि जिसप्रकार स्फटिकमणि स्वरूप से स्वच्छतामात्र वस्तु है; लाल, पीली, काली, हरी का संयोग प्राप्त होने से लाल, पीली, काली, हरी इसरूप स्फटिकमणि झलकती है; वर्तमान में स्वरूप का विचार करने पर स्वच्छतामात्र भूमिका स्फटिकमणि वस्तु है। उसमें लाल, पीला, कालापन परसंयोग की उपाधि है, स्फटिकमणि का स्वभावगुण नहीं है।

उसीप्रकार जीवद्रव्य का स्वच्छ चेतनामात्र स्वभाव है। अनादि सन्तानरूप मोहकर्म के उदय से मोह-राग-द्वेषरूप रंजक अशुद्ध चेतनारूप परिणमता है; तथापि वर्तमान में स्वरूप का विचार करने पर चेतना भूमिमात्र तो जीववस्तु है; उसमें मोह-राग-द्वेषरूप रंजकपना कर्म के उदय की उपाधि है, वस्तु का स्वभाव गुण नहीं है।

इसप्रकार विचार करने पर भेद-भिन्न प्रतीति उत्पन्न होती है, जो अनुभवगोचर है।''

कलश टीका के उक्त कथन का सार यह है कि द्रव्यकर्म और नोकर्म से भिन्नता तो सहज भासित हो जाती है; क्योंकि वे तो स्पष्ट रूप से जड़-पुद्गल हैं; किन्तु भावकर्मों से भिन्नता ख्याल में आना कठिन होता है; क्योंकि वे चैतन्य के ही विकार हैं। यही कारण है कि यहाँ पाण्डे राजमलजी ने भावकर्मों से भिन्नता बताने के लिए स्फटिकमणि का उदाहरण दिया है।

उक्त कलश और कलशटीका के भाव को आधार बनाकर पण्डित बनारसीदासजी दो छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं —

(सवैया इकतीसा)

काहू एक जैनी सावधान ह्वै परम पैनी,
ऐसी बुद्धि छैनी घटमांहि डार दीनी है ।
पैठी नोकरम भेदि दरव करम छेदि,
सुभाउ विभाउता की संधि सोधि लीनी है ॥
तहाँ मध्यपाती होय लखी तिन धारा दोय,
एक मुधामई एक सुधारस-भीनी है ।
मुधा सौं विरचि सुधासिंधु मैं मगन भई,
ऐती सब क्रिया एक समै बीचि कीनी है ॥

(दोहा)

जैसै छैनी लोह की, करै एक सौं दोई ।
जड़ चेतन की भिन्नता, त्यौं सुबुद्धि सौं होई ॥

कोई आत्मार्थी जैन व्यक्ति जब अत्यन्त पैनी सुबुद्धिरूपी छैनी को सावधानीपूर्वक अन्तर में डाल देता है तो वह प्रज्ञाछैनी अन्तरतक पैठ कर, नोकर्म को भेदकर, द्रव्यकर्मों को छेदकर स्वभाव और विभाव की संधि को खोज लेती है।

इसप्रकार वह प्रज्ञाछैनी नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मों तथा आत्मा के बीच की विभाजन रेखा जानकर, उनके बीच में पड़कर सम्पूर्ण स्थिति को दो धाराओं में विभक्त कर देती है। उनमें एक धारा अज्ञानमय होती है और दूसरी धारा ज्ञानसुधारसमय होती है।

इसप्रकार वह आत्मार्थी व्यक्ति अज्ञानमयधारा से विरक्त होकर ज्ञानसुधासागर में मगन हो जाता है — यह सम्पूर्ण क्रिया वह एक समयमात्र में ही कर लेता है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कार्य एकसाथ एकसमय में ही सम्पन्न हो जाता है।

जिसप्रकार लोहे की छैनी एक के दो कर देती है; उसीप्रकार सुबुद्धि से जड़ और चेतन की भिन्नता हो जाती है।

इसप्रकार नाटक समयसार के इन छन्दों में कलश के भाव को पूरी तरह आत्मगत कर लिया गया है।

इसके बाद नाटक समयसार में चार ऐसे छन्द हैं, जिनके भाव के पोषक कोई कलश आत्मख्याति में नहीं हैं। अतः उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है; फिर भी जिज्ञासु पाठक मूलग्रन्थ का अध्ययन कर उनका लाभ ले सकते हैं।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"जिसमें राग का ज्ञान है — ऐसी वर्तमानज्ञान की दशा आत्मा से जुदी नहीं है; परन्तु राग आत्मा से जुदा है। जिसप्रकार दर्पण में जो सिंह का स्वरूप (प्रतिबिम्ब) है, वह दर्पणस्वरूप ही है, सिंहस्वरूप नहीं। उसीतरह चैतन्यमय प्रभु आत्मा में जो राग का ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मस्वरूप ही है, रागरूप नहीं। इससे राग को जाननेवाली वह ज्ञान की दशा अन्तर में स्वाभिमुख होने पर उस राग से भिन्न पड़ जाती है और आत्मा का अनुभव करती है। बस, इसी का नाम सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग यहीं से प्रारंभ होता है।[१]

अहा ! भगवती प्रज्ञा ज्ञानमय चेतन आत्मा और बंध को सब ओर से अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव — चारों ओर से भिन्न-भिन्न कर देती है। बन्ध के किसी भी अंश को ज्ञान में नहीं मिलने देती तथा ज्ञान के किसी भी अंश को बन्ध में नहीं मिलने देती। ऐसी भगवती प्रज्ञा — ज्ञानचेतना ही मोक्ष का उपाय है।

भाई ! तेरा मोक्ष का साधन तेरे स्वयं के पास ही है। उसे जाने बिना अज्ञानभाव से शुभराग को मोक्ष का साधन मानकर अनादिकाल से तूने राग का ही — बन्ध का ही सेवन किया है; परन्तु भाई ! राग से पार अन्तर्मुख हुई ज्ञानचेतनारूप निर्मल निर्विकल्प अनुभूति ही मोक्ष का एकमात्र साधन है।

अहो ! इस निर्मल स्वानुभूति की क्या बात ? इसकी महिमा तो वचनातीत है, विकल्पातीत है। इसलिए राग से सावधान होकर उपयोग को अन्दर स्वरूप में ले जा।[२]

मैं एक ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध चिदानन्द प्रभु आत्मा हूँ। त्रिकाली वस्तु में ही 'स्व' की पहचान करके, स्वानुभव करके उसी में लीन रहना ही आत्मा को

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३४७
२. वही, पृष्ठ ३४८

राग से भिन्न करना है। इसी का नाम भगवतीप्रज्ञा है। इसी से सर्व कर्मों का नाश होता है, सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

प्रभु ! इस राग और आत्मा को इसप्रकार भिन्न कर ले तो तेरा जन्म सफल हो जायेगा। इसी से तुझे आत्मलाभ होगा। अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होगा और तुझे स्वयं से ही विश्वास हो जायेगा कि अब मेरा संसार अल्प रह गया है।[१]''

देखो, यहाँ स्वामीजी स्पष्ट लिखते हैं कि राग को जाननेवाली ज्ञान की दशा आत्मा से जुदी नहीं, आत्मा ही है; किन्तु राग आत्मा से जुदा है।

इसप्रकार इस कलश में भी गाथा के भाव को पुष्ट करते हुए यही कहा गया है कि बुद्धिरूपी छैनी से आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न जाना जा सकता है, भिन्न किया जा सकता है।

आत्मकल्याण का एकमात्र सच्चा साधन यही है; अतः अन्य विकल्पों से विराम लेकर अपनी बुद्धि यहाँ लगाओ। तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा। •

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३४९

आत्मानुभूति-प्राप्ति के लिए सन्नद्ध पुरुष प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का विकल्पात्मक सम्यक् निर्णय करता है। तत्पश्चात् आत्मा की प्रकट-प्रसिद्धि के लिए, पर-प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों से मतिज्ञानतत्त्व को समेटकर आत्माभिमुख करता है तथा अनेकप्रकार के पक्षों का अवलम्बन करनेवाले विकल्पों से आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी गौणकर उसे भी आत्माभिमुख करता हुआ विकल्पानुभवों को पारकर स्वानुभवदशा को प्राप्त हो जाता है। — **मैं कौन हूँ ?**, पृष्ठ १५

समयसार गाथा २९५ से २९७

विगत गाथा में कहा गया था कि प्रज्ञाछैनी द्वारा स्वलक्षणों के माध्यम से बन्ध और आत्मा को छेद देना चाहिए। अब इन आगामी गाथाओं में यह बता रहे हैं कि ऐसा करने के उपरान्त क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिए।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं —

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधो छेददव्वो सुद्धा अप्पा य घेत्तव्वो ॥ २९५ ॥
कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो ॥ २९६ ॥
पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥ २९७ ॥

(हरिगीत)

जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हों ।
बंध को है छेदना अर ग्रहण करना आतमा ॥ २९५ ॥
जिस भाँति प्रज्ञा छैनी से पर से विभक्त किया इसे ।
उस भाँति प्रज्ञा छैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे ॥ २९६ ॥
इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो चेतता ।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९७ ॥

इसप्रकार जीव और बन्ध अपने निश्चित स्व-लक्षणों द्वारा छेदे जाते हैं। ऐसा करके बन्ध को छोड़ देना चाहिए और आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

वह आत्मा कैसे ग्रहण किया जाय ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि उसे प्रज्ञा से ही ग्रहण किया जाता है। जिसप्रकार प्रज्ञा से भिन्न किया; उसीप्रकार प्रज्ञा से ग्रहण करना चाहिए।

प्रज्ञा के द्वारा इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो चेतनेवाला है, वह निश्चय से मैं ही हूँ। शेष सभी भाव मेरे से भिन्न ही हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"प्रथम तो आत्मा और बंध को उनके नियत स्व-लक्षणों के विज्ञान से सर्वथा ही छेद देना चाहिये, भिन्न-भिन्न कर देना चाहिये और उसके बाद रागादि लक्षणवाले समस्त बन्ध को छोड़ देना चाहिये तथा उपयोग लक्षणवाले शुद्धात्मा को ग्रहण कर लेना चाहिये; क्योंकि बन्ध के त्याग से शुद्धात्मा का ग्रहण ही बन्ध और आत्मा के द्विधाकरण का मूल प्रयोजन है।

प्रश्न : यह शुद्धात्मा किसके द्वारा ग्रहण किया जाना चाहिये ?

उत्तर : प्रज्ञा के द्वारा ही शुद्धात्मा को ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि जिसप्रकार बन्ध से भिन्न करने में एकमात्र प्रज्ञा ही करण थी; उसीप्रकार ग्रहण करने में भी एकमात्र प्रज्ञा ही करण है। इसलिए जिसप्रकार प्रज्ञा से विभक्त किया; उसीप्रकार प्रज्ञा से ही ग्रहण भी करना चाहिए।

नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया चेतक मैं हूँ और अन्य लक्षणों से लक्ष्य व्यवहाररूप भाव चेतकरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होने से मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं।

इसलिए मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिए ही, अपने में से ही, अपने में ही, अपने को ही ग्रहण करता हूँ।

आत्मा की चेतन ही एक क्रिया है; इसलिए मैं ग्रहण करता हूँ अर्थात् मैं चेतता ही हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुए द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुए के लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते हुये में ही चेतता हूँ और चेतते हुये को ही चेतता हूँ।

अथवा न तो चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुए के द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिए चेतता हूँ, न चेतते हुए चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ और न चेतते हुए को चेतता हूँ, किन्तु मैं तो सर्वविशुद्धचिन्मात्रभाव हूँ।"

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति के अनुसार ही व्यक्त किया है।

स्वामीजी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"अत: जिस प्रज्ञा द्वारा भेदज्ञान करके एकबार आत्मानुभूति की, उसी प्रज्ञा के बल से बारम्बार अन्तर्मुखी उपयोग करके बारम्बार आत्मा को ग्रहण करो। आत्मा को ग्रहण करने का अन्य कोई उपाय ही नहीं है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३५३

'प्रज्ञा अर्थात् प्रकृष्टज्ञान' जिस वर्तमानज्ञान की दशा में द्रव्य का चैतन्य महाप्रभु नित्यानन्दस्वरूपी आत्मा का अनुभव होता है, उसे प्रज्ञा कहते हैं। स्वानुभवस्वरूप स्वसंवेदनज्ञान की दशा प्रज्ञा है। वह प्रज्ञा राग को नष्ट करनेवाली है; इसलिए उसे प्रज्ञाछैनी कहते हैं। ऐसी प्रज्ञा द्वारा आत्मस्वरूप का अनुभव करता हुआ आत्मा राग से भिन्न हो जाता है अर्थात् ऐसा अनुभव करता है कि मैं तो चेतना लक्षणवाला आत्मा हूँ और मेरे से भिन्न यह राग बन्धस्वरूप है, बन्ध का लक्षण है। इसप्रकार दोनों को भिन्न-भिन्न जानता है। अहा ! जिसकी सत्ता में यह चेतना (जानना-देखना) है, वह चेतक ही मैं हूँ तथा शेष सब भाव पर हैं। इसप्रकार स्वाभिमुखज्ञान की दशा में आत्मा भिन्न अनुभव में आता है।

एकसमय की ज्ञान की दशा में — प्रज्ञा में ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि जो सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा की सामर्थ्य को पूर्ण जान लेता है।[१]

पहले जो ज्ञान की पर्याय पर की ओर झुकती थी, उसमें रागादि स्वपने भासते थे। अब वह पर्याय व्यय होकर त्रिकाली शुद्धद्रव्य के आश्रय से जो नवीन पर्याय उत्पन्न हुई, उसमें 'यह जो चेतक है, वही मैं हूँ' — ऐसा ज्ञात हुआ।[२]

इसलिए अभिन्न छह कारकों से मैं ही, मेरे लिए ही, मुझमें से ही, मुझमें ही, मुझको ही ग्रहण करता हूँ।

मैं ही ग्रहण करता हूँ — यह कर्त्ता, मैं स्वयं को ही ग्रहण करता हूँ — यह कर्म, मेरे द्वारा ही मैं स्वयं को ग्रहण करता हूँ — यह करण या साधन, मेरे लिये ही ग्रहण करता हूँ — यह सम्प्रदान, मुझमें से ही ग्रहण करता हूँ — यह अपादान, मुझमें ही ग्रहण करता हूँ — यह अधिकरण या आधार है। यह अभिन्न षट्कारकों का परिणमन पर्याय का पर्याय में है, ध्रुव में नहीं; क्योंकि ध्रुव तो कूटस्थ अपरिणामी है।[३]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३६१
२. वही, पृष्ठ ३६१-३६२
३. वही, पृष्ठ ३६२

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि आत्मा और बन्ध को उनके स्वलक्षणों से पहिचान कर बन्ध को छोड़कर आत्मा को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को बन्ध से भिन्न जानने और ग्रहण करने का सम्पूर्ण कार्य अपनी स्वयं की बुद्धि-विवेक से ही होता है; इसमें अन्य किसी पर के सहयोग या किसी क्रियाकाण्ड की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। इस बात को ही २९७वीं गाथा की टीका में अभिन्न षट्कारकों पर घटाकर समझाया गया है।

इस गाथा की टीका में पहले तो परकर्तृत्व का निषेध करते हुए यह कहा कि मैं स्वयं ही चेतता हूँ, स्वयं को ही चेतता हूँ, स्वयं के द्वारा ही चेतता हूँ, स्वयं के लिए चेतता हूँ, स्वयं में से चेतता हूँ और स्वयं में ही चेतता हूँ। इसप्रकार अभिन्न षट्कारक समझाये।

बाद में इनका भी निषेध करते हुए कहा कि मैं तो इन सब विकल्पों से पार सर्वविशुद्धचिन्मात्रभाव हूँ।

इसप्रकार मोक्षाधिकार की इन गाथाओं में सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के बीज भी पड़ गये हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि इस अधिकार के बाद सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार ही आनेवाला है।

इसप्रकार ये गाथायें आत्मा की पूर्ण स्वाधीनता घोषित करनेवाली गाथायें हैं।

अब इन भावों का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं —

(शार्दूलविक्रीडित)

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते,
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि,
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥ १८२ ॥

(हरिगीत)

स्वलक्षणों के प्रबलबल से भेदकर परभाव को ।
चिद्लक्षणों से ग्रहण कर चैतन्यमय निजभाव को ॥
यदि भेद को भी प्राप्त हो गुण धर्म कारक आदि से ।
तो भले हो पर मैं तो केवल शुद्ध चिन्मयमात्र हूँ ॥ १८२ ॥

जो कुछ भी भेदा जा सकता है; उस सबको स्वलक्षण के बल से भेदकर, जिसकी महिमा निर्विभाग है और जो चैतन्यमुद्रा से अंकित है — ऐसा शुद्धचैतन्य मैं ही हूँ। यदि कारकों के, धर्मों के या गुणों के भेद पड़ते हों तो भले ही पड़ें; किन्तु समस्त विभावों से रहित शुद्ध सर्वप्रभुतासम्पन्न चैतन्यस्वभावी विभु आत्मा में तो कोई भी भेद नहीं हैं।

यहाँ कारकों में कर्त्ता-कर्मादि षट्कारक, धर्मों में नित्यत्व-अनित्यत्वादि धर्मयुगल और गुणों में ज्ञान, दर्शन, सुखादि गुणों को लेना चाहिए।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"सम्यग्दर्शन के ध्येयरूप चिन्मात्र शुद्ध आत्मा में कर्त्ता-कर्म आदि कोई भेद नहीं है। इसप्रकार नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि अपेक्षित धर्मों के भेद भी शुद्धवस्तु में नहीं हैं। इसीप्रकार ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुणों का भेद भी शुद्ध अचल चैतन्यभाव में नहीं है। ज्ञायकभाव आत्मा में एक, नित्य, त्रिकाली, शाश्वत, अखण्ड, एकरूप ध्रुव सामान्य — ये कोई भेद नहीं हैं।

यद्यपि सद्भूतव्यवहारनय से षट्कारक के, नित्य-अनित्य आदि अपेक्षित धर्मों के तथा ज्ञान आदि गुणों के अनन्त भेद हैं; परन्तु निश्चय से शुद्धचिन्मात्रभाव में कोई भेद नहीं है। ज्ञान ..... ज्ञान ..... ज्ञान — ऐसे ज्ञान के पूरे ज्ञानमात्र भूतार्थ स्वभाव में कोई भेद नहीं है।[१]

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि — पर्याय में जो षट्कारकों के भेद खड़े किए हैं, वे भी अभेद एकरूप वस्तु में स्वीकृत नहीं हैं।

कारक, धर्म और गुणभेद तो मात्र ज्ञान कराने के लिए किये गये हैं। अन्तर दृष्टि के विषय में ऐसे कोई भेद दिखाई ही नहीं देते। द्रव्य में भेद हैं अवश्य, परन्तु अभेदस्वभाव पर दृष्टि जमने पर अर्थात् निर्विकल्प अनुभव में भेद दिखाई ही नहीं देते। आत्मा में अनन्त गुण हैं, परन्तु दृष्टि अभेद आत्मा को ही विषय बनाती है; अतः उसमें भेद दिखाई नहीं देते तथा यदि कोई अभेद को छोड़कर भेदों को देखे तो विकल्प अर्थात् राग उत्पन्न हुए बिना रहता ही नहीं है अर्थात् भेददृष्टि में राग ही होता है, धर्म नहीं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३६४-३६५

ज्ञान की एकसमय की पर्याय में छहों द्रव्यों का ज्ञान हो — ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य है। तथा ऐसी अनन्त पर्यायों का पिण्ड एक ज्ञानगुण है एवं जैसा एक ज्ञानगुण है, आत्मा में ऐसे-ऐसे अनन्त गुण एवं उनकी अनन्त पर्यायें हैं। ऐसे अनन्त गुणों का अभेद एक पिण्ड आत्मद्रव्य है। ऐसी अपनी अभेदवस्तु में गुण-गुणी के भेद भी लक्ष्य में लेने जैसे नहीं हैं; क्योंकि इससे राग ही होता है।

इसप्रकार प्रज्ञा द्वारा अर्थात् वर्तमानज्ञान की दशारूप अनुभव द्वारा आत्मा ग्रहण होता है — जाना जाता है। उसमें शुद्धात्मा द्रव्य है और अनुभव पर्याय है। यद्यपि आत्मा ज्ञान की पर्याय में आता नहीं है तथा पर्याय भी द्रव्य में एकमेक नहीं होती। जानती पर्याय ही है; क्योंकि कार्य तो पर्याय में ही होता है न ? ध्रुव तो अक्रिय ही रहता है।[१]

छह कारकों के भेद, सत्-असत् आदि धर्मों के भेद तथा ज्ञान-दर्शन आदि गुणों के भेद मात्र जानने के लिए हों तो भले हों; परन्तु आदर देने के लिए या आश्रय करने के लिए ये कोई भेद नहीं हैं। धर्म की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन और इसके विषयभूत शुद्ध चैतन्यमात्र भावों में ये कोई भेद नहीं हैं। यहाँ शुद्ध चैतन्यमात्र कहकर सभी भेद निकाल दिये हैं। अहो ! ऐसा एक शुद्ध चैतन्यमात्रभाव सम्यग्दर्शन का विषय है, ध्येय है।

'यह अभेद है', ऐसा विकल्प भी अभेद आत्मा में नहीं है। 'यह दृष्टि और यह दृष्टि का विषय' — वस्तु में ऐसा द्वैत भी नहीं है। बस, दृष्टि का शुद्ध चैतन्य पर टिकना — टिका रहना ही अभेददृष्टि है और इसी रीति से अभेद-एक आत्मा का ग्रहण होता है। 'द्रव्य सामान्य अभेद है' — ऐसा विकल्प भी नहीं, परन्तु पर्याय जो द्रव्य की ओर झुक गई — बस, इसे ही अभेद का अनुभव कहा जाता है। इसी का नाम समकित और धर्म है।

कारकभेद, धर्मभेद और गुणभेदों का जानना अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है तथा व्यवहाररत्नत्रय को जानना उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है। शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु का अनुभव करना शुद्धनय है। ऐसे शुद्धनय से अभेदरूप आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।[२]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३६५

२. वही, पृष्ठ ३६७

कविवर बनारसीदासजी इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं —

(सवैया इकतीसा)

कोऊ अनुभवी जीव कहै मेरे अनुभौ मैं,
लक्षन विभेद भिन्न करम को जाल है ।
जानै आपा आपुकौं जु आपुकरि आपुविषैं,
उतपति नास ध्रुव धारा असराल है ॥
सारे विकलप मोसौं न्यारे सरवथा मेरौ,
निहचै सुभाव यह विवहार चाल है ।
मैं तौ सुद्ध चेतन अनंत चिनमुद्रा धारी,
प्रभुता हमारी एकरूप तिहुं काल है ॥

कोई अनुभवी जीव कहते हैं कि लक्षणभेद से कर्म के जाल से भिन्न भगवान आत्मा मेरे अनुभव में आ गया है और मैं स्वयं को स्वयं से स्वयं में जानता हूँ, अनुभव करता हूँ। उत्पाद-व्यय और ध्रुव सम्बन्धी भेदधारा और तत् सम्बन्धी विकल्प मुझसे भिन्न हैं। उन्हें आत्मा का कहना मात्र व्यवहार है। निश्चय से मैं तो चिन्मुद्राधारी अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड शुद्धचेतनतत्त्व हूँ और मेरी यह प्रभुता तो त्रिकाल एकरूप है, अखण्ड है।

प्रश्न —आचार्य अमृतचन्द्र के मूल कलश में तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सम्बन्धी कोई बात नहीं है; पर यहाँ बनारसीदासजी ने उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य सम्बन्धी बात भी की है।

उत्तर —यह तो सर्वविदित ही है कि नाटक समयसार में सर्वत्र ही कलशटीका का अनुसरण किया गया है। कलश में समागत 'धर्म' पद से कलशटीका में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एवं द्रव्य-गुण-पर्याय लिए गये हैं। यही कारण है कि नाटक समयसार के इस छन्द में भी उनकी चर्चा आ गई है।

इसप्रकार इस कलश में भी वही बात कही गई है; जो विगत गाथाओं में कही गई थी। •

समयसार गाथा २९८—२९९

२९७वीं गाथा में जो बात सामान्य चेतकस्वभाव के बारे में अथवा सामान्य चेतना के बारे में कही गई थी; अब आगामी गाथाओं में वही बात ज्ञायकस्वभाव और दर्शकस्वभाव अथवा ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना के बारे में कही जा रही है।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं —

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥ २९८ ॥
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा ॥ २९९ ॥

(हरिगीत)

इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो देखता ।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९८ ॥
इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो जानता ।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥ २९९ ॥

प्रज्ञा के द्वारा इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो देखनेवाला है, वह निश्चय से मैं ही हूँ; शेष जो भाव हैं, वे मुझ से पर हैं — ऐसा जानना चाहिए।

प्रज्ञा के द्वारा इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो जाननेवाला है, वह निश्चय से मैं ही हूँ; शेष जो भाव हैं, वे मुझ से पर हैं — ऐसा जानना चाहिए।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

''चेतना दर्शन-ज्ञानरूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती; इसलिए चेतकत्व की भाँति दर्शकत्व और ज्ञातृत्व भी आत्मा के स्वलक्षण ही हैं। इसलिए मैं देखनेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ।

ग्रहण करता हूँ अर्थात् देखता ही हूँ। देखता हुआ ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुए के लिए ही देखता हूँ, देखते हुए से ही देखता

हूँ, देखते हुए में ही देखता हूँ, देखते हुए को ही देखता हूँ। अथवा नहीं देखता; न देखते हुए देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते हुए के लिए देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ और न देखते हुए को देखता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्धदर्शनमात्र भाव हूँ।

इसीप्रकार मैं जाननेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'जानता ही हूँ'; जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिए ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूँ, जानते हुए में ही जानता हूँ, जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा — नहीं जानता; न जानते हुए जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, न जानते हुए के लिए जानता हूँ, न जानते हुए से जानता हूँ, न जानते हुए में जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्धज्ञप्ति (जाननक्रिया) मात्र भाव हूँ।"

इसप्रकार देखनेवाले आत्मा को तथा जाननेवाले आत्मा को कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकों के भेदपूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारकभेदों का निषेध करके आत्मा को अर्थात् अपने को दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना चाहिए अर्थात् अभेदरूप से अनुभव करना चाहिए।

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए आत्मख्याति का ही अनुकरण किया है। आत्मख्याति में आनेवाले कलशों को भी तात्पर्यवृत्ति में उद्धृत किया है। अन्यत्र ऐसा बहुत कम हुआ है, पर इन गाथाओं की टीका में ऐसा हुआ है।

इन गाथाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"सामान्यपने से जिसको चेतना कहा जाता है, वही चेतना ज्ञान व दर्शन के भेद से दो प्रकार की है, दो स्वरूप से है। चेतना आत्मा का लक्षण है — ऐसा कहकर राग आत्मा से भिन्न है — यह सिद्ध करते हैं; परन्तु वह चेतना दर्शन व ज्ञानरूप भेद का तथा आत्मा के गुणस्वभावों का उल्लंघन नहीं करती। ज्ञान व दर्शन गुण अर्थात् सामान्यरूप से चेतना तो आत्मा का स्वभाव है। चैतन्यस्वरूपी आत्मा का एक ज्ञान ही स्वभाव है — ऐसा नहीं है, बल्कि दर्शन व ज्ञान — ये दोनों ही आत्मा के स्वभाव हैं। इसलिए चेतनपने की भाँति दर्शन

व ज्ञान — दोनों ही आत्मा के स्वलक्षण हैं। अनुभव में दर्शन व ज्ञान — दोनों आते हैं।[१]

चेतकपने की भाँति दर्शकपना व ज्ञातापना आत्मा का स्वलक्षण ही है। इसलिए मैं ज्ञातास्वभावी आत्मा को ग्रहण करता हूँ। यह सामान्य बात की। अब षट्कारक के भेद करके विशेष समझाते हैं।[२]

देखो, सर्वविशुद्ध अधिकार आनेवाला है न ? यह उसी की पृष्ठभूमि है। यहाँ कहते हैं कि — ये कर्त्ता-कर्म आदि के भेदरूप मैं नहीं हूँ, मैं तो सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ।

इसीप्रकार अब ज्ञान से समझाते हैं — मैं ज्ञायक अर्थात् ज्ञाता आत्मा को ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् जानता ही हूँ — यह सामान्य बात कही, अब षट्कारक के भेद करके विशेष समझाते हैं।

इसप्रकार छह कारकों के भेद के विचार पहले आते अवश्य हैं, पर भेदों का लक्ष्य करने से विकल्प ही उत्पन्न होते हैं। इसकारण समकिती भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद एक ज्ञानमात्र वस्तु आत्मा को ही ग्रहण करते हैं।

देखा, इसप्रकार छहों कारकों को रद्द कर दिया अर्थात् दृष्टि में से छोड़ दिया तथा 'मैं तो अभेद एक सर्वविशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव हूँ' — ऐसे ज्ञान की क्रिया को ज्ञानस्वभाव में जोड़ दिया। अहा ! 'मैं तो ज्ञायकस्वभावमात्र हूँ' — ऐसे अभेद एक आत्मा की दृष्टि होने पर पर्याय में भी केवल ज्ञायकस्वभाव ही आया है; राग व भेद नहीं आए। इसी का नाम धर्म है, आत्मा त्रिकालज्ञायकस्वभाव मात्र है। ऐसा जानते हुए, ज्ञान की पर्याय में भगवान आत्मा को उपादेय करते हुए पर्याय में भी जो ज्ञायकस्वभाव की परिणति प्रगट होती है, वही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है।[३]

इसप्रकार ज्ञाता-दृष्टास्वभावी आत्मा को कर्त्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान और अधिकरणरूप कारकों को भेदपूर्वक ग्रहण करके अर्थात्

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३७०
२. वही, पृष्ठ ३७१
३. वही, पृष्ठ ३७२

प्रथमज्ञान में भेदपूर्वक जानकर पश्चात् कारक के भेदों को दूर करके — भेदों का लक्ष्य छोड़कर स्वयं को शुद्ध एक दर्शनमात्र भावरूप से उसीप्रकार ज्ञानमात्र भावरूप से अनुभव करो। इसप्रकार अभेद के अनुभव को सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[१]''

इसप्रकार २९७ से २९९ तक की इन तीन गाथाओं में प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण करने को कहा गया है। 'ग्रहण करना' अर्थात् किसी अन्य वस्तु को ग्रहण करना अथवा लेना नहीं है; किन्तु चेतना का अनुभव करना ही आत्मा का ग्रहण करना है।

पहली गाथा में सामान्य चेतना का अनुभव कराया गया है। वहाँ अनुभव करनेवाला, जिसका अनुभव किया जाता है वह, और जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है वह — इत्यादि कारकभेदरूप से आत्मा को कहकर, अभेदविवक्षा में कारकभेद का निषेध करके, आत्मा को एक शुद्धचैतन्यमात्र कहा गया है।

उसके बाद की दो गाथाओं में दृष्टा तथा ज्ञाता का अनुभव कराया है; क्योंकि चेतनासामान्य दर्शन-ज्ञान विशेषों का उल्लंघन नहीं करती। इन दो गाथाओं में भी छह कारकरूप भेद अनुभवन कराके, तत्पश्चात् अभेद अनुभवन की अपेक्षा से कारकभेद को दूर कराके, ज्ञाता-दृष्टा मात्र का अनुभव कराया है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार इसप्रकार हैं —

''इन तीनों गाथाओं में प्रज्ञा द्वारा आत्मा को ग्रहण करने की बात कही है। 'ग्रहण करना' कहने में किसी अन्य वस्तु को ग्रहण करने या लेने की बात नहीं है, चेतना का अनुभव करना ही आत्मा का ग्रहण करना है।

सत् द्रव्यस्वभाव है, चित् गुणस्वभाव है एवं अनुभव करना पर्यायस्वभाव है। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ गए।

परभावों से एवं विकार से भिन्नता की बात पहले आ चुकी है। यहाँ तो निर्मल कारकों के भेद को भी दूर करने को कहा जा रहा है। चैतन्य की निर्मल

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३७३-३७४

पर्याय कर्त्ता, निर्मल पर्याय कर्म, निर्मल पर्याय करण इत्यादि षट् कारकों के परिणमन में जो लक्ष्य जाता है, वह भेदरूप व्यवहार है। इस भेद-व्यवहार का लक्ष्य छोड़कर चैतन्यप्रकाश के पुंज अभेद एक शुद्ध अन्तःतत्त्व की दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है।

पहले छह कारकों का भेद करके समझाया था। उसके बाद भेद का निषेध करके अभेद का अनुभव कराया; क्योंकि भेद की दृष्टि में अभेद का अनुभव नहीं होता। इस कारण भेद को गौण करके अभेदस्वरूप शुद्धचैतन्यमात्र वस्तु की दृष्टि कराई।[१]

देखो, अज्ञानी जीव ने अनादि से राग-द्वेष-कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का ही वेदन किया है। उसको जड़ का स्वाद तो कभी आता ही नहीं है और स्वरूप का स्वाद उसने कभी लिया नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि लाडू, बरफी, पेड़ा आदि मिष्ठान्न, धन-सम्पदा तथा स्त्री का सुन्दर शरीर आदि जड़पदार्थ तो परद्रव्य हैं। अतः उनका स्वाद आने का तो प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि एकद्रव्य का अन्यद्रव्य में अत्यंताभाव है। हाँ, उनके लक्ष्य से अज्ञानी को अपने रागादि का स्वाद आता है। उससे वह पर में भले-बुरे की कल्पना किया करता है। पर भाई ! यह तो दुःख का ही स्वाद है।

अहो ! यदि एक क्षण भी ज्ञानचेतना का स्वाद ले तो इसके जन्म-मरण ही टल जावें; पर अज्ञानी ने ऐसा प्रयत्न कभी किया ही नहीं।[२]''

२९७वीं गाथा में चिद्स्वभाव की बात कही गई थी और इन २९८-२९९वीं गाथा में दर्शनस्वभाव और ज्ञानस्वभाव की बात कही गई है। देखना-जानना चेतना के ही विशेष हैं। अतः २९७वीं गाथा में सामान्य कथन था और २९८-२९९वीं गाथा में विशेष कथन है।

इसप्रकार इन तीन गाथाओं में यही कहा गया है कि जो जानने-देखनेवाला चेतनतत्त्व है; वही मैं हूँ, शेष सभी भाव मेरे से भिन्न परपदार्थ हैं। इसप्रकार जानकर प्रज्ञाछैनी से जानने-देखनेवाले आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३७४
२. वही, पृष्ठ ३७६

अब इसी अर्थ का पोषक कलशरूप काव्य कहते हैं; जो इसप्रकार है —

(शार्दूलविक्रीडित)

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत् ।
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जड़ता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका—
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥ १८३ ॥

(हरिगीत)

है यद्यपि अद्वैत ही यह चेतना इस जगत में ।
किन्तु फिर भी ज्ञानदर्शन भेद से दो रूप है ॥
यह चेतना दर्शन सदा सामान्य अवलोकन करे ।
पर ज्ञान जाने सब विशेषों को तदपि निज में रहे ॥
अस्तित्व ही ना रहे इनके बिना चेतन द्रव्य का ।
चेतना के बिना चेतन द्रव्य का अस्तित्व क्या ?
चेतन नहीं बिन चेतना चेतन बिना ना चेतना ।
बस इसलिए हे आत्मन् ! इनमें सदा ही चेत ना ॥ १८३ ॥

यद्यपि जगत में निश्चय से चेतना अद्वैत ही है; तथापि यदि वह अपने दर्शन-ज्ञानरूप को छोड़ दे तो सामान्य-विशेषरूप के विरह (अभाव) से वह चेतना अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी। तात्पर्य यह है कि ज्ञान-दर्शन के अभाव में चेतना का अस्तित्व ही न रहेगा।

इसप्रकार चेतना के अपने अस्तित्व को छोड़ देने पर चेतन आत्मा जड़ हो जावेगा और व्यापक चेतना के बिना व्याप्य आत्मा नष्ट हो जावेगा। इसलिए इसी में भला है कि चेतना नियम से दर्शन-ज्ञानरूप ही हो।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं —

"समस्त वस्तुयें सामान्यविशेषात्मक हैं। इसलिए उन्हें प्रतिभासनेवाली चेतना भी सामान्यप्रतिभासरूप (दर्शनरूप) और विशेषप्रतिभासरूप (ज्ञानरूप) होनी चाहिए। यदि चेतना अपनी दर्शनज्ञानरूपता को छोड़ दे तो चेतना का ही

अभाव होने पर या तो चेतन आत्मा को (अपने चेतना गुण का अभाव होने पर) जड़त्व आ जायेगा अथवा तो व्यापक के अभाव से व्याप्य ऐसे आत्मा का अभाव हो जायेगा। (चेतना आत्मा की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होने से व्यापक है और आत्मा चेतन होने से चेतना का व्याप्य है। इसलिए चेतना का अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव हो जायेगा।) इसलिए चेतना को दर्शनज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिए।

यहाँ तात्पर्य यह है कि — सांख्यमतावलम्बी आदि कितने ही लोग सामान्य चेतना को ही मानकर एकान्त कथन करते हैं, उनका निषेध करने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषरूप है; इसलिए चेतना को सामान्यविशेषरूप अंगीकार करना चाहिए।''

यद्यपि दर्शनज्ञानरूप चेतना एक ही है; तथापि देखनेरूप दर्शन और जाननेरूप ज्ञान — इसप्रकार देखने और जानने के रूप में चेतना दो प्रकार से परिलक्षित होती है।

सामान्य अवलोकन को दर्शन कहते हैं और विशेष जानने को ज्ञान कहते हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि प्रत्येक वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। सामान्यविशेषात्मक ज्ञेयवस्तु को विषय बनानेवाली चेतना को भी सामान्यग्राही दर्शन और विशेषग्राही ज्ञान के रूप में दो प्रकार का होना स्वभाविक ही है।

इसप्रकार यह अद्वैत चेतना ही दर्शन और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है। इसी बात को इस कलश में सयुक्ति सिद्ध किया गया है। कहा गया है कि यह अद्वैत चेतना यदि देखने और जाननेरूप दोपने को छोड़ दे तो सामान्य और विशेष के अभाव हो जाने से अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी। जब चेतना का ही अस्तित्व नहीं रहेगा तो फिर चेतना के अभाव में चेतनद्रव्य जड़ हो जावेगा। जड़ ही नहीं, अपितु उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा; क्योंकि चेतना के बिना चेतन कैसा ? इसलिए भला इसी में है कि हम चेतना को दर्शनज्ञानरूप ही स्वीकार करें।

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"स्वभाव से चेतना एक होते हुए भी ज्ञाता-दृष्टापना भी इसका स्वरूप है। यदि वह ज्ञाता-दृष्टापना छोड़ दे तो चेतना का अभाव हो जायेगा तथा चेतना के बिना चेतन जीवद्रव्य जड़ हो जायेगा।

पहले बोल में आत्मा को जड़ होने का दोष दर्शाया था और अब दूसरे बोल में आत्मा को नष्ट होने का दोष बता रहे हैं। यदि व्यापक चेतना ही न रहे तो व्याप्य आत्मा का नाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

इसप्रकार चेतना के दो रूप नहीं मानने से दो दोष उत्पन्न होते हैं।[१]

चेतना को दर्शनज्ञान स्वरूप ही मानना। जैसा वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषरूप है, उसीप्रकार वस्तु को देखने-जानने रूप चेतना भी सामान्य दर्शनस्वरूप और विशेष ज्ञानस्वरूप है। ऐसे अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को जानकर उसी में एकाग्रपने लीन होकर रहना — इसी का नाम धर्म है।[२]"

बनारसीदासजी इस कलश का भावानुवाद दो छन्दों में इसप्रकार करते हैं —

(सवैया इकतीसा)

निराकार चेतना कहावै दरसन गुन,
साकार चेतना सुद्ध ज्ञान गुनसार है ।
चेतना अद्वैत दोऊ चेतन दरब मांहि,
सामान्य विशेष सत्ता ही कौ विसतार है ॥
कोऊ कहै चेतना चिह्न नांही आतमा मैं,
चेतना के नास होत त्रिविध विकार है ।
लक्षन कौ नास सत्ता नास मूल वस्तु नास,
तांतै जीव दरब कौ चेतना आधार है ॥

(दोहा)

चेतन लक्षन आतमा, आतम सत्ता मांहि ।
सत्तापरिमित वस्तु है, भेद तिहूँ मैं नांहि ॥

दर्शनगुण को निराकार चेतना कहते हैं और ज्ञान गुण को साकार चेतना कहते हैं। ये दोनों ही चेतनायें चेतनद्रव्य में अद्वैतरूप से रहती हैं। सामान्य और विशेष एक सत्ता के ही विस्तार हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३७८
२. वही, पृष्ठ ३८०

कोई कहता है कि आत्मा में चेतना का चिन्ह नहीं है। उनसे कहते हैं कि चेतना का नाश मानने पर, चेतना का अभाव मानने पर तीनप्रकार के दोष (आपत्ति) आयेंगे। चेतना जीव का लक्षण है; अत: चेतना का अभाव मानने पर सबसे पहले तो लक्षण का नाश हो जावेगा; दूसरे सत्ता का नाश हो जावेगा और तीसरे मूलवस्तु का ही नाश हो जावेगा। इसलिए जीवद्रव्य का आधार तो चेतना ही है।

आत्मा की सत्ता है और आत्मा का लक्षण चैतन्य है। प्रत्येक वस्तु अपनी सत्ता में सीमित है। इसप्रकार चेतन, आत्मा और सत्ता — इन तीनों में कोई भेद नहीं है, तीनों एक ही है। तात्पर्य यह है कि चैतन्यलक्षण से लक्षित आत्मा सत्तास्वरूप वस्तु है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि सामान्यविशेषात्मक आत्मवस्तु का लक्षण दर्शन-ज्ञान चेतना है। **निराकारं दर्शनं साकारं ज्ञानं** सूत्र के अनुसार सामान्यग्राही दर्शन निराकार होता है, निर्विकल्प होता है और विशेषग्राही ज्ञान साकार होता है, सविकल्प होता है। आत्मा को दर्शन-ज्ञानरूप चेतना से रहित मानने पर अनेक आपत्तियाँ खड़ी होती हैं। अत: दर्शन-ज्ञान चेतना को जीव का लक्षण स्वीकार करना ही अभीष्ट है।

इसके बाद नाटक समयसार में तीन छन्द और भी आते हैं, जिनमें आत्मा का ही विवेचन है; परन्तु उसप्रकार के कोई छन्द आत्मख्याति में समागत छन्दों में नहीं हैं। अत: उनको यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

अब आगामी गाथा की सूचनिकारूप कलशकाव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार हैं —

(इन्द्रव्रज्रा)

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो,
भावा: परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो,
भावा: परे सर्वत एव हेया: ॥१८४॥

(दोहा)

चिन्मय चेतनभाव हैं पर हैं पर के भाव ।
उपादेय चिद्भाव हैं हेय सभी परभाव ॥१८४॥

चेतन आत्मा का तो एक चिन्मयभाव ही है। अन्य जो भाव हैं, वे आत्मा के नहीं हैं, वे अन्य के ही भाव हैं। इसलिए एक चिन्मयभाव ग्रहण करने योग्य है, शेष सभी भाव पूर्णत: हेय हैं।

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार किया गया है —

(अडिल्ल)

जाके चेतन भाव, चिदानन्द सोइ है ।
और भाव जो धरै, सौ औरौ कोइ है ॥
जो चिनमंडित भाउ, उपादे जाननैं ।
त्याग जोग परभाव, पराये माननैं ॥

जिसके चेतनभाव हैं, वही चिदानन्द आत्मा है। चेतनभावों से भिन्न भावों को धारण करनेवाले पदार्थ आत्मा नहीं हैं, अन्य ही हैं। जो भाव चैतन्यभाव से मंडित हैं, वे उपादेय हैं; शेष सभी परभाव पर मानकर त्यागने योग्य हैं।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"एक चिन्मयभाव के सिवाय सर्वभाव परभाव हैं। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध पड़ता है, वह भाव भी परभाव है। वह भी जीवभाव नहीं है। जब ऐसी वस्तुस्थिति है तो शुभभावरूप परभाव से आत्मा में धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?[१]

अभेद एक चिन्मय आत्मा में एकाग्रता करना ही दु:ख की मुक्ति का उपाय है। बीच में व्यवहार आता अवश्य है, पर यह कोई उपाय नहीं, यह तो बन्ध का ही कारण है। इसलिए चिन्मयभाव ही ग्रहण करने योग्य है। अन्य सभी भाव सर्वथा छोड़ने योग्य हैं।[२]"

इस सरल-सुबोध कलश में एक ही बात कही गई है कि आत्मा तो चैतन्यमात्र ही है; और जो भाव हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं, वे आत्मा नहीं हैं; इसलिए आत्मकल्याण के लिए चैतन्यलक्षण से लक्षित आत्मा ही उपादेय है, शेष सभी भाव हेय हैं। यही बात आगामी गाथा में भी कही गई है। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३८२
२. वही, पृष्ठ ३८३

समयसार गाथा ३००

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइए भावे ।
मज्झमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३००॥

(हरिगीत)

निज आतमा को शुद्ध अर पररूप पर को जानता ।
है कौन बुध जो जगत में परद्रव्य को अपना कहे ॥ ३००॥

अपने शुद्ध आत्मा को जाननेवाला और सर्व परभावों को पर जाननेवाला कौन ज्ञानी ऐसा होगा कि जो यह कहेगा कि ये परपदार्थ मेरे हैं ? तात्पर्य यह है कि कोई भी समझदार व्यक्ति यह नहीं कहता कि परपदार्थ मेरे हैं तो फिर आत्मज्ञानी व्यक्ति ऐसी बात कैसे कह सकता है ?

आत्मख्याति में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

''जो पुरुष पर के और आत्मा के नियत स्वलक्षणों के विभाग में पड़नेवाली प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी हुआ है; वह वास्तव में एक चिन्मात्रभाव को अपना जानता है और शेष सभी भावों को दूसरों का जानता है। ऐसा जानता वह पुरुष परभावों को 'ये मेरे हैं' — ऐसा क्यों कहेगा; क्योंकि पर में और अपने में निश्चय से स्व-स्वामीसम्बन्ध संभव नहीं है। इसलिए सर्वथा चिद्भाव ही ग्रहण करने योग्य है, शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य हैं — ऐसा सिद्धान्त है।''

इस गाथा और टीका का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

''आत्मा का स्वभाव चेतना है और राग भिन्न है, पर है; इसप्रकार दोनों के बीच सांध है। उन दोनों के बीच प्रज्ञाछैनी पटकने पर 'स्व' का ज्ञान होता है तथा नास्तिपने राग मेरी वस्तु नहीं है — ऐसा ज्ञान हो जाता है। इसी का नाम भेदविज्ञान है, धर्म है। भाई ! धर्म करनेवाले को प्रथम यह भेदविज्ञान करना आवश्यक है, तभी वह धर्मी-ज्ञानी होता है।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३८५

जिसने राग से भिन्न शुद्ध चेतनामात्र भगवान आत्मा का अनुभव किया, वह ज्ञानी व्यवहार के राग को अपना कैसे मान सकता है ? क्योंकि पर व निज के साथ निश्चय से स्व-स्वामीसम्बन्ध असंभव है। शुद्ध चेतनास्वभाव 'स्व' और स्वयं का आत्मा उसका 'स्वामी' — ऐसा स्व-स्वामीसम्बन्ध है। पर राग 'स्व' व आत्मा 'स्वामी' — ऐसा सम्बन्ध नहीं है। तो फिर ज्ञानी उस राग को अपना कैसे माने ? परभाव का स्वामी पर है, आत्मा उसका स्वामी नहीं है।

समयसार परिशिष्ट में ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। उसमें अन्तिम स्व-स्वामी सम्बन्ध शक्ति है। जिस शक्ति के कारण अपने द्रव्य-गुण व निर्मलपर्याय अपना 'स्व' है और स्वयं आत्मा उसका 'स्वामी' है, ऐसी 'स्व-स्वामीसम्बन्ध' शक्ति है; पर विकार अपना स्व और स्वयं विकार का स्वामी — ऐसा स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा विकार का स्वामी बने — ऐसी उसमें कोई शक्ति ही नहीं है।[१]''

इस गाथा में कोई विशेष बात नहीं कही हैं। मात्र इतना ही कहा है कि परपदार्थों को आत्मा से पूर्णत: भिन्न जाननेवाला ज्ञानी पुरुष यह कैसे कह सकता है कि परपदार्थ मेरे हैं। लौकिक सज्जन पुरुष भी परधन को अपना नहीं कहते तो फिर लोकोत्तर पुरुष इसप्रकार की बात कैसे करेंगे ?

यहाँ आत्मा और रागादि में स्वस्वामीसम्बन्ध के अभाव के आधार पर यह बात सिद्ध की गई है। स्वस्वामीसम्बन्ध का निषेध तो जीवाजीवाधिकार में ही विस्तार से कर आये हैं। अत: यहाँ उस पर विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं है।

अब इसी बात को दृढ़ता प्रदान करते हुए आगामी कलश लिखते हैं; जो इसप्रकार है —

(शार्दूलविक्रीडित)

सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि: सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योति: सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावा: पृथग्लक्षणा —
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥ १८५ ॥

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३८६

(हरिगीत)

मैं तो सदा ही शुद्ध परमानन्द चिन्मयज्योति हूँ ।
सेवन करें सिद्धान्त यह सब ही मुमुक्षु बन्धुजन ॥
जो विविध परभाव मुझ में दिखें वे मुझ से पृथक् ।
वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे लिए परद्रव्य हैं ॥१८५॥

जिनका चित्त और चरित्र उदार हैं — ऐसे मोक्षार्थी के द्वारा इस सिद्धान्त का सेवन किया जाना चाहिए कि मैं तो सदा एक शुद्ध चैतन्यमय परमज्योति हूँ और मुझसे पृथक् लक्षणवाले विविध प्रकार के जो भाव प्रगट होते हैं; वे मैं नहीं हूँ; क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार किया है —

(सवैया तेईसा)

चेतन मण्डित अंग अखंडित, सुद्ध पवित्र पदारथ मेरौ ।
राग विरोध विमोह दसा, समुझै भ्रम नाटक पुद्गल केरौ ॥
भोग संयोग वियोग बिथा, अवलोकि कहै यह कर्मज घेरौ ।
है जिन्ह कौ अनुभौ इह भाँति, सदा तिन कौं परमारथ नेरौ ॥

जो व्यक्ति यह समझते हैं कि मेरा आत्मा तो चैतन्य से मंडित है, पूर्णत: अखण्डित है, शुद्ध है, पवित्र है और परमपदार्थ है; राग-द्वेष-मोह की दशा भ्रम है और पुद्गल का नाटक है। ये भोग, संयोग और वियोग की व्यथा — सबकुछ कर्मोदय के परिणाम हैं, कर्मजन्य हैं; इनमें मेरा कुछ भी नहीं है, जो व्यक्ति इसप्रकार का अनुभव करते हैं, परमार्थ सदा ही उनके निकट है। तात्पर्य यह है कि वे शीघ्र ही मुक्तिपद को प्राप्त करेंगे।

उक्त कलश में एक ही बात कही गई है कि जो मोक्षार्थी हैं, मुमुक्षु हैं, जिन्हें दु:खों से मुक्त होने की आकांक्षा है; उन्हें इस महान सिद्धान्त पर अपनी श्रद्धा दृढ़ करना चाहिए और इसी के अनुसार आचरण भी करना चाहिए।

प्रश्न : जिस महान सिद्धान्त पर चलने की बात कही जा रही है, वह महान सिद्धान्त आखिर है क्या ?

उत्तर : और कुछ नहीं, बस यही कि मैं तो एक शुद्ध चैतन्यमय परमज्योति हूँ। ये मोह-राग-द्वेष के भाव यद्यपि मुझमें ही उत्पन्न होते हैं, पर ये भाव मुझसे भिन्न ही है। ये मेरे नहीं हैं, मैं इन रूप नहीं हूँ, इनका कर्त्ता-धर्त्ता भी मैं नहीं हूँ।

इसप्रकार की मान्यता ही महान सिद्धान्त है, जिस पर चलने की प्रेरणा यहाँ दी जा रही है।

कविवर बनारसीदास ने उक्त छन्द के पहले एक छन्द लिखा है, जिसमें मोक्षार्थी का स्वरूप स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। मोक्षार्थी का स्वरूप स्पष्ट करनेवाला वह छन्द इसप्रकार है —

(सवैया इकतीसा)

जिन्ह कैं सुमति जागी भोग सौं भये विरागी,
परसंग त्याग जे पुरुष त्रिभुवन मैं ।
रागादिक भावनि सौं जिनिकी रहनि न्यारी,
कबहूं मगन ह्वै न रहैं धाम धन मैं ॥
जे सदैव आपकौं विचारैं सरवांग सुद्ध,
जिन्ह कै विकलता न व्यापै कहूं मन मैं ।
तेई मोख मारग के साधक कहावैं जीव,
भावै रहौ मंदिर मैं भावै रहौ वन मैं ॥

तीन लोक में जिन पुरुषों की सुमति जागृत हो गई है, जो पुरुष वैरागी हो गये हैं और परसंग (परिग्रह) के त्यागी हो गये हैं, रागादिभावों से स्वयं को सदा भिन्न मानते हैं और उनसे दूर रहने में प्रयासरत रहते हैं तथा धन-संपत्ति और घर-मकान में कभी भी मग्न नहीं होते, जो स्वयं को सदा ही सर्वांग शुद्ध विचारते हैं, जिनके मन में कभी भी विकलता नहीं व्यापती; वे पुरुष चाहे घर में रहें, चाहे वन में रहे; तात्पर्य यह है कि चाहे गृहवासी गृहस्थ हो, चाहे वनवासी साधु हो; वे पुरुष ही मोक्षमार्ग के साधक मोक्षार्थी कहे जाते हैं।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं; जो इसप्रकार हैं —

''कलश में पहला शब्द **'मोक्षार्थी'** आया है। मोक्षार्थी कहो या धर्मी कहो या ज्ञानी कहो — तीनों एकार्थक हैं। अनन्त सुखमय मोक्ष का आंशिक अनुभव

जिसे हुआ है, वह मोक्षार्थी है। कलशटीका में मोक्षार्थी का अर्थ ऐसा किया है कि सकल कर्मों के क्षय से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख का जिसने उपादेयरूप अनुभव किया है — ऐसा जीव। अतीन्द्रिय आनन्द का अंश जिसके स्वाद में आया है तथा जो पूर्ण आनन्द का अर्थी है, वह मोक्षार्थी है।

नियमसार में पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द के आत्मलाभ को मोक्ष कहा है तथा ऐसे मोक्ष का जो अर्थी, वह मोक्षार्थी है। पूर्ण आनन्दस्वरूप मोक्ष के कारणरूप मार्ग में जो स्थित है, वह मोक्षमार्गी ही भोक्षार्थी है। दूसरे प्रकार से कहें तो मोक्ष जिनका प्रयोजन है और जो मोक्ष के लिए ही निरन्तर प्रयत्नरत हैं, वे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा मोक्षार्थी हैं।

अनन्तदु:ख की दशा संसार है, इससे विपरीत अनन्त आनन्द की दशा मोक्ष है तथा जिसमें किंचित् आनन्द की दशा और किंचित् दु:ख की दशा है — वह साधक मोक्षार्थी है।

'मोक्षार्थी' को ही परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जिसमें ज्ञान व आनन्द पूर्ण स्वभाव विद्यमान है, उस भगवान आत्मा की जिसको दृष्टि हुई है, उसी का जिसे ज्ञान हुआ है और अन्दर में रमणतारूप आचरण प्रगट हुआ है, वह मोक्षार्थी है। ऐसे मोक्षार्थी के चित्त का चरित्र उदात्त है अर्थात् उसके ज्ञान का आचरण उदार है, उच्च है, उज्ज्वल है। क्षण-क्षण में उसके आनन्द की रमणता वृद्धिंगत होती रहती है।[१]

भगवान आत्मा शुद्ध चेतनास्वरूप है। उसमें अन्तर एकाग्र होकर उसी में रमना, ठहरना ही ज्ञान का आचरण है।[२]

मोक्षमार्गी-धर्मी अपने को ऐसा अनुभव करता है कि वस्तुत: तो मैं एकरूप ही हूँ तथा ये भूमिकानुसार भिन्न लक्षणवाले अनेकप्रकार के शुभाशुभ भाव, जो वर्तमान पर्याय में प्रगट होते रहते हैं, मैं उन स्वरूप नहीं हूँ; वे भाव मुझसे भिन्न ही हैं।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३८८-३८९
२. वही, पृष्ठ ३८९
३. वही, पृष्ठ ३९१

जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है, ऐसी षोडषकारण भावनाएँ भी मेरे लिए परद्रव्य हैं — ऐसा कहते हैं। कर्मप्रकृति तो अजीव पर है ही; परन्तु जो व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प उत्पन्न होता है, वह भी मेरे लिए अजीव — पर चीज है — ऐसा कहा है।[१]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि मोह-राग-द्वेष भावों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही धर्म है और तदनुसार आचरण ही धर्माचरण है।

अब आगामी गाथा की सूचक देनेवाला कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है —

(अनुष्टुप्)

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥ १८६ ॥

(दोहा)

परग्राही अपराधिजन बाँधे कर्म सदीव।
स्व में ही संवृत्त जो वे ना बंधे कदीव ॥ १८६ ॥

परद्रव्य को ग्रहण करनेवाला अपराधी होने से बन्धन को प्राप्त होता है और स्वद्रव्य में संवृत्त यति निरपराधी होने से बन्धन को प्राप्त नहीं होते।

जिसप्रकार लोक में जो व्यक्ति परधनादि को ग्रहण करता है, वह अपराधी माना जाता है और बन्धन को प्राप्त होता है; उसीप्रकार इस अलौकिक मार्ग में भी जो आत्मा परभावों का स्वामी तथा कर्त्ता-भोक्ता बनता है, वह अपराधी होने से कर्मबन्धन को प्राप्त होता है और जो स्वद्रव्य में ही सिमट कर रहता है, अपने उपयोग को अपने आत्मा ही में लगाता है, अपने आत्मा को ही निज जानता-मानता है और अपने में ही जमता-रमता है, वह निरपराधी होने से बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में कविवर बनारसीदास इसप्रकार करते हैं —

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३९२

(दोहा)

जो पुमान परधन हरै, सो अपराधी अग्य ।
जो अपनौ धन व्यौहरै, सो धनपति सरवग्य ॥
परकी संगति जौ रचै, बंध बढ़ावै सोई ।
जो निज सत्ता मैं मगन, सहज मुक्त सो होई ॥

जिसप्रकार जो पुरुष परधन का हरण करते हैं, वे अज्ञानी जीव अपराधी हैं; किन्तु जो पुरुष अपने धन का ही उपयोग करते हैं; सबकुछ जाननेवाले वे धनपति है।

उसीप्रकार पर की संगति रचने-पचनेवाले लोग बन्ध को बढ़ाते हैं और व्यक्ति अपने अस्तित्व में ही मग्न रहते हैं; उन्हें सहजभाव से ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व रखनेवाले कर्मबन्धन को प्राप्त होते हैं और अपने आत्मा में ही एकत्व-ममत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व रखनेवाले जीव कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।

इन छन्दों के बाद नाटक समयसार में पाँच छन्द ऐसे आये हैं, जिनमें सत्ता के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है; किन्तु उक्त भाव के पोषक कोई भी छन्द आत्मख्याति में नहीं हैं। इसकारण उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है। जिज्ञासु पाठक नाटकसमयसार का स्वाध्याय कर अपनी जिज्ञासा शान्त करें। ●

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्त्ता स्वयं है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमन में उसे परद्रव्य की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। नित्यता की भाँति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है। अथवा पर्याय की कर्त्ता स्वयं पर्याय है। उसमें तुझे कुछ भी नहीं करना है अर्थात् कुछ भी करने की चिन्ता नहीं करना है। अजीव द्रव्य पर में तो कुछ करते ही नहीं, अपनी पर्यायों को करने की भी चिन्ता नहीं करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है? नहीं, तो फिर जीव भी क्यों परिणमन की चिन्ता में व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो ?

— क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ २८

समयसार गाथा ३०१—३०३

थेयादी अवराहे जो कुव्वदि सो उ संकिदो भमइ ।
मा बज्झेज्जं केण चोरी त्ति जणम्हि वियरंतो ॥ ३०१ ॥
जो ण कुणदि अवराह सो णिस्संको दु जणवदि भमदि ।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥ ३०२ ॥
एवम्हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा ।
जइ पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ॥ ३०३ ॥

(हरिगीत)

अपराध चौर्यादिक करें जो पुरुष वे शंकित रहें ।
कि चोर है यह जानकर कोई मुझे ना बाँध ले ॥ ३०१ ॥
अपराध जो करता नहीं निःशंक जनपद में रहे ।
बंध जाऊँगा ऐसी कभी चिन्ता न उसके चित्त रहे ॥ ३०२ ॥
अपराधि जिय 'मैं बधूँगा' इसतरह नित शंकित रहे ।
पर निरपराधी आतमा भयरहित है निःशंक है ॥ ३०३ ॥

जो पुरुष चोरी आदि अपराध करता है, वह 'कोई मुझे चोर समझकर पकड़ न ले' — इसप्रकार शंकित होता हुआ लोक में घूमता है।

जो पुरुष अपराध नहीं करता है, वह लोक में निशंक घूमता है; क्योंकि उसे बंधने की चिन्ता कभी भी उत्पन्न नहीं होती।

इसीप्रकार अपराधी आत्मा 'मैं अपराधी हूँ, इसलिए मैं बंधूँगा' — इसप्रकार शंकित होता है और यदि वह निरपराध हो तो 'मैं नहीं बंधूँगा' — इसप्रकार निशंक होता है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है —

"जिसप्रकार जगत में जो पुरुष परद्रव्य के ग्रहणरूप अपराध को करता है, उसको बंधने की शंका होती ही है और जो इसप्रकार के अपराध नहीं करता, उसे बंधने की शंका भी नहीं होती; उसीप्रकार यह आत्मा भी अशुद्ध

वर्तता हुआ परद्रव्य के ग्रहणरूप अपराध करता है तो उसे बन्ध की शंका होती है तथा जो आत्मा शुद्ध वर्तता हुआ उक्तप्रकार का अपराध नहीं करता, उसे बन्ध की शंका नहीं होती — ऐसा नियम है।

इसलिए समस्त परकीय भावों के सर्वथा परिहार द्वारा शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है।''

उक्त गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार खोलते हैं —

''जो कोई भी जीव अपने शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को छोड़कर पुण्यपरिणाम में (व्यवहार में) अपनेपन से वर्तता है, वह अपराधी है और उसे स्वयं शंका होती है कि मैं बँधता हूँ — ऐसी शंकावाला स्वयं बंधन में पड़ता ही है।

परन्तु जो शुद्ध प्रवर्तन करता हुआ अपराध नहीं करता, उसे बन्धन की शंका ही नहीं होती। 'मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु एक शुद्ध चिन्मात्र आत्मा हूँ' — जो ऐसी अनुभवरूप वर्तमानदशा में वर्तता है, वह अपराधी नहीं है। ऐसे आत्मा को बंधन की शंका नहीं होती — ऐसा नियम है।[१]

जितने भी दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभ विकल्प उठते हैं, वे सब परद्रव्य हैं, परभाव हैं, वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। 'उन सर्व परभावों का सर्वथा परिहार करके' इस वाक्य में सर्व व सर्वथा — ये दो शब्द आये हैं। इनका अर्थ यह है कि समस्त शुभाशुभ परभावों का सर्वथा लक्ष्य छोड़कर निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को जानना, अनुभव करना तथा इसी में दृष्टि लगाकर स्थिर होना। यही शुद्ध आत्मा का ग्रहण है और यही निरपराध दशा है।

सर्व शुभाशुभ राग का भी लक्ष्य छोड़कर अपने शुद्ध एक चैतन्यभाव को ग्रहण करने से निरपराध होते हैं। यह है निरपराध होने की रीति।[२]''

उक्त गाथाओं में यही कहा गया है कि जिसप्रकार लोक में अपराध करनेवाला निरन्तर सशंक रहता है, उसे ऐसी शंका निरन्तर बनी ही रहती है कि मैं पकड़ा न जाऊँ। इसीकारण वह बन्धन को प्राप्त होता है। उसीप्रकार

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३९८
२. वही, पृष्ठ ३९९

आत्मा की आराधना से रहित लोग पुण्य-पाप रूप भावों में परिणमित होते रहते हैं और निरन्तर सशंक रहते हुए बन्धन हो प्राप्त होते हैं।

जिसप्रकार लोक में निरपराधी निरन्तर निशंक रहते हुए बन्धन को प्राप्त नहीं होते; उसीप्रकार आत्मा की आराधना करनेवाले निरपराधी आत्मार्थी भाई भी निरन्तर निशंक रहते हैं और बन्धन को भी प्राप्त नहीं होते।

इसलिए निरपराधी रहने के लिए परभावों के परित्याग द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहिए, आत्मा की आराधना करना चाहिए। •

एक ओर पर और निजपर्याय से भी रहित ज्ञानानन्दस्वभावी निजशुद्धात्मतत्त्व 'स्व' है और दूसरी ओर सम्पूर्ण परपदार्थ, जिनमें परजीव भी सम्मिलित हैं तथा पर के लक्ष्य से निजात्मा में ही उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूप शुभाशुभभाव एवं निजात्मा के आश्रय से निजात्मा में ही उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव हैं; ये सभी 'पर' हैं।

इसप्रकार सम्पूर्ण जगत को स्व और पर में विभाजित करके पर से विमुख होकर स्वसन्मुख होना ही भेदविज्ञान है, आत्मानुभूति है, संवर है, संवरभावना है, संवरभावना का फल है।

श्रद्धागुण की जो निर्मलपर्याय उक्त 'स्व' में एकत्व स्थापित करती है, अहं स्थापित करती है, ममत्व स्थापित करती है, अहंकार करती है, ममकार करती है, एकाकार होती है; उसी निर्मलपर्याय का नाम सम्यग्दर्शन है। इसीप्रकार ज्ञानगुण की जो निर्मलपर्याय उक्त 'स्व' को निज जानती है, वह सम्यग्ज्ञान है। उसी का ध्यान करनेवाली, उसी में लीन हो जानेवाली, जम जानेवाली, रम जानेवाली, समा जानेवाली चारित्रगुण की निर्मलपर्याय सम्यक्चारित्र है।

यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुक्ति का मार्ग है, शुभाशुभभावरूप आस्रवभावों के निरोधरूप होने से संवर है, संवरभावना है। अतीन्द्रिय आनन्दमय होने से यही रत्नत्रय संवरभावना का सुमधुर फल भी है।

— बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ १२२-१२३

समयसार गाथा ३०४—३०५

विगत गाथाओं में कहा था कि अपराधी बंधता है और निरपराधी छूटता है। अत: अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अपराध क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर ही इन ३०४-३०५वीं गाथाओं में है; जो इसप्रकार हैं —

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधिय च एयट्ठं ।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ॥ ३०४॥
जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणाइ णिच्चं बट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥ ३०५॥

(हरिगीत)

साधित अराधित राध अर संसिद्धि सिद्धि एक है ।
बस राध से जो रहित है वह आतमा अपराध है ॥ ३०४॥
निरपराध है जो आतमा वह आतमा नि:शंक है ।
'मैं शुद्ध हूँ' — यह जानता आराधना में रत रहे॥ ३०५॥

संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित — ये एकार्थवाची हैं। जो आत्मा अपगतराध है अर्थात् राध से रहित हैं; वह आत्मा अपराध है।

और जो आत्मा निरपराध है, वह नि:शंक होता है। ऐसा आत्मा ही मैं हूँ — ऐसा जानता हुआ आत्मा सदा आराधना में वर्तता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन ही राध है और जो आत्मा अपगतराध है अर्थात् राधरहित है, वह आत्मा अपराध है अथवा जो भाव राधरहित हो, वह भाव अपराध है। उस अपराध में वर्तनेवाला आत्मा सापराध है।

परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव के द्वारा शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव के कारण उस आत्मा को बन्ध की शंका होती है; इसलिए वह स्वयं अशुद्ध होने से अनाराधक ही है और समग्र परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि के

सद्भाव के कारण बन्ध की शंका नहीं होने से निरपराधी आत्मा — 'उपयोग लक्षणवाला शुद्धात्मा मैं ही हूँ' — इसप्रकार का निश्चय करता हुआ शुद्धात्मा की सिद्धिरूप आराधनापूर्वक सदा वर्तता है; इसलिए वह आराधक ही है।''

उक्त गाथाओं के भाव को अत्यन्त सरल-सुबोध शब्दों में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

''संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित — इन शब्दों का एक ही अर्थ है, यहाँ शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन का नाम 'राध' है। जिसके वह राध नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके वह राध है वह आत्मा निरपराध है। जो सापराध है, उसे बन्ध की शंका होती है; इसलिए वह स्वयं अशुद्ध होने से अनाराधक है और जो निरपराध है, वह निःशंक होता हुआ अपने उपयोग में लीन होता है; इसलिये उसे बन्ध की शंका नहीं होती, इसलिये 'जो शुद्ध आत्मा है वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है।''

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में ३०५वीं गाथा है ही नहीं। अभीतक ऐसी गाथाएँ तो अनेक आई हैं, जो तात्पर्यवृत्ति में थी, पर आत्मख्याति में नहीं; पर यह पहला अवसर है कि जब ऐसा देखने में आया कि आत्मख्याति में प्राप्त गाथा तात्पर्यवृत्ति में नहीं है।

३०४ वीं गाथा का अर्थ करते समय आचार्य जयसेन लिखते हैं कि निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर निजशुद्धात्मा की आराधना करना ही राध है।

इसी बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

''भाई ! पर की ओर के लक्ष्यवाले सभी भाव, चाहे वे हिंसादि पापभाव हों या अहिंसादि पुण्यभाव हों — वे सर्वभाव अपराध हैं। वे भाव बन्धसाधक हैं। जो उन भावों का सेवन करता है, वह बन्ध का ही सेवन करता है और उससे संसार की ही सिद्धि व वृद्धि होती है। ऐसा यथार्थ जानकर जो समस्त परभावों से विमुख होकर आत्मा के सन्मुख होता है, भगवान आत्मा के निर्मल ज्ञान, श्रद्धान एवं अन्तररमणतारूप चारित्र प्रगट करता है, उसको आत्मा की सिद्धि होती है; आत्मा प्राप्त होता है। ऐसी शुद्धात्मा की सिद्धि ही मोक्ष का साधन है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४०२-४०३

इसप्रकार अन्तर्दृष्टिवंत को आत्मा की सिद्धि हो जाती है। यही साधकभाव है और यही राध है।[१]

देखो, पहले यह कह आये हैं कि जो आत्मा राधरहित है, वह अपराध है तथा अब यहाँ ऐसा कहा है कि जो भाव राधरहित है, वह अपराध है। यहाँ आत्मा और भाव को एकार्थवाची लिया है।

जिन भावों से शुद्ध आत्मा का सेवन न होता हो, वे सर्व रागादिभाव अपराध हैं तथा जिसका भाव अपराध है, वह आत्मा अपराध है।[२]

जो जीव राग की आराधना करता है, वह सापराध है और उसे आत्मा की सिद्धि का अभाव है।[३]

जिसकी दृष्टि के विषय में अपना पूर्ण परमेश्वर प्रभु आत्मा वर्तता है, वह जीव आराधक है। उसे ही आत्मा का सेवन करनेवाला साधक कहा जाता है। मैं शुद्धोपयोगमय ही हूँ — जिसे अन्तरंग में ऐसा दृढ़ श्रद्धान हुआ है, वह सदा ही आराधक है।[४]

देखो ! जो सापराध है, उसे वन्ध की शंका होती है; इसलिए वह स्वयं अशुद्ध है, इसकारण वह अनाराधक है।

जो निरपराध है, वह नि:शंक है। वह अपने उपयोग में लीन होता है। धर्मी अपने ज्ञान-दर्शनमय आत्मा में लीन है।[५]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि आत्मा की साधना ही राध है और जो आत्मा उक्त साधना से रहित है, वह आत्मा स्वयं अपराध है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की साधना से रहित भाव अपराध है और उस अपराध से सहित होने से आत्मा अपराधी है। आत्मा अपराधी है; इसलिए एकप्रकार से आत्मा ही अपराध है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४०३
२. वही, पृष्ठ ४०४
३. वही, पृष्ठ ४०५
४. वही, पृष्ठ ४०६
५. वही, पृष्ठ ४०८

अब इसी भाव का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं —

(मालिनी)

अनवरतमनंतबध्यते सापराधः,
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो;
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

(हरिगीत)

जो सापराधी निरन्तर वे कर्मबंधन कर रहे ।
जो निरपराधी वे कभी भी कर्मबंधन ना करें ॥
अशुद्ध जाने आतमा को सापराधी जन सदा ।
शुद्धात्मसेवी निरपराधी शान्ति सेवें सर्वदा ॥१८७॥

अपराधी आत्मा अनन्त पौद्गलिक कर्मों से बन्धन को प्राप्त होता है और निरपराधी आत्मा बन्धन को कभी स्पर्श भी नहीं करता। अज्ञानी आत्मा तो नियम से स्वयं को अशुद्ध जानता हुआ, अशुद्ध मानता हुआ और अशुद्ध भावरूप परिणमित होता हुआ सदा अपराधी ही है; किन्तु निरपराधी आत्मा तो सदा शुद्धात्मा का सेवन करनेवाला ही होता है।

नाटक समयसार में अपराधी और निरपराधी को इसप्रकार परिभाषित किया गया है —

(दोहा)

जाकै घट समता नहीं, ममता मगन सदीव ।
रमता राम न जानई, सो अपराधी जीव ॥
अपराधी मिथ्यामती, निरदै हिरदै अंध ।
पर कौं माने आतमा, करै करम कौ बंध ॥
जिनके मिथ्यामति नहीं, ग्यानकला घट मांहि ।
परचै आतमराम सौं ते अपराधी नांहि ॥

जिसके हृदय में समताभाव नहीं है, जो सदा ही ममता में मगन रहता है और अन्दर में रमण करनेवाले आत्माराम को नहीं जानता है; वह आत्मा अपराधी है।

हृदय की आँखें (अन्तरंगदृष्टि) फूट गई है जिसकी — ऐसा निर्दयी मिथ्यादृष्टि अपराधी है। पर को अपना माननेवाला वह अपराधी मिथ्यादृष्टि आत्मा कर्मों का बन्ध करता है।

जिनकी मिथ्यामति नष्ट हो गई है, जिनके हृदय में ज्ञानकला जागृत हो गई और जिनका परिचय आत्माराम से हो गया है, जो आत्मा को पहिचानते हैं; वे अपराधी नहीं हैं।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"सापराध अर्थात् शुद्ध एक नित्यानन्द — चिदानन्द प्रभु आत्मा को छोड़कर जो पुण्य-पाप के भावों को अपना मानता है और इनसे अपना लाभ मानता है — ऐसा आत्मा अनन्त-अनन्त पुद्गल परमाणुमय कर्मों से बन्धता है। जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी मानना चोरी है, अपराध है। ऐसा काम करनेवाला नियम से बन्धन में पड़ता है।

निरपराध अर्थात् जिसने रागरहित अपने ज्ञानानन्द आत्मा की दृष्टि की, उसी में ही जो रमता है; वह निरपराध है, उसे कभी भी बन्धन नहीं होता।

देखो, दया-दान-पूजा-भक्ति आदि शुभराग का सेवन भी अशुभराग की भाँति ही अशुद्ध का सेवन है। इसप्रकार स्वयं को अशुद्ध सेवता हुआ आत्मा सापराधी है।[१]

तथा जो आत्मा पुण्य-पाप से रहित, शुद्ध, एक, चैतन्य उपयोगमय, पूर्णज्ञान, पूर्णआनन्द आदि अनन्त शक्तियों से भरा है, सदा एकरूप, भूतार्थ, शुद्ध चिद्घन आत्मा को समीचीनता से जानकर उसकी सेवा करता है; वह निरपराधी है; उसे बन्ध नहीं होता।[२]"

इसप्रकार इस कलश में मात्र इतना ही कहा गया है कि पर में एकत्व-ममत्व धारण करनेवाला अपराधी आत्मा निरन्तर बन्ध को प्राप्त होता है और शुद्धात्मसेवी आत्मा अर्थात् अपने आत्मा में ही एकत्व-ममत्व धारण कर उसमें ही जमने-रमनेवाला आत्मा कर्मबन्धन को प्राप्त नहीं होता। इसलिए शुद्धात्मा का सेवन निरन्तर किया जाना चाहिए; क्योंकि निरपराधी होने का एकमात्र यही उपाय है। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४१०

२. वही, पृष्ठ ४१२

समयसार गाथा ३०६ —३०७

इन ३०६ एवं ३०७ वीं गाथाओं की उत्थानिका आत्मख्याति में विस्तार से दी गई है; जो इसप्रकार है —

"यहाँ शंकाकार शंका करता है कि आप शुद्धात्मा की उपासना से निरपराध होने की बात कह रहे हैं; पर प्रश्न यह है कि शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास करने की क्या आवश्यकता है; क्योंकि आत्मा निरपराध तो प्रतिक्रमण आदि से ही होता है।

यह तो सर्वविदित ही है कि अपराधी के अप्रतिक्रमण आदि विषकुंभ हैं; क्योंकि वे अपराध को दूर करनेवाले नहीं है और इसीलिए प्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा है; क्योंकि वे अपराध को दूर करनेवाले हैं।

व्यवहार का कथन करनेवाले आचारसूत्र में भी कहा है —

अप्पडिकमणमपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो ॥
पडिकमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुम्भो दु ॥

अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि — ये आठ प्रकार के विषकुम्भ हैं।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि — ये आठ प्रकार के अमृतकुम्भ हैं।"

इन गाथाओं की उत्थानिका में इसीप्रकार का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन ने भी व्यक्त किया है। यहाँ तक कि आचारसूत्र की जो गाथायें आत्मख्याति में उद्धृत की गई हैं, वे ही गाथाएँ तात्पर्यवृत्ति में भी उद्धृत की गई हैं।

यह प्रश्न उन व्यवहारवादियों का है, जो ऐसा मानकर सन्तुष्ट हैं कि निरपराधी बनने का उपाय तो प्रतिक्रमणादि ही हैं। उनका कहना है कि अपराध

का प्रायश्चित कर लेने पर उस अपराध के दोष से मुक्त हो जाते हैं और इसीलिए प्रतिक्रमणादि किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में अपराध के दोष से मुक्त होने के लिए शुद्धोपयोग की क्या आवश्यकता है ?

उक्त उत्थानिका का भाव खोलते हुए स्वामीजी लिखते हैं —

"यहाँ व्यवहारनय का अवलम्बन लेनेवाला प्रश्न करता है कि शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास करने का क्या काम है ? क्यों करें शुद्धात्मा की उपासना का श्रम - जब प्रतिक्रमण आदि से ही आत्मा निरपराध होता है ? सापराध का जो अप्रतिक्रमण है, वह अपराध दूर करनेवाला नहीं होने से विषकुम्भ है तथा प्रतिक्रमणादि अपराध को दूर करनेवाले होने से अमृतकुम्भ हैं।

शुभराग द्वारा अशुभभाव से पीछे हटना, पाप से छूटना अमृत है — ऐसा शास्त्र में कहा है। इसप्रकार जब शुभभाव से आत्मा निरपराध होता है तो फिर शुद्धात्मा की आराधना से क्या लाभ ? — ऐसी अज्ञानी की दलील है; पर यह उसका कुतर्क है।[१]

शिष्य के इसी अभिप्राय के समाधान में आचार्यदेव ने निश्चय की प्रधानता से अगली गाथा कही है।[२]"

शास्त्रों में व्यवहारप्रतिक्रमणादि की जो चर्चा है; उसी को आधार बनाकर शिष्य ने यह प्रश्न किया है; जिसका उत्तर निश्चयप्रतिक्रमणादि का स्वरूप बतानेवाली निम्नांकित गाथाओं में दिया गया है —

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ॥ ३०६ ॥
अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही अमयकुंभो ॥ ३०७ ॥

(हरिगीत)

प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा ।
निन्दा गरहा और शुद्धि अष्टविध विषकुम्भ हैं ॥ ३०६ ॥
अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अर अपरिहार अधारणा ।
अनिन्दा अनिवृत्त्यशुद्धि अगर्हा अमृतकुंभ हैं ॥ ३०७ ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४१२
२. वही, पृष्ठ ४१६

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि — ये आठ प्रकार के विषकुम्भ हैं; क्योंकि इनमें कर्तृत्वबुद्धि संभवित है।

अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि — ये आठ प्रकार के अमृतकुम्भ हैं; क्योंकि इनमें कर्तृत्वबुद्धि का निषेध है।

ध्यान रहे यहाँ प्रतिक्रमण आदि को विषकुंभ (जहर का घड़ा) और अप्रतिक्रमण आदि को अमृतकुंभ (अमृत का घड़ा) कहा है; जबकि उत्थानिका में उधृत गाथाओं में प्रतिक्रमणादि को अमृतकुंभ और अप्रतिक्रमणादि को विषकुंभ कहा गया है।

दोनों कथन एकदम परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। जिन्हें आचारशास्त्रों में अमृतकुंभ कहा है, उन्हें ही यहाँ विषकुंभ कहा जा रहा है और जिन्हें वहाँ विषकुंभ कहा है, उन्हें ही यहाँ अमृतकुंभ बताया जा रहा है।

वस्तुतः बात यह है कि आचारशास्त्रों में समागत उक्त कथन व्यवहार कथन है और यहाँ जो कथन किया जा रहा है, वह निश्चय कथन है।

ऐसा क्यों है ? — इस शंका का समाधान निश्चय-व्यवहार की संधि को समझे बिना संभव नहीं है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द इसप्रकार खोलते हैं —

"सबसे पहली बात तो यह है कि अज्ञानीजनों में पाये जानेवाले अप्रतिक्रमणादि तो शुद्धात्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाववाले होने से स्वयमेव ही अपराधस्वरूप हैं; इसलिए वे (अज्ञानी के अप्रतिक्रमणादि) तो विषकुंभ ही हैं; उनके सम्बन्ध में विचार करने से क्या प्रयोजन है ? तात्पर्य यह है कि यहाँ अज्ञानी के अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुंभ नहीं कहा जा रहा है; क्योंकि वे तो स्पष्टरूप से विषकुंभ ही हैं, हेय ही हैं, त्यागने योग्य ही हैं, बन्ध के ही कारण हैं।

जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं, वे सम्पूर्ण अपराधरूपी विष के दोष को क्रमशः कम करने में समर्थ होने से व्यवहार-आचार सूत्र के कथनानुसार

अमृतकुंभरूप होने पर भी प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण — इन दोनों से विलक्षण ऐसी अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमिका को न देख पानेवाले पुरुषों को वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि अपना कार्य करने में असमर्थ होने एवं विपक्ष (बन्ध) का कार्य करनेवाले होने से विषकुंभ ही हैं।

अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के कारण समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से स्वयं साक्षात् अमृतकुंभ है।

इसप्रकार वह तीसरी भूमि व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि को भी अमृतकुंभत्व साधती है। उस तीसरी भूमि से ही आत्मा निरपराध होता है। उस तीसरी भूमि के अभाव में द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही हैं; इसलिए यह सिद्ध होता है कि तीसरी भूमि से ही निरपराधत्व है। उसकी प्राप्ति के लिए ये द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं।

उक्त वस्तुस्थिति के संदर्भ में ऐसा नहीं माना जाना चाहिए कि यह शास्त्र (समयसार) द्रव्यप्रतिक्रमणादि को छुड़ाता है।

यदि ऐसा नहीं है, तो फिर क्या कहता है यह शास्त्र ?

इस शास्त्र का कहना तो यह है कि यहाँ द्रव्यप्रतिक्रमणादि को छोड़ने की बात नहीं कही जा रही है; अपितु यह कहा जा रहा है कि इन द्रव्यप्रतिक्रमणादि के अतिरिक्त भी इन प्रतिक्रमणादि और अप्रतिक्रमणादि से अगोचर अन्य अप्रतिक्रमणादि हैं; जो शुद्धात्मा की सिद्धिरूप अतिदुष्कर कुछ करवाता है। इन ग्रन्थ में ही आगे कहेंगे कि —

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पदिक्कमणं ॥ ३८३ ॥[१]

अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से जो अपने आत्मा को निवृत्त कराता है; वह आत्मा स्वयं प्रतिक्रमण है।"

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का अर्थ करते समय पर्याप्त प्रकाश डाला है। एक तो उन्होंने प्रतिक्रमण, प्रतिसरण आदि आठ प्रकारों को

१. इसी ग्रन्थ में आगे ३८३ से ३८६ तक की गाथाओं में इस सन्दर्भ में विशेष चर्चा है; जिसका अनुशीलन यथास्थान किया हो जावेगा।

परिभाषित किया है, जो कि अत्यन्त आवश्यक था; क्योंकि इन आठों के स्वरूप के सम्बन्ध में ही पर्याप्त जानकारी न हो तो उनके सम्बन्ध में की गई टिप्पणियों का भाव भी भासित नहीं होगा। दूसरे **किंच विशेषः** कहकर ज्ञानी और अज्ञानी के प्रतिक्रमणों को विस्तार से समझाया है। उनके प्रतिपादन का भाव इसप्रकार है —

"(१) किये गये दोषों का निराकरण करना **प्रतिक्रमण** है।

(२) सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा करना या प्रवृत्त होना **प्रतिसरण** है।

(३) मिथ्यात्व व रागादि दोषों का निवारण करना **प्रतिहरण** है।

(४) पंचनमस्कार आदि मंत्रों और प्रतिमा (जिनबिम्ब) आदि बाह्यद्रव्यों के अवलम्बन से चित्त को स्थिर करना **धारणा** है।

(५) बाह्य विषय-कषायादि में ईहागत (इच्छा युक्त) चित्त का निवर्त्तन (निवारण) करना **निवृत्ति** है।

(६) अपने आपकी साक्षी से दोषों को प्रगट करना **निन्दा** है।

(७) गुरु की साक्षी से दोषों को प्रकट करना **गर्हा** है।

(८) किसी भी प्रकार का दोष हो जाने पर प्रायश्चित लेकर उसका शोधन करना **शुद्धि** है।

उक्त आठ प्रकार का शुभोपयोग यद्यपि मिथ्यात्वादि विषय-कषाय परिणतिरूप अशुभोपयोग की अपेक्षा सविकल्प सरागचारित्र की अवस्था में अमृतकुम्भ है; तथापि राग-द्वेष-मोह, ख्याति-लाभ-पूजा, दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोगों की आकांक्षारूप निदानबन्ध आदि सभी परद्रव्यों के आलम्बनवाले विभाव परिणामों से शून्य (रहित), चिदानन्दैकस्वभाव से विशुद्ध आत्मा के आलम्बन से भरित (भरी हुई) अवस्थावाली, निर्विकल्पशुद्धोपयोगलक्षणवाली तथा **अपडिकमणं** इत्यादि गाथा में कथित क्रमानुसार ज्ञानीजनों के द्वारा आश्रय ली गई निश्चय-अप्रतिक्रमणादिरूप जो तृतीयभूमि है, उसकी अपेक्षा वीतरागचारित्र में स्थित जनों के लिए तो उक्त प्रतिक्रमणादि आठ प्रकार का शुभोपयोग विषकुम्भ ही है — यह अर्थ है।

कुछ विशेष है, जो इसप्रकार है — अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है — ज्ञानियों के आश्रित अप्रतिक्रमण और अज्ञानियों के आश्रित अप्रतिक्रमण।

उनमें अज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण तो विषय-कषाय की परिणतिरूप ही होता है; किन्तु ज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान (आचरण) स्वरूप त्रिगुप्तिमय (स्वानुभूतिमय) होता है।

वह ज्ञानिजनाश्रित अप्रतिक्रमण सरागचारित्र लक्षणवाले शुभोपयोग की अपेक्षा यद्यपि अप्रतिक्रमण कहा जाता है; तथापि वीतरागचारित्र की अपेक्षा वह अप्रतिक्रमण वस्तुत: निश्चयप्रतिक्रमण ही है।

यदि कोई कहे कि वह अप्रतिक्रमण निश्चयप्रतिक्रमण कैसे है ?

तो उससे कहते हैं कि समस्त शुभाशुभ आस्रवरूप दोषों के निराकरणरूप होने से वह अप्रतिक्रमण निश्चयप्रतिक्रमण ही है। इसलिए यह निश्चिय हो गया कि वह स्वानुभवरूप अप्रतिक्रमण ही निश्चयप्रतिक्रमण है।

यद्यपि यह व्यवहार प्रतिक्रमण की अपेक्षा अप्रतिक्रमण शब्द से वाच्य है; तथापि यह ज्ञानिजनों को मोक्ष का कारण बनता है।

शुद्धात्मा को उपादेय मानकर निश्चयप्रतिक्रमण के साधकभाव के रूप में विषय-कषाय से बचने के लिए यदि व्यवहारप्रतिक्रमण किया जाता है तो वह व्यवहारप्रतिक्रमण परम्परा मोक्ष का कारण कहा जाता है; अन्यथा मात्र स्वर्गादिसुख के निमित्तभूत पुण्य का ही कारण है।

और जो अज्ञानियों से सम्बन्धित अप्रतिक्रमण है, वह तो मिथ्यात्व और विषय-कषाय की परिणतिरूप होने से नरकादि दु:खों का ही कारण है।

इसप्रकार प्रतिक्रमणादि आठ विकल्पों रूप शुभोपयोग यद्यपि सविकल्प अवस्था में अमृतकुम्भ होता है; तथापि सुख-दु:खादि में समताभाव रखनेरूप — परमोपेक्षारूप संयम की अपेक्षा विषकुम्भ ही है।''

इन गाथाओं और टीका का भाव स्वामीजी इसप्रकार खोलते हैं —

''अज्ञानी जीवों को जो मिथ्यात्व और राग-द्वेष आदि अप्रतिक्रमण के भाव हैं, वे शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावस्वभावरूप हैं तथा वे स्वयमेव

अपराधस्वरूप हैं। इसलिए वे भाव विषकुम्भ ही हैं। उन भावों का विचार करने से प्रयोजन ही क्या है ? अर्थात् वे भाव तो प्रथम से ही त्यागने योग्य हैं।[१]

जिसने अन्तर में अपना आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्दस्वरूप अनुभव किया है — ऐसे धर्मी पुरुष को सुबह-शाम द्रव्यप्रतिक्रमणादिरूप शुभभाव आता है। वह अपराधरूपी विष के दोष को घटाने में समर्थ है। इसकारण कहा है कि धर्मी के प्रतिक्रमणादि शुभभाव व्यवहार से अमृतकुम्भ हैं।

देखो ! धर्मी को ये द्रव्यप्रतिक्रमणादि के शुभभाव रागादि दोषों को घटाने में तो समर्थ हैं, पर अभाव करने में नहीं। रागादि का अभाव तो एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का आश्रय लेने से होता है, पर जिन्हें अन्तर में शुद्ध एक ज्ञाता-दृष्टास्वभावी अमृतस्वभाव आत्मा का भान हुआ है, उन्हें जो निन्दा, गर्हा आदि शुभरागरूप व्यवहार प्रतिक्रमण का भाव आता है, उससे अशुभभाव घटता है — इस अपेक्षा शुभराग को व्यवहार से शास्त्रों में अमृतकुंभ कहा है। जिनको आत्मज्ञान नहीं हुआ, उनका शुभभाव तो मात्र विषकुम्भ ही है।[२]

मिथ्यादृष्टि को अशुभ व शुभभावों रूप अप्रतिक्रमण व प्रतिक्रमण के सिवाय एक तीसरा शुद्धभावरूप अप्रतिक्रमण की खबर नहीं होती। 'शुभाशुभ रहित तीसरी भूमिका क्या है ?' इसका बोध मिथ्यादृष्टि जीवों को नहीं होता।[३]

किये गये दोषों का निराकरण करना, समकित आदि गुणों की प्रेरणा करना, मिथ्यात्वादि का निवारण करना, पंचनमस्कार आदि का भाव अर्थात् प्रतिमा आदि का आलंबन, बाह्यविषयों से चित्त को हटाना, आत्मसाक्षीपने दोषों का प्रगट करना, गुरु की साक्षी से दोषों को प्रगट करना, दोष उत्पन्न होने पर प्रायश्चित लेकर विशुद्धि करना - ये आठों प्रकार के शुभभाव हैं। मिथ्यादृष्टि के ये आठों शुभभाव विषकुम्भ हैं; क्योंकि मिथ्यादृष्टि के इन भावों में दोष नष्ट करने की बिल्कुल भी सामर्थ्य नहीं है।

जो जीव तीसरी भूमिका के अप्रतिक्रमण सहित हैं, उन्हें जो शुभभाव आते हैं, वे दोष घटाने में समर्थ होते हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४२०
२. वही, पृष्ठ ४२०-४२१
३. वही, पृष्ठ ४२१

जब परमानन्दमय भगवान आत्मा की दृष्टि हो जाती है, तब उसे शुद्धात्मा की सिद्धि होने पर तीसरी भूमिका प्रगट होती है। यह तीसरी भूमिका सर्वदोषों को नष्ट करने में समर्थ होती है। अतः यह अमृतकुम्भ है। इसके साथ के व्यवहारप्रतिक्रमण को भी अमृतकुम्भ कहा गया है।

ऐसी तीसरी भूमिकावाले धर्मी पुरुष को जो द्रव्यप्रतिक्रमणादि होते हैं, उन्हें व्यवहार से, अमृतकुम्भपना प्राप्त होता है। वस्तुतः तो तीसरी भूमिकावाले का द्रव्य प्रतिक्रमण भी अमृतकुम्भ नहीं है; परन्तु साक्षात् अमृतकुम्भ का सहचारी है। इसकारण उसको अमृतकुम्भ उपचार से कहा जाता है।[१]

इस शास्त्र में शुभ को छोड़कर अशुभ में जाने की तो बात ही नहीं है। शास्त्र के कथन का अभिप्राय द्रव्यप्रतिक्रमण आदि छुड़ाना नहीं है; परन्तु उसी में जो अनादि से अटके हैं, मात्र वह अटक छुड़ाने का उद्देश्य है। प्रतिक्रमण, सामायिक, भक्ति, व्रत, तप, पूजा आदि के शुभराग में जो अटके हैं और इसी में धर्म माने बैठे हैं; उनका सही मार्गदर्शन करके निश्चयपूर्वक व्यवहार कराने का उद्देश्य है।

पुण्यभाव को छोड़कर पाप में प्रवर्तन की बात कोई भी शास्त्र कैसे कह सकता है ? शास्त्र में तो सदैव पाप की भाँति पुण्य को भी छोड़कर परमपवित्र शुद्धात्मा के अनुभव की बात ही कही जाती है; क्योंकि आत्मा का अनुभव ही निरपराधपना है।

यहाँ द्रव्यप्रतिक्रमण नहीं छुड़ाते हैं; किन्तु जो शुभराग में संतुष्ट होकर रुक जाते हैं, उन्हें वहाँ से छुड़ाकर अन्दर ध्रुवधाम में — चैतन्यधाम में ले जाते हैं।[२]''

इन गाथाओं का तात्पर्य एक पंक्ति में क्षुल्लक मनोहरलालजी वर्णी इसप्रकार व्यक्त करते हैं —

''विकल्परत रहना विषकुम्भ है और स्वभावरत रहना अमृतकुम्भ है।[३]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४२२
२. वही, पृष्ठ ४२३
३. समयसार : सप्तदशांगी टीका, पृष्ठ ५२१

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्ददेव की मूल गाथायें, आचार्य अमृतचन्ददेव की आत्मख्याति टीका, आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका तथा आध्यात्मिकसत्पुरुष कानजी स्वामी का स्पष्टीकरण पढ़ लेने के बाद समझदारों के लिए कुछ अजाना नहीं रहता; तथापि सामान्यबुद्धि के धारक आत्मार्थी वन्धुओं के लक्ष्य से उक्त मनीषियों के ही अभिप्राय को सरल-सुबोध भाषा में स्पष्ट करते हैं।

प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ होता है लोटना। आत्मस्वभाव की ओर लोटना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है। कषायपाहुड़ में प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है —

"पच्चक्खाणपडिक्कमणाणं को भेओ। उच्चदे, सगंगदिठयदोसाणं दव्व-खेत्त-काल-भावविसयाणं परिच्चाओ पच्चक्खाणं णाम। पच्चक्खाणादो अपच्चक्खाणं गंतूण पुणोपच्चक्खाणस्सागमणं पडिक्कमणं।[१]

प्रश्न : प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण में क्या भेद है ?

उत्तर : कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से लगे हुए दोषों का परित्याग करना प्रत्याख्यान है और प्रत्याख्यान से अप्रत्याख्यान को प्राप्त होकर पुनः प्रत्याख्यान को प्राप्त होना प्रतिक्रमण है।"

प्रतिक्रमण की उक्त व्याख्या से भी यही स्पष्ट होता है कि प्रथम बार पर का त्याग करके आत्मा में आ गये — यह निश्चय प्रत्याख्यान हुआ; फिर कमजोरी के कारण आत्मा से च्युत होकर पर में चले जाने पर पुनः पुरुषार्थपूर्वक शुद्धोयोग को प्राप्त होना अर्थात् आत्मा में लौट आना ही निश्चयप्रतिक्रमण है। इसप्रकार निश्चयप्रत्याख्यान भी शुद्धोपयोगरूप ही है और निश्चयप्रतिक्रमण भी शुद्धोपयोगरूप ही है।

व्यवहारप्रतिक्रमण में लगे हुए दोषों का गुरु के समक्ष या स्वयं की ही साक्षी में प्रायश्चित किया जाता है।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि गलती करके भी प्रायश्चित नहीं करना व्यवहार-अप्रतिक्रमण है और वह विषकुम्भ है तथा गलती हो जाने पर

१. कषायपाहुड पुस्तक १, प्रकरण १, पृष्ठ ११५

प्रायश्चित करके उसे सुधार लेना व्यवहारप्रतिक्रमण है और यह अमृतकुम्भ है — आचारशास्त्रों का यह कथन व्यवहारनय का कथन है, जो उचित ही है।

ऐसा कहकर भी यहाँ इस बात पर विशेष ध्यान आकर्षित किया जा रहा है कि गलती करके प्रायश्चित करना या नहीं करना — इन दोनों से परे एक स्थिति ऐसी भी है कि जो इन दोनों से परे है, पार है; वह तीसरी स्थिति है गलती करना ही नहीं, अपराध करना ही नहीं।

शुद्धोपयोग एक ऐसी स्थिति है कि जहाँ शुभाशुभभावरूप अपराध होता ही नहीं है। जब अपराध होता ही नहीं है तो फिर प्रायश्चित की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसलिए इसे अप्रतिक्रमण कहते हैं; पर यह अप्रतिक्रमण वह स्थिति नहीं है कि जिसमें अपराध होने पर भी प्रायश्चित नहीं लिया जाता है; क्योंकि वह तो पापरूप ही है और यह अप्रतिक्रमण तो पुण्य-पाप से पार परमधर्मरूप है। इसलिए यह अप्रतिक्रमण ही वस्तुतः निश्चयप्रतिक्रमण है और मुक्ति का वास्तविक कारण होने से धर्ममय ही है।

इस भोले जगत को इस तीसरे निश्चयप्रतिक्रमण की खबर ही नहीं है।

अरे भाई ! यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि गलती करना, प्रायश्चित करना; फिर गलती करना और फिर प्रायश्चित करना — ऐसे गजस्नान से क्या लाभ है? गलती करके भी प्रायश्चित नहीं करना तो महापाप है। ऐसा अप्रतिक्रमण तो सर्वथा हेय ही है; किन्तु बार-बार गलती करना और बार-बार प्रायश्चित करने से भी कोई लाभ नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि ऐसी गल करना ही नहीं कि प्रायश्चित करना पड़े — यही सबसे बढ़िया बात है, जिस यहाँ अप्रतिक्रमण या निश्चयप्रतिक्रमण कहा जा रहा है। शुद्धोपयोगरूपदशा ही ऐसी दशा है कि जिसमें पुण्य-पापरूपभाव का अभाव होने से कोई गलती होती ही नहीं है — यही परम उपादेय है।

इस परम उपादेय निश्चयप्रतिक्रमण या अप्रतिक्रमण को जाननेवाले ज्ञानी धर्मात्मा भी कदाचित् च्युत हो जावें, शुभाशुभभाव में आ जावें तो प्रयास करके आत्मा में लौट आना ही प्रतिक्रमण है — ऐसे निश्चयप्रतिक्रमणवालों का प्रायश्चित करने रूप बाह्यप्रतिक्रमण ही व्यवहारप्रतिक्रमण है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि ज्ञानियों के ही शुद्धोपयोगरूप निश्चयप्रतिक्रमण और शुभोपयोगरूप व्यवहारप्रतिक्रमण होता है।

अज्ञानियों के न तो सच्चा व्यवहारप्रतिक्रमण ही होता है और शुद्धोपयोगरूप निश्चयप्रतिक्रमण ही।

जिस अप्रतिक्रमण को यहाँ अमृतकुंभ कहा है, वह शुद्धोपयोगरूप निश्चयप्रतिक्रमण ही है और जिस प्रतिक्रमण को विषकुंभ कहा है, वह शुभभावरूप है। शुभभावरूप प्रतिक्रमण को विषकुंभ कहने का कारण यह है कि वह आत्मा की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है, पुण्यबन्ध का कारण है, बन्ध के अभाव का कारण नहीं है।

एक बात और भी ध्यान रखने योग्य है कि प्रतिक्रमण करनेरूप जिस शुभभाव को आचारशास्त्रों में अमृतकुंभ कहा है, वह प्रतिक्रमणरूप शुभभाव उन ज्ञानियों का ही है, जो शुद्धोपयोगरूप निश्चयप्रतिक्रमण को प्राप्त हो गये हैं।

अब इसी भाव का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है —

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मुलितमालंबनम् ।
आत्मन्येवालानितं च चित्तमा-
संपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥ १८८ ॥

(हरिगीत)

अरे मुक्तिमार्ग में चापल्य अर परमाद को ।
है नहीं कोई जगह कोई और आलंबन नहीं ॥
बस इसलिए ही जबतलक आनन्दघन निज आतमा ।
की प्राप्ति न हो तबतलक तुम नित्य ध्यावो आतमा ॥ १८८ ॥

इस कथन से सुखासीन (सुख से बैठे हुए) प्रमादी जीवों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती — यह कहा गया है और चपलता का भी निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि निश्चल प्रमादियों और चंचल क्रियाकाण्डियों — दोनों को ही मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती — यह स्पष्ट कर दिया है। सभी आलंबनों को उन्मूलित कर दिया है, उखाड़ फैंका है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यप्रतिक्रमणादि को निश्चय से बन्ध का कारण बताकर उनका निषेध कर दिया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जबतक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो, तबतक हमने चित्त को आत्मारूपी स्तंभ से ही बाँध रखा है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि व्यवहार के विकल्पों में न उलझो; जबतक आत्मा की प्राप्ति न हो जावे, तबतक अपने चित्त को क्रियाकाण्ड में न उलझाओ, प्रमादी भी न बनो; सम्पूर्ण सामर्थ्य से आत्मा के ही सम्मुख रहो।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"यहाँ निश्चयनय से प्रतिक्रमणादि को विषकुंभ कहा और अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा; इसलिये यदि कोई विपरीत समझकर प्रतिक्रमणादि को छोड़कर प्रमादी हो जाये तो उसे समझाने के लिये यह कलश कहा है।

आत्मज्ञान शून्य दान-पुण्य, भक्ति-पूजा, पंचपरमेष्ठी का स्मरण आदि शुभराग की क्रियायें चापल्य है, चपलता है — ऐसा आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं। अहा! अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव किए बिना जो मात्र पुण्य की क्रियायें करने में पड़ा है, वह सब चापल्य है। उनकी वे क्रियायें मोक्षमार्ग नहीं मानी गई हैं। वे सब क्रियायें बन्धमार्ग की क्रियायें ही हैं।

स्वद्रव्य के आलम्बन के सिवाय जो भी परद्रव्य का आलम्बन है, ज्ञानी ने उस सब को उखाड़ फैंका है। सम्यग्दृष्टि के जो द्रव्यप्रतिक्रमण आदि हैं, उन सब को निश्चय से बन्ध का कारण जानकर हेय माना है। परद्रव्य, चाहे वह परमेष्ठी हो या शास्त्र, उनका आलम्बन लेने को यहाँ प्रमाद कहा है और प्रमाद हेय है। एक वीतरागभाव के सिवाय पाप की निन्दा, चित्त को पाप से हटाना आदि सभी राग की क्रियायें प्रमाद हैं और उनमें परद्रव्य का आलम्बन है।[१]

वस्तुतः बात यह है कि वीतराग परमात्मा के आलम्बन से भी राग ही होता है। पंचास्तिकाय में आता है कि अरहंत के प्रति हुआ राग भी मोक्ष का कारण नहीं है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४२७

पंचास्तिकाय गाथा १६८ में कहा है कि थोड़ा-सा राग भी दोष परम्परा का कारण है। अरहंतादि की भक्ति रागपरिणाम के बिना नहीं होती और राग परिणाम होने पर आत्मा बुद्धिप्रसार किए बिना रह नहीं सकता। बुद्धिप्रसार अर्थात् चित्त की चंचलता, मन का शुभाशुभभावों में जाना। परद्रव्य का आलम्बन होते ही विचार तरंगें उठने ही लगती हैं। इसप्रकार परद्रव्य का आलम्बन जिसका मूल है — ऐसा अल्पराग भी दोष की संतति का मूल है। भाई! वीतरागता का मार्ग तो वीतरागता से ही प्रगट होता है।

चैतन्यस्वरूपी आत्मा एक वीतरागस्वभाव से भरा तत्त्व है। इसके आलम्बन बिना जितना परद्रव्य का आलम्बन होगा, उतना राग ही उत्पन्न होगा और यह परम्परा भी दोष की परम्परा का मूल है। ज्ञानी को ये भाव आते अवश्य हैं; परन्तु इन्हें वह बन्ध का ही कारण जानता है।[१]

कलश टीका में कहा है कि बुद्धिपूर्वक ज्ञान करते हुए जितना पढ़ना, विचारना, चिन्तवन करना, स्मरण करना आदि है; वह मोक्ष का कारण नहीं है — ऐसा जानकर शुभभाव को हेय कहा है।[२]

जबतक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती; तबतक मैंने अपने चित्त को त्रिकाली ध्रुव के साथ ही जोड़ दिया है। अपने ज्ञानोपयोग को महाव्रतादि में जोड़ने की बात न कहकर आचार्य त्रिकाली ध्रुव से ही आत्मा को जोड़ने को कह रहे हैं; क्योंकि वही एकमात्र मोक्ष का कारण है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि आत्मार्थी को न तो समस्त क्रियाकाण्ड छोड़कर प्रमादी ही हो जाना चाहिए और न क्रियाकाण्ड में ही उलझकर रह जाना चाहिए। यदि अपराध हुआ है तो प्रतिक्रमणादि क्रिया व तत्सम्बन्धी शुभभाव को अमृतकुम्भ जानकर उस अपराध का परिमार्जन करना चाहिए; किन्तु शुभक्रियाओं और शुभविल्पों में ही उलझे रहकर इस बहुमूल्य मानव जीवन को यों ही नहीं गमा देना चाहिए।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४२८
२. वही, पृष्ठ ४२९
३. वही, पृष्ठ ४३०

भूमिकानुसार यथायोग्य प्रतिक्रमणादि तो होंगे ही, तो भी उनमें उपादेय बुद्धि नहीं होना चाहिए; क्योंकि उपादेय तो एकमात्र वह शुद्धोपयोगरूप अप्रतिक्रमण ही है, जिसे निश्चयप्रतिक्रमण भी कहते हैं।

विगत गाथाओं में प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ और अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा है। उक्त कथन का मर्म न समझ पाने के कारण कोई व्यक्ति प्रतिक्रमणादि को छोड़कर प्रमादी न हो जावे — इस भावना से आगामी कलश में सावधान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं —

(वसंततिलका)

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतःस्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १८९ ॥

(रोला)

प्रतिक्रमण भी अरे जहाँ विष-जहर कहा हो,
अमृत कैसे कहें वहाँ अप्रतिक्रमण को ॥
अरे प्रमादी लोग अधो-अधः क्यों जाते हैं ?
इस प्रमाद को त्याग उर्ध्व में क्यों नहीं जाते ? ॥ १८९ ॥

जहाँ प्रतिक्रमण को भी विष कहा हो; वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो सकता है, कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि प्रमाददशारूप अप्रतिक्रमण अमृत नहीं है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी स्थिति होने पर भी लोग नीचे-नीचे ही गिरते हुए प्रमादी क्यों होते हैं; निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर ही क्यों नहीं चढ़ते ?

उक्त कलश के भाव को पण्डित जयचन्दजी छावड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"अज्ञानावस्था में जो अप्रतिक्रमणादि होते हैं, उनकी तो बात ही क्या ? किन्तु यहाँ तो, शुभवृत्तिरूप द्रव्यप्रतिक्रमणादि का पक्ष छुड़ाने के लिए उन्हें

(द्रव्यप्रतिक्रमणादि को) निश्चयनय की प्रधानता से विषकुम्भ कहा है; क्योंकि वे कर्मबन्ध के ही कारण हैं और प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रमणादि से रहित होने से अप्रतिक्रमणादिरूप है, उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात् वहाँ के अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा है। तृतीय भूमि पर चढ़ाने के लिये आचार्यदेव ने यह उपदेश दिया है।

प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहने की बात सुनकर जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं, उनके सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि 'यह लोग नीचे ही नीचे क्यों गिरते हैं?' जहाँ प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा है, वहाँ उसके निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है, अज्ञानी का नहीं।

इसलिये जो अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे हैं, वे अज्ञानी के अप्रतिक्रमणादि नहीं जानना चाहिए; किन्तु तीसरी भूमि के शुद्ध आत्मामय जानना चाहिए।''

इस कलश का अर्थ करते हुए पाण्डे राजमलजी पठन-पाठन, स्मरण, चिन्तवन, स्तुति, वन्दना इत्यादि क्रियारूप विकल्पों को प्रतिक्रमण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि राजमलजी साहब उक्त भावों को प्रतिक्रमणादि में शामिल करते हैं। उनका आशय यह है कि उक्त विकल्पों के काल में तथा उक्त विकल्पों के कारण आत्मानुभव नहीं होता; इसकारण उन्हें यहाँ विषकुम्भ कहा है।

इन शुभभावरूप विकल्पों को तोड़कर आत्मानुभव में जाना असली अप्रतिक्रमण है अथवा निश्चयप्रतिक्रमण है और वह अमृतकुम्भ है, उपादेय है। शुद्धोपयोगरूप अप्रतिक्रमण को जाने बिना उक्त शुभोपयोगरूप प्रतिक्रमण को छोड़कर अशुभभावरूप अप्रतिक्रमण में चले जाना तो महाविषकुम्भ है, अत्यन्त हेय है। इस कलश में यही कहा गया है।

कलशटीका के भाव को आत्मसात् करते हुए पण्डित बनारसीदासजी नाटक समयसार में लिखते हैं —

(दोहा)

नंदन बंदन थुतिकरन, श्रवन चिंतवन जाप ।
पढ़न पढ़ावन उपदिसन, बहुविधि क्रिया-कलाप ॥
सुद्धातम अनुभव जहाँ, सुभाचार तहाँ नांहि ।
करम करम मारग विषैं, सिवमारग सिवमांहि ॥

(चौपाई)

इहिबिधि वस्तुव्यवस्था जैसी। कही जिनंद कही मैं तैसी ।
जे प्रमाद संजुत मुनिराजा। तिनके सुभाचार सौं काजा ॥
जहाँ प्रमाद दसा नहि व्यापै। तहाँ अवलंब आपनौ आपै ।
ता कारन प्रमाद उतपाती। प्रगट मोख मारग कौ घाती ॥
जे प्रमाद संजुगत गुसांई। उठहिं गिरहिं गिंदुक की नांई ।
जे प्रमाद तजि उद्धत हौं हीं। तिन कौं मोख निकट द्रिग सौं हीं ॥
घट मैं है प्रमाद जब ताईं। पराधीन प्रानी तब ताईं ।
जब प्रमाद की प्रभुता नासै। तब प्रधान अनुभौ परगासै ॥

(दोहा)

ता कारण जगपंथ इत, उत सिवमारग जोर ।
परमादी जग कौं धुकै, अपरमादि शिव ओर ॥

जिनवाणी का मर्म जानकर, गुरु के वचन सुनकर; आनन्दित होना, नमस्कार करना, स्तुति करना, सुनना, चिन्तवन करना, जाप जपना, पढ़ना-पढ़ाना, उपदेश देना आदि सभी क्रियाकलाप और तत्सम्बन्धी शुभभाव प्रतिक्रमणादि ही हैं।

जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव है, वहाँ उक्त प्रतिक्रमणादिरूप शुभाचार नहीं है; क्योंकि कर्म कर्म के मार्ग में है और मुक्ति का मार्ग मुक्ति में है। तात्पर्य यह है कि शुभक्रियारूप कर्म बन्ध का कारण है और आत्मानुभव मुक्ति का कारण है।

इसप्रकार वस्तुव्यवस्था का स्वरूप जिनेन्द्र भगवान ने जैसे कहा है; उसी के अनुसार मैंने यहाँ कहा है, अपनी ओर से कुछ नहीं कहा।

वस्तुत: बात तो ऐसी है कि जो मुनिराज प्रमाद से संयुक्त हैं, उन्हें तो शुभाचरण से ही प्रयोजन है। जहाँ प्रमाद की दशा व्याप्त नहीं होती, वहाँ एकमात्र अपने आत्मा का ही अवलम्बन रहता है। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट ही है कि प्रमाद की उत्पत्ति मुक्तिमार्ग का घात करनेवाली ही है।

जो साधुजन प्रमत्तदशा में है, छटवें गुणस्थान में हैं; वे गेंद की भाँति उठते और गिरते हैं और जो प्रमाद को छोड़कर पुरुषार्थपूर्वक आगे बढ़ते हैं, उनको मुक्ति अत्यन्त निकट ही समझो। तात्पर्य यह है कि अप्रमतादि गुणस्थानों में विचरण करनेवाले मुनिराज शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

अधिक क्या कहें, जबतक घट में प्रमाद है, तबतक यह प्राणी पराधीन है और जब प्रमाद का प्रभाव नष्ट हो जाता है, तब सब धर्मो में प्रधान आत्मानुभव का प्रकाश होता है।

इसीकारण प्रमाद संसार का पंथ है और अप्रमाद शिवपंथ है। प्रमादी संसार की ओर जाते हैं और अप्रमादी मुक्ति की ओर।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"अब आचार्य कहते हैं कि जब हमने शुभ को अर्थात् मंदकषाय को जहर कहा तो अशुभ अर्थात् तीव्र कषाय तो स्वत: ही महाजहर सिद्ध हो गई। जब वस्तुस्थिति ऐसी है तो फिर जगत जन नीचे-नीचे पड़कर प्रमादी क्यों होते हैं? निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर चढ़ने का पुरुषार्थ क्यों नहीं करते ? शुभभाव को छोड़कर जहाँ सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा अन्दर में है, उससे भेंट कर, और उसी में जम जा।[१]

शुभ को छोड़कर प्रमादी होकर यदि तू अशुभ में जाता है तो यह तो तेरी स्वच्छन्दता है। इसलिए शुभ को छोड़कर निष्प्रमादी होकर स्वरूप के आश्रय में जा और उसी में लीन हो जा ! शुभभाव को हेय बताने का एकमात्र यही प्रयोजन है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४३१-४३२
२. वही, पृष्ठ ४३२

अहा ! ज्ञानी को शुभ न आवे — ऐसा भी नहीं होता और शुभ को धर्म माने — ऐसा भी नहीं होता, इसकारण उसको तीसरी भूमि में पहुँचने का उद्यम कराया जाता है।

शास्त्र में जहाँ शुभ का अधिकार हो, वहाँ जिनमन्दिर बनवाओ, प्रतिमा विराजमान कराओ, स्वाध्याय करो, तप करो, व्रत करो, दान दो इत्यादि सब तरह का कथन आता है; परन्तु यह कथन तो धर्मी की भूमिका का ज्ञान कराने को किया गया है। इससे शुभभाव धर्म नहीं हो जाता।

देखो, ये अप्रतिक्रमणादि के दो प्रकार कहे गये हैं —

१. मिथ्यात्व सहित अज्ञानी को जो शुभाशुभ भाव होते हैं, वे भाव अप्रतिक्रमणादिरूप हैं।

२. शुभभावों को भी छोड़कर शुद्ध में जाना — ये भाव ज्ञानी के अप्रतिक्रमणरूप हैं। ये भाव आत्मस्वरूप हैं, अबन्ध हैं, अमृतकुम्भ हैं।

तथा ज्ञानी को निश्चयसहित जो शुभभाव आते हैं, उसे व्यवहार प्रतिक्रमणादि कहते हैं। निश्चय से उसे यहाँ विषकुम्भ कहा है; क्योंकि वे बन्ध के ही कारण हैं।

अज्ञानी के निश्चय व व्यवहार — दोनों में एक भी प्रतिक्रमण नहीं है। तीसरी भूमि जो शुद्ध आत्मस्वरूप है, वह प्रतिक्रमण से रहित होने से अप्रतिक्रमणस्वरूप है। वह अमृतकुम्भ है।[१]

प्रतिक्रमणादि को जो शास्त्र में विषकुम्भ कहा —यह सुनकर यदि कोई स्वछन्द होकर पापरूप परिणमन करे तो वह अविवेकी है। अरे भाई! आचार्य तो शुभ का भी त्याग कराकर शुद्ध में जाने को कह रहे हैं। अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मा में जाने को, शुद्ध आत्मा का आश्रय लेने को कह रहे हैं।[२]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि अशुभभावरूप जो अप्रतिक्रमण है, पाप प्रवृत्ति करके भी पश्चाताप नहीं करने रूप जो वृत्ति है; वह तो महा जहर है और सर्वथा त्याज्य है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४३१-४३३-४३४

२. वही, पृष्ठ ४३४

प्रमादवश होनेवाले अपराधों के प्रति पश्चाताप के भाव होने रूप जो प्रतिक्रमणादि हैं; वे पाप की अपेक्षा व्यवहार से अमृतकुम्भ हैं, कथंचित् करने योग्य हैं।

शुभाशुभभाव से रहित शुद्धोपयोगरूप जो निश्चयप्रतिक्रमण या अप्रतिक्रमणादि हैं, वे साक्षात् अमृतकुम्भ हैं, सर्वथा ग्रहण करने योग्य हैं; मुक्ति के साक्षात् कारण हैं।

अब इसी भाव का पोषण आगामी कलश में भी करते हैं; जो इसप्रकार है —

(पृथ्वी)

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥ १९० ॥

(रोला)

कषायभाव से आलस करना ही प्रमाद है,
यह प्रमाद का भाव शुद्ध कैसे हो सकता ?
निजरस से परिपूर्ण भाव में अचल रहें जो,
अल्पकाल में वे मुनिवर ही बंधमुक्त हों ॥ १९० ॥

कषायों के भार से भारी होने से आलस का होना प्रमाद है। यह प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभावरूप अप्रतिक्रमण अथवा निश्चयप्रतिक्रमण कैसे हो सकता है ? इसलिए निजरस से परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल होनेवाले मुनिजन परमशुद्धता को प्राप्त होते हैं अथवा अल्पकाल में ही मुक्त हो जाते हैं।

इस कलश का अर्थ करते हुए पाण्डे राजमलजी कलशटीका में **अलसः** का अर्थ अनुभव में शिथिल और **प्रमादकलितः** का अर्थ नानाप्रकार के विकल्पों से संयुक्त करते हैं तथा **मुनि** का अर्थ सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं।

इस कलश का भाव कलशटीका के आधार पर बनारसीदासजी तीन दोहों में इसप्रकार व्यक्त करते हैं —

(दोहा)

जे परमादी आलसी, जिन्हकैं विकलप भूरि ।
होई सिथल अनुभौ विषै, तिन्हकौं सिवपथ दूरि ॥
जे परमादी आलसी, ते अभिमानी जीव ।
जे अविकलपी अनुभवी, ते समरसी सदीव ॥
जे अविकलपी अनुभवी, सुद्ध चेतना युक्त ।
ते मुनिवर लघुकाल मैं, होंहि करम सौं मुक्त ॥

जो जीव प्रमादी हैं, आलसी हैं; जिनके अनन्त विकल्प हैं और जो आत्मानुभव में शिथिल हैं; उनके लिए मुक्ति का मार्ग दूर ही है।

जो प्रमादी हैं, आलसी हैं; वे जीव अभिमानी है और जो निर्विकल्प अनुभवी हैं; वे जीव समरसी हैं, समतारस का पान करनेवाले हैं।

जो मुनिवर निर्विकल्प हैं, अनुभवी हैं, शुद्धज्ञानचेतना से युक्त हैं; वे मुनिवर अल्पकाल में ही कर्मों से मुक्त हो जाएँगे।

नाटक समयसार में इन छन्दों के बाद तीन छन्द और भी हैं, जिनमें ज्ञानी और अज्ञानी जीवों की परिणति का विवेचन है; पर इसप्रकार के भाववाले कोई कलश आत्मख्याति में नहीं हैं। इसलिए उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है। विशेष जिज्ञासा रखनेवाले महानुभाव नाटक समयसार से उनका अध्ययन करें।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"जैसे घास से भरी गाड़ी में भार होता है, उसीतरह आत्मा में शुभाशुभ कषायों का भार है। कषाय का भार स्वयं अपने आप में आलस है, प्रमाद है; क्योंकि कषाय के कारणस्वरूप में सावधानी नहीं रहती, स्थिरता नहीं हो पाती — यही सब तो प्रमाद है।

भाई ! धंधा-व्यापार में उत्साहित रहना तो प्रमाद है ही, मन्दिर बनवाने में, प्रतिमा पधराने में, समाज की, राज की सेवा में तत्पर रहने में भी प्रमाद है और ये सब लोग कषाय के भार से दबे हैं, अतः प्रमादी हैं। यह सब राग है न ? अतः प्रमाद है। प्रमाद के १५ भेदों में ये सब आते हैं। चार कषायें,

पाँच इन्द्रियों के विषय एवं चार विकथा तथा निद्रा व प्रणय — ये पन्द्रह भेद प्रमाद के हैं। ऐसे प्रमाद से सहितभाव शुद्धभाव कैसे हो सकते हैं ?[१]

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यरस से भरा है। जो उसके आश्रय में न जाकर अशुभ की प्रवृत्ति में हर्षित होकर काल व्यतीत करता है, वह पापी है। प्रमाद से भरपूर है। उसे शुभभाव कैसे हो ? पर यहाँ तो विशेष बात यह है कि शुभभावों में भी जो उत्साहित हैं, वे भी प्रमादी हैं। पाँच महाव्रत के राग को व अट्ठाईस मूलगुणों के राग को प्रमाद कहा है। छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि प्रमत्त हैं।[२]

जो शुभ को भी छोड़कर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में लीन होकर शुद्धता को प्राप्त करता है, वह अप्रमादी है। इसके सिवाय स्वभाव में से परिणाम का नीचे गिर जाना प्रमाद है।[३]''

इसप्रकार इस कलश में विगत कलश की बात को पुष्ट करते हुए मात्र यही कहा गया है कि शुभाशुभ कषायभाव के भार से बोझिल आलसीपने का भाव ही प्रमाद है और इस प्रमाद की अवस्था में शुद्धोपयोगरूप अप्रतिक्रमण (निश्चयप्रतिक्रमण) नहीं हो सकता तथा शुद्धोपयोगरूप अप्रतिक्रमण के धारी मुनिराज ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

यह तो आपको ज्ञात ही है कि मोक्षाधिकार समाप्त हो गया है। मोक्षाधिकार के अन्त में निश्चय-व्यवहार प्रतिक्रमणादि और अप्रतिक्रमणादि सम्बन्धी जो गाथायें आई थीं, उन गाथाओं की विषयवस्तु के आधार पर १८८ से १९० तक के तीन कलश कहे, जिनमें उक्त प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण की ही चर्चा है।

अब मोक्षाधिकार की समाप्ति पर दो कलश कहते हैं; जिसमें पहिले कलश में मोक्ष होने का अनुक्रम बताते हुए दूसरे कलश में धीर-वीर ज्ञानज्योति का स्मरण करते हुए अन्तमंगल करते हैं।

मोक्ष होने का अनुक्रम बतानेवाला प्रथम कलश इसप्रकार है —

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४३५
२. वही, पृष्ठ ४३५-४३६
३. वही, पृष्ठ ४३६

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १९१ ॥

(रोला)

अरे अशुद्धता करने वाले परद्रव्यों को,
अरे दूर से त्याग स्वयं में लीन रहे जो ।
अपराधों से दूर बंध का नाश करें वे,
शुद्धभाव को प्राप्त मुक्त हो जाते हैं वे ॥ १९१ ॥

वस्तुतः जो पुरुष अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्यों को छोड़कर स्वयं में रति करता है, स्वयं में लीन होता है; वह पुरुष नियम से सर्व अपराधों से रहित होता हुआ बन्ध के नाश को प्राप्त होकर नित्य उदित अपनी ज्योति से निर्मल तथा उछलता हुआ चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह द्वारा पूर्णता को प्राप्त महिमावाला शुद्ध होता हुआ कर्मों से मुक्त होता है।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं —

"जो पुरुष, पहले समस्त परद्रव्य का त्याग करके निजद्रव्य में (आत्मस्वरूप में) लीन होता है; वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधों से रहित होकर आगामी बन्ध का नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मों का नाश करके, मोक्ष को प्राप्त करता है। यह, मोक्ष होने का अनुक्रम है।"

सम्यग्दृष्टि जीव मुक्ति को किसप्रकार प्राप्त करते हैं — यह बतानेवाले इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी इसप्रकार करते हैं —

(चौपाई)

जे समकिती जीव समचेती, तिनकी कथा कहौं तुमसेती ।
जहां प्रमाद क्रिया नहि कोई, निरविकल्प अनुभौ पद सोई ॥
परिग्रह त्याग जोग थिर तीनौं, करम बंध नहि होय नवीनौं ।
जहां न राग दोष रस मोहै, प्रगट मोख मारग मुख सोहै ॥

पूरब बंध उदय नहि व्यापै, जहां न भेद पुन्न अरु पापै ।
दरब भाव गुन निरमल धारा, बोध विधान विविध विस्तारा ॥
जिन्ह की सहज अवस्था ऐसी, तिन्ह कै हिरदै दुविधा कैसी ।
जे मुनि छपक श्रेणी चढ़ि धाये, ते केवलि भगवान कहाये ॥

(दोहा)

इहि विधि जे पूरन भये, अष्टकरम बन दाहि ।
तिन्ह की महिमा जो लखै, नमै बनारसि ताहि ॥

हे भव्यजीवों ! समभाव धारण करनेवाले जो सम्यग्दृष्टि जीव हैं; मैं उनकी कथा तुम से कहता हूँ। तात्पर्य यह है कि उनके द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का क्रम कैसा होता है — यह बात मैं तुम्हें बताता हूँ।

जहाँ शुभाशुभभावरूप प्रमाद क्रिया नहीं होती है, वह निर्विकल्प अनुभववाला पद, निश्चयप्रतिक्रमण या अप्रतिक्रमणवाली दशा ही अनुभवी सम्यग्दृष्टियों का वास्तविक पद है।

जिन्होंने भूमिकानुसार अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग करके मन-वचन-काय — इन तीनों योगों को स्थिर किया है; उन्हें नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। जिन्हें भूमिकानुसार मोह-राग-द्वेष नहीं होते; वे स्पष्टरूप से अन्तर्मुखी मोक्षमार्ग में शोभायमान हो रहे हैं।

जिन्हें पहले बंधे कर्मों का उदय व्यापता नहीं है, प्रभावित नहीं करता और जिनकी दृष्टि में पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं रहा — दोनों एक समान ही हेय भासित होते हैं; जो द्रव्य व भाव — दोनों ही रूपों में, बहिरंग और अन्तरंग — दोनों ही रूपों में निर्मल हो गये हैं, निर्विकार हो गये हैं और जिनके ज्ञान की धारा अविरल हो गई है, जिनके ज्ञान का विस्तार विविध रूपों में हो गया है, जिनकी अवस्था सहज ही ऐसी हो गई है; उनके हृदय में किसी भी प्रकार की दुविधा कैसे रह सकती है ?

अरे भाई ! जो सम्यग्दृष्टि मुनिराज क्षपकश्रेणी चढ़कर वेग से आगे बढ़ रहे हैं, वे अल्पकाल में केवलज्ञानी हो जावेंगे और केवली भगवान कहे जावेंगे।

इसप्रकार जो अष्ट कर्मों को जलाकर पूर्णता को प्राप्त हो गये हैं; जो व्यक्ति उनकी महिमा को जानता है, वह महान है और मैं बनारसीदास उन्हें नमस्कार करता हूँ।

इसप्रकार इन छन्दों में बनारसीदासजी ने चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्ध होने तक पूरा वर्णन कर दिया है।

इसी सन्दर्भ में बनारसीदासजी ने एक छन्द में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि किस कर्म के नाश से कौन सा गुण प्रगट होता है। वह इसप्रकार है —

(सवैया इकतीसा)

ग्यानावरनी कै गयैं जानियै जु है सु सब,
दर्सनावरन कैं गयै तैं सब देखिये ।
वेदनी करम के गयै तैं निराबाध सुख,
मोहनी के गयैं सुद्ध चारित विसेखियै ॥
आउकर्म गयै अवगाहना अटल होइ,
नामकर्म गयै तैं अमूरतीक पेखियै ।
अगुरु अलघुरूप होत गोत्रकर्म गयै,
अंतराय गयै तैं अनंत बल लेखियै ॥

ज्ञानावरणी कर्म के जाने से सर्वपदार्थों को जाननेवाला क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान) प्रगट होता है और दर्शनावरणी कर्म के जाने से सबको देखनेवाला क्षायिकदर्शन (केवलदर्शन) प्रगट होता है। वेदनीय कर्म के जाने से निराबाध सुख प्रगट होता है और मोहनीय कर्म के जाने से शुद्धचारित्र प्रगट होता है। इसीप्रकार आयुकर्म के जाने से अटल अवगाहन, नामकर्म के जाने से अमूर्तिकपना, गोत्रकर्म के जाने से अगुरुलघुत्वपना और अन्तराय कर्म के जाने से अनन्तवीर्य (अनन्तबल) प्रगट होता है।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"पुण्य-पाप के परिणाम अशुद्धता हैं, विषकुम्भ हैं, अपराध हैं। जिसे वीतरागधर्म प्रगट करना हो, उसे ये सब विकल्प छोड़ने होंगे और शुद्धता प्राप्त करनी पड़ेगी। जब परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर स्वद्रव्य में लीन होता है, तब

शुद्धता प्रगट होती है। उसमें वस्तुत: किसी राग की, पुण्य की या विकल्प की अपेक्षा नहीं है। आत्मा स्वयं शुद्ध ज्ञानानन्द मूर्ति है। वह जब अपने द्रव्य में स्वयं लीन हो तभी शुद्धता प्रगट हो जाती है।

ज्ञानानन्दस्वरूप स्वद्रव्य के सिवाय जितने भी परद्रव्य हैं, चाहे वे तीर्थंकर हों, उनकी वाणी हो, समवशरण हो, जिनमन्दिर हो या जिनप्रतिमा हो; सभी परद्रव्य शुभरागरूप अशुद्धता के निमित्त कारण हैं।[१]

चाहे स्त्री-पुत्र परिवार हो या देव-शास्त्र-गुरु हों, ये सब परद्रव्य अशुद्धता के निमित्त कारण हैं। इन परद्रव्य की ओर का झुकाव छोड़कर जब जीव स्वद्रव्य में स्वयं लीन होता है तब मुक्ति प्राप्त होती है।[२]

जितना स्वद्रव्य को छोड़कर परद्रव्य का आलम्बन लेंगे, उतना ही राग होगा और वह राग अपराध है। वीतरागदेव यह नहीं कहते हैं कि तू हमारी भक्ति कर! इससे तेरा कल्याण हो जायेगा। बल्कि भगवान तो यह घोषणा करते हैं कि हमारी भक्ति, स्तुति, वंदना आदि करने का जो तुझे राग आता है, वह सब अपराध है, अशुद्धता है। यह कोई महिमावाली वस्तु नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि भाई! तू अपने स्वरूप में अन्दर जा। वहाँ तेरे अन्दर चैतन्यरूपी अमृत का त्रिकाल प्रवाह बह रहा है। ये पुण्य-पाप के भाव तो जहर का प्रवाह है।

हे भाई! तू चिदानन्दघन चैतन्यरूपी अमृत का पूर है। उसको स्व-संवेदन में अनुभव करके, जानकर उसी में मग्न हो जा, स्थिर हो जा; क्योंकि शुद्धचैतन्य के ध्रुवप्रवाह में मग्न होने से आत्मा शुद्ध होकर कर्मों से छूट जाता है और शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।[३]

सर्वप्रथम मिथ्यात्व से, तत्पश्चात् अव्रत से फिर अस्थिरता से मुक्त होता है। यह मुक्त होने का क्रम है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४३८
२. वही, पृष्ठ ४३९
३. वही, पृष्ठ ४३९-४४०

भाई ! तेरा जैसा स्व-स्वरूप है, वैसा ज्ञान व श्रद्धान कर। उसका ज्ञान-श्रद्धान होने पर उसमें स्थिरता होगी तथा अन्त:स्थिरता पूर्ण होने पर मोक्ष होगा। अन्त:स्थिरता ही चारित्र है। स्वरूप स्थिरता होने पर अशुद्धता का नाश होने पर ही शुद्धोपयोग की जमावट होती है। वही वस्तुत: मुनिदशा है; जिसका अन्तिम फल मोक्ष है।[१]''

इसप्रकार इस कलश में मुक्ति के मार्ग पर संक्षेप में सम्पूर्णत: प्रकाश डाल दिया है; मोक्षाधिकार का संक्षिप्त सार बता दिया है। इसमें कहा गया है कि समस्त परद्रव्यों को त्यागकर स्व में लीन होनेवाले सम्यग्दृष्टि मुनिराज सर्व अपराधों से रहित होते हुए पूर्णज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त कर संसार से मुक्त हो जाते हैं।

अब मोक्षाधिकार के अन्त में अन्तमंगलरूप कलश कहते हैं; जो इसप्रकार है —

(मन्दाक्रान्ता)

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं
पूर्णज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥ १९२॥

(रोला)

बंध-छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आतमा,
निजरस से गंभीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय ।
उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय,
अचल अनाकुल अज अखण्ड यह ज्ञानदिवाकर ॥ १९२॥

नित्य-उद्योतवाली सहज अवस्था से स्फुरायमान, सम्पूर्णत: शुद्ध और एकाकार निजरस की अतिशयता से अत्यन्त धीर-गंभीर पूर्णज्ञान कर्मबन्ध के छेद से अतुल अक्षय मोक्ष का अनुभव करता हुआ सहज ही प्रकाशित हो उठा और स्वयं की अचल महिमा में लीन हो गया।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४४०-४४१

इस कलश का भाव भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"कर्म का नाश करके मोक्ष का अनुभव करता हुआ, अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयकारों को गौण करता हुआ, अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार नहीं है ऐसा) और धीर (आकुलता रहित) — ऐसा पूर्णज्ञान प्रगट दैदीप्यमान होता हुआ, अपनी महिमा में लीन हो गया।"

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं —

(छप्पय)

भयौ सुद्ध अंकूर, गयौ मिथ्यात मूर नसि ।
क्रम क्रम होत उदोत, सहज जिम सुकल पक्ष ससि ॥
केवल रूप प्रकासि, भासि सुख रासि धरम धुव ।
करि पूरन थिति आउ, त्यागि गत लाभ परम हुव ॥
इह विधि अनन्य प्रभुता धरत, प्रगटि बूंदि सागर थयौ ।
अविचल अखंड अनभय अखय, जीव दरब जग मंहि जयौ ॥

शुद्धता का अंकुर प्रगट हुआ, मिथ्यात्व जड़मूल से नष्ट हो गया, शुक्लपथ के चन्द्रमा के समान क्रम-क्रम से सहजभाव से ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उद्योत होने लगा और केवलज्ञानरूप पूर्णमासी को प्राप्त हो गया, जिसमें अनन्त सुख और ध्रुव धर्म भासित होने लगे। अन्त में आयुकर्म की स्थिति को पूर्णकर देह को त्याग कर परमलाभ को प्राप्त हुआ अर्थात् सिद्धदशा को प्राप्त हुआ।

इसप्रकार यह आत्मा कभी प्राप्त न होनेवाली प्रभुता को प्राप्त हो गया, अनुभवदशा को प्राप्त हो गया; बिन्दु से सिन्धु हो गया, अल्पज्ञान से पूर्णज्ञान को प्राप्त हो गया; इसप्रकार यह जीवद्रव्य अविचल, अक्षय, अभय और अखण्ड पद को प्राप्त हो जयवंत वर्तता है।

स्वामीजी इस कलश के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"यह मोक्ष अधिकार का अन्तिम कलश है। यहाँ कहते हैं कि कर्मबन्धन के छेद से मोक्ष होता है अर्थात् शुद्धचिदानन्द आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान व लीनता

से रागादि विकार का सर्वथा नाश होने पर सर्व कर्मों का छेद हो जाने से अतुल अक्षय केवलज्ञानमय मोक्षदशा प्रगट हो जाती है। वह मोक्ष की दशा सहज-स्वाभाविक और नित्य उद्योतरूप है। जो केवलदर्शन व केवलज्ञान अन्तर में त्रिकाल शान्तिस्वरूप था, वह वर्तमान में व्यक्त हो गया है।[१]

देखो! संसारदशा में अल्पज्ञानदशा में ज्ञान की दशा एकाकार-एकरूप नहीं थी, अनेकरूप थी, वह परमात्मदशा में सर्वज्ञता प्रगट होने पर एकाकार प्रगट हो गई। एकाकार अर्थात् एक ज्ञानगम्य स्वरूप से परिणत हो गई। रागादि का सर्वथा नाश होने पर ज्ञान की दशा एकाकार-एकरूप से प्रगट हो गई।

सिद्धदशा निजरस की, चैतन्यरस की अतिशयता से अत्यन्त गंभीर है। छद्मस्थ द्वारा इसकी गंभीरता की थाह पाना मुश्किल है। भगवान आत्मा का पूर्णज्ञान समुद्र की भाँति अति गंभीर है, अथाह है तथा वह केवलज्ञान धीर हैं अर्थात् शाश्वत है तथा ज्वलित अर्थात् रत्नज्योति के समान शाश्वत प्रकाशमान है।

जिसतरह दियासलाई (माचिस) में शक्तिरूप से अग्नि है और घिसते ही — रगड़ लगते ही प्रगट हो जाती है; उसीतरह आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य त्रिकाल शक्तिरूप से विद्यमान हैं, उसमें अन्तर एकाग्रता करने से — अन्तर अनुभव करने से वह ज्ञान ज्योतिर्मय होकर केवलज्ञान के रूप में पर्याय में प्रगट हो जाता है। जैसी अन्तर में सामर्थ्य है, वैसी ही पर्याय में प्रगट हो जाती है।[२]''

इसप्रकार इस कलश में अन्तमंगल के रूप सम्यग्ज्ञानज्योति को स्मरण किया गया है कि जो स्वयं में समाकर, त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा का आश्रय कर केवलज्ञानरूप परिणमित हो गई है। ज्ञानज्योति का केवलज्ञानरूप परिणमित हो जाना ही मोक्ष है। इसप्रकार यह मोक्षाधिकार समाप्त होता है।

आत्मख्याति का मोक्षाधिकार का अन्तिम वाक्य है — **इति मोक्षो निष्क्रान्तः**। तात्पर्य यह है कि इसप्रकार मोक्ष भी रंगभूमि से निकल गया। मोक्ष

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४४२
२. वही, पृष्ठ ४४३

भी तो एक स्वांग है, आत्मवस्तु का मूल स्वरूप नहीं है। मोक्ष भी एक पर्याय का नाम है, वह भी आत्मा का द्रव्यस्वभाव नहीं है; अत: यहाँ उसे भी स्वांग कहा है।

अन्य अधिकारों के समान इस अधिकार के अन्त में भी पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा सम्पूर्ण अधिकार की विषयवस्तु को समेटते हुए एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है —

(सवैया तेईसा)

ज्यों नर कोऊ परयो दृढ़बंधन बंधस्वरूप लखै दुखकारी,
चिंत करै निति कैम कटे यह तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी ।
छेदन कूं गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारी,
यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी ॥

जिसप्रकार कोई मनुष्य मजबूत बन्धन में पड़ गया हो और वह बन्धन के दु:खकारी स्वरूप को भलीभाँति जानता हो, उसका चिन्तन करता हो, यह विचार भी करता हो कि यह किसप्रकार कटेगा ? — ऐसा करने पर भी बन्धन तो कटता नहीं है; क्योंकि बन्धन को काटने के लिए उसका जानना और उसी का चिन्तन करना पर्याप्त नहीं है; क्योंकि बन्धन तो काटने से कटता है। अत: बन्धन के छेदन के लिए जब वह आयुध (हथियार) लेकर उस बन्धन पर निशंक होकर चलाता है तो वह बन्धन टूट जाता है।

उसीप्रकार ज्ञानी जीव बुद्धि के प्रयोग से आत्मा और कर्म को अलग-अलग करके आत्मा को ग्रहण कर लेते हैं।

यह बात मोक्षाधिकार की आरंभिक गाथाओं में आई है; उसी को यहाँ छाबड़ाजी ने पद्य के रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

इसप्रकार यह मोक्षाधिकार समाप्त होता है। •

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

अबतक जीवाजीवाधिकार से संवराधिकार तक भगवान आत्मा को परपदार्थों और विकारीभावों से भिन्न बताकर अनेकप्रकार से भेदविज्ञान कराया गया है तथा निर्जराधिकार में भेदविज्ञान सम्पन्न आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टियों के भूमिकानुसार भोग और संयोगों का योग होने पर भी बंध नहीं होता, अपितु निर्जरा होती है - यह स्पष्ट किया गया है। बंधाधिकार में बंध के कारणों पर एवं मोक्षाधिकार में मुक्ति के उपाय पर प्रकाश डाला गया है।

अब इस सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में भगवान आत्मा के अकर्त्ता-अभोक्ता सर्वविशुद्धज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है।

अन्य अधिकारों के समान इस अधिकार का आरंभ भी आत्मख्याति टीका में "**अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम्** — अब सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है" — इस वाक्य से ही होता है। तात्पर्य यह है कि रंगभूमि में जीव-अजीव, कर्त्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष — ये आठ स्वांग आये और अपना नृत्य दिखाकर, अपना स्वरूप बताकर चले गये। इसप्रकार सर्व स्वांगों के चले जाने पर अब एकाकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। उक्त आठ तो स्वांग थे, पर यह सर्वविशुद्धज्ञान स्वांग नहीं है, आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।

आत्मख्याति में सर्वप्रथम मंगलाचरण के रूप में ज्ञानपुंज आत्मा का स्मरण करते हैं। मंगलाचरण का वह छन्द मूलतः इसप्रकार है —

(मन्दाक्रान्ता)

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंज॥ १९३॥

(रोला)

जिसने कर्तृ-भोक्तृभाव सब नष्ट कर दिये,
बंध-मोक्ष की रचना से जो सदा दूर है।
है अपार महिमा जिसकी टंकोत्कीर्ण जो;
ज्ञानपुंज वह शुद्धातम शोभायमान है॥ १९३॥

कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि समस्त विकारीभावों का भली-भाँति प्रलय (अभाव) करके, पद-पद पर बंध-मोक्ष की रचना से दूर रहता हुआ, टंकोत्कीर्ण प्रगट महिमावाला यह परमशुद्ध ज्ञानपुंज आत्मा निजरस के विस्तार से परिपूर्ण पवित्र अचल तेज से स्फुरायमान हो रहा है।

छन्द में मूलत: 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है, जिसका आशय यह है कि आत्मा द्रव्यकर्म और भावकर्म — दोनों रहित है।

नाटक समयसार में इस छन्द का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने इसप्रकार किया है —

(सवैया इकतीसा)

कर्मनि कौ करता है भोगनि कौ भौगता है,
जाकी प्रभुता मैं ऐसौ कथन अहित है।
जामैं एक इंद्री आदि पंचधा कथन नांहि,
सदा निरदोष बंध मोख सौं रहित है॥
ग्यान कौ समूह ग्यानगम्य है सुभाव जाकौ,
लोकव्यापी लोकातीत लोक मैं महित है।
सुद्धबंससुद्धचेतना कै रस अंस भग्यौ,
ऐसौ हंस परम पुनीतता सहित है॥

(दोहा)

जो निहचै निरमल सदा, आदि मध्य अरु अंत।
सो चिद्रूप बनारसी, जगत मांहि जयवंत॥

जिस परमपवित्र भगवान आत्मा की प्रभुता में — 'आत्मा कर्मों का कर्त्ता है और भोगों का भोक्ता है' — ऐसा कथन करना भी अहित की बात है, उचित

नहीं है; जिस भगवान आत्मा में एकेन्द्रिय आदि पाँच भेद करना भी संभव नहीं हैं; जो सदा ही निर्दोष है और बंध-मोक्ष से भी रहित है; जिसका स्वभाव ज्ञानगम्य है और जो ज्ञान का पुंज है; लोकव्यापी होकर लोकातीत है और लोक में सबसे महान है; परमपवित्रता से सहित — ऐसे शुद्धवंशवाले इस आत्मा का अंश-अंश चेतना के रस से भरा हुआ है।

निश्चयनय से जो आत्मा आदि, मध्य और अन्त में सदा ही निर्मल है, कविवर बनारसीदासजी कहते हैं कि वह भगवान आत्मा जगत में सदा ही जयवंत रहे।

इसके पूर्व के अधिकारों में मंगलाचरण के रूप में जिस ज्ञानज्योति को स्मरण किया जाता रहा है, उसे केवलज्ञानज्योति या सम्यग्ज्ञानज्योति के रूप में देखा जाता रहा है; किन्तु सर्वविशुद्धज्ञान का अधिकार होने से यहाँ उस ज्ञानज्योति के स्थान पर बंध-मोक्ष से रहित ज्ञानपुंज आत्मा को स्मरण किया गया है।

उक्त सन्दर्भ में पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा का भावार्थ भी द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है —

"शुद्धनय का विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भावों से रहित है, बन्ध-मोक्ष की रचना से रहित है, परद्रव्य से और परद्रव्य के समस्त भावों से रहित होने से शुद्ध है, निजरस के प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है। ऐसा ज्ञानपुंज आत्मा प्रगट होता है।"

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं —

"वह चैतन्यभावस्वरूप वस्तु अन्दर में प्रत्येक पर्याय में बन्ध-मोक्ष की रचना से रहित है, त्रिकाली ध्रुव द्रव्यस्वरूप आत्मा बंध-मोक्ष की रचना से दूर ही वर्तता है। चैतन्यमय भगवान आत्मा बंध व मोक्ष दोनों दशाओं की रचना से रहित है।

मिथ्यात्व का पहला गुणस्थान हो अथवा अयोग केवली का चौदहवाँ गुणस्थान हो, नरकदशा हो या तिर्यंच, मनुष्यदशा हो; भगवान आत्मा प्रत्येक

पर्याय की रचना से रहित है। आत्मा तो अकेला चैतन्य द्रव्य है, सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु पर्याय से त्रिकाल भिन्न है।[१]

इसप्रकार प्रत्येक पर्याय में पर्याय से भिन्न चैतन्यरस का पुंज प्रभु आत्मा गुणस्थान आदि के भेदों से भिन्न ही है और वह स्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होता है।[२]

एक कलश में ही आचार्यदेव ने कितना तत्त्व (रस) भर दिया है। कहते हैं कि भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य की पूर्ण देदीप्यमान ज्योतिरूप निजरस से भरा त्रिकाल ध्रुव-ध्रुव प्रवाहरूप है।

अरे ! अपनी वस्तु कितनी महिमावंत है, कितनी कल्याणकारी है; इसकी खबर न होने से यह अज्ञानी जीव अनन्तकाल से संसार में भ्रमण कर रहा है। अनन्त बार तो यह मनुष्य भी हुआ, फिर भी इसने अपने निज वैभव सम्पन्न स्वरूप को जानने-पहचानने की परवाह नहीं की, गर्ज नहीं की। धर्म के नाम पर व्रत, तप, भक्ति-पूजा आदि क्रियायें करके अपने को धर्मात्मा मानता रहा। पर सचमुच धर्म की तो अभी शुरूआत ही नहीं हुई। अपने को जाने बिना धर्म हो भी कहाँ से ? यदि ये सब क्रियाएँ कषायों की मन्दता में हों तो पुण्यबन्ध अवश्य होता है; पर इन शुभभाव स्वरूप बाह्य क्रियाओं से धर्म तो किंचित् भी नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि ऐसे पुण्य के भावों से भी सच्चिदानन्दमय ज्ञानपुंज प्रभु आत्मा भिन्न वस्तु है और वह स्वानुभव से प्रगट होती है।[३]''

इसप्रकार इस कलश में शुद्धनय के विषयभूत त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा को स्मरण करते हुए उसके प्रति रुचि प्रदर्शित की गई है, बहुमान प्रगट किया गया है।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है —

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २
२. वही, पृष्ठ ४
३. वही, पृष्ठ ५

(अनुष्टुप्)

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावाकारकाः॥ १९४॥

(दोहा)

जैसे भोक्तृ स्वभाव नहीं वेसे कर्तृस्वभाव।
कर्त्तापन अज्ञान से ज्ञान अकारकभाव॥ १९४॥

जिसप्रकार पर को या रागादि को भोगना आत्मा का स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार पर को या रागादि को करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। अज्ञानभाव के कारण ही आत्मा कर्त्ता बनता है, अज्ञान के अभाव में वह अकारक ही है।

उक्त कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी इसप्रकार करते हैं —

(चौपाई)

जीव करम करता नहि ऐसैं, रस भोगता सुभाव न तैसें।
मिथ्यामति सौं करता होई, गएँ अग्यान अकरता सोइ॥

जीव न तो कर्मों का कर्त्ता है और न कर्मरस का भोक्ता ही है। मिथ्याबुद्धि के कारण ही जीव कर्मों का बनता है और मिथ्याबुद्धि (अज्ञान) के चले जाने पर अकर्त्ता हो जाता है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा जा रहा है कि यह भगवान आत्मा स्वभाव से तो कर्म का कर्त्ता-भोक्ता है ही नहीं; परन्तु अपने अज्ञान के कारण उनका कर्त्ता-भोक्ता बनता है अर्थात् उनका कर्त्ता-भोक्ता स्वयं को मानता है; अज्ञान के चले जाने पर उसका यह मानना भी समाप्त हो जाता है।

इस प्रकरण को आगामी गाथाओं में विस्तार से स्पष्ट किया जाना है। अतः यहाँ कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। ●

जिन्हें त्रिकाली सत् का परिचय नहीं, वे सत्पुरुष नहीं; उनकी संगति भी सत्संगति नहीं है। — **बिन्दु में सिन्धु**, पृष्ठ १३

समयसार गाथा ३०८ से ३११

आचार्य जयसेन के चित्त में मोक्षाधिकार और सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के विभागीकरण के सम्बन्ध में कुछ विकल्प था। यद्यपि वे आत्मख्याति के समान ३०७ गाथा पर ही मोक्षाधिकार को समाप्त मान लेते हैं और '**मोक्षो निष्क्रान्तः। अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम्**' भी लिख देते हैं; तथापि ३२० तक की गाथाओं को वे मोक्षाधिकार की चूलिका कहते हैं तथा ३२० वीं गाथा के उपरान्त लिखते हैं — **मोक्षाधिकारसंबंधिनी... चूलिका समाप्ता। अथवा द्वितीयव्याख्येनात्र मोक्षाधिकारः समाप्तः।**

इसप्रकार वे मोक्षाधिकार को यहाँ समाप्त मानते हैं। उनकी यह विशेषता है कि वे आचार्य अमृतचन्द्र के मत को स्वीकार करते हुए भी अपने वैकल्पिक मत को भी सविनय स्पष्ट कर देते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आगामी ३०८ से ३२० तक की गाथायें मोक्षाधिकार की चूलिका रूप सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार की आरंभिक गाथायें हैं।

आरंभ की चार गाथाओं में आत्मा के अकर्तृत्वस्वभाव को स्पष्ट किया गया है। जैसा कि आत्मख्याति टीका में कहा गया है — "**अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टांतपुरस्सरमाख्याति** — अब आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं।"

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति की उत्थानिका में यही लिखते हैं कि निश्चय से कर्मों का कर्त्ता आत्मा नहीं है — अब यह कहते हैं।

वे गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं —

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह॥ ३०८॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि॥ ३०९॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि॥ ३१०॥

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धि दु ण दीसदे अण्णा॥ ३११॥

(हरिगीत)

है जगत में कटकादि गहनों से सुवर्ण अनन्य ज्यों।
जिन गुणों में जो द्रव्य उपजे उनसे जान अनन्य त्यों॥ ३०८॥
जीव और अजीव के परिणाम जो जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जानों अनन्य उन परिणाम से॥ ३०९॥
ना करे पैदा किसी को बस इसलिए कारण नहीं।
किसी से ना हो अतः यह आतमा कारज नहीं॥ ३१०॥
कर्म आश्रय होय कर्ता कर्ता आश्रय कर्म भी।
यह नियम अन्यप्रकार से सिद्धि न कर्ता-कर्म की॥ ३११॥

जिसप्रकार जगत में कड़ा आदि पर्यायों से सोना अनन्य है, उसीप्रकार जो द्रव्य जिनगुणों से उत्पन्न होता है, उसे उन गुणों से अनन्य जानो।

जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये गये हैं, उन परिणामों से जीव या अजीव को अनन्य जानो।

यह आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ; इसकारण किसी का कार्य नहीं है और किसी को उत्पन्न नहीं करता; इसकारण किसी का कारण भी नहीं है।

कर्म के आश्रय से कर्त्ता होता है और कर्त्ता के आश्रय से कर्म उत्पन्न होते हैं; अन्य किसी भी प्रकार से कर्त्ता-कर्म की सिद्धि नहीं देखी जाती।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"प्रथम तो यह जीव क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जिसप्रकार सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है; उसीप्रकार सर्व द्रव्यों का अपने-अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।

इसप्रकार अपने परिणामों से उत्पन्न होते हुए जीव का अजीव के साथ कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि सर्वद्रव्यों का अन्य द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है।

भिन्न द्रव्यों का परस्पर कार्य-कारणभाव सिद्ध न होने पर अजीव जीव का कर्म (कार्य) है - यह भी सिद्ध नहीं होता। 'अजीव जीव का कर्म है' — यह सिद्ध नहीं होने पर 'जीव अजीव का कर्त्ता है' — यह भी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि कर्त्ता-कर्म अनन्य ही होते हैं। इसप्रकार जीव अकर्त्ता ही सिद्ध होता है।''

आचार्य जयसेन भी उक्त गाथाओं का अर्थ इसीप्रकार करते हैं। नयविभाग स्पष्ट करते हुए वे निष्कर्षरूप में कहते हैं कि इसप्रकार निश्चयनय से जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इन गाथाओं में आत्मा के अकर्त्तास्वभाव को सिद्ध किया गया है।

उक्त बात को स्पष्ट करते हुए इन गाथाओं की आत्मख्याति टीका में पर्यायों को क्रमनियमित कहा गया है; जिसके आधार पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। स्वामीजी की इस क्रान्तिकारी खोज ने एक महान सत्य का उद्घाटन तो किया ही, साथ ही समाज को आन्दोलित भी कर दिया।

लाखों लोगों के जीवन को प्रभावित करनेवाले इस महान सिद्धान्त ने मेरे जीवन को भी आन्दोलित किया और मेरे जीवन को बदलनेवाला, आध्यात्मिक मोड़ देनेवाला यही सिद्धान्त है। इस बात का विवरण मैंने अपनी अन्य कृति क्रमबद्धपर्याय के आरम्भ में अपनी बात में दिया है।

इसकी गहराई में जाने के लिये विशेष अध्ययन और गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है। इस सिद्धान्त की विशेष जानकारी के लिए स्वामीजी की **ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव** व मेरी अन्य कृति **क्रमबद्धपर्याय** का अध्ययन करना चाहिये।

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुये स्वामीजी ने जो कुछ विशेष स्पष्टीकरण किया है, उसका सारांश इसप्रकार है —

''यहाँ जो 'क्रमनियमित' शब्द है, उससे क्रम तो सिद्ध है ही, साथ ही क्रम से नियमित - यह भी स्पष्ट है। 'क्रमनियमित' शब्द यह बताता है कि द्रव्य के इस समय होने योग्य यही पर्याय होगी - ऐसा निश्चित है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ११

तात्पर्य यह है कि जीव में जो पर्यायें जिस समय होनी होती हैं, वे अपने स्व-अवसर में ही प्रकट होती हैं। वर्तमान में जो पर्याय प्रगट होती है, वही उस पर्याय की उत्पत्ति का काल है। उस पर्याय का वही जन्मक्षण है। प्रत्येक समय में उत्पन्न होनेवाली सभी पर्यायें अपने जन्मक्षण में ही होती हैं। यद्यपि बात सूक्ष्म है, पर सर्वज्ञदेव के द्वारा जानी, देखी और कही हुई बात है।[१]

प्रश्न : एक ओर तो ऐसा कहा जाता है कि जीव तो अपनी पर्यायों का भी कर्ता नहीं है और यहाँ यह कहा जा रहा है कि जीव के परिणाम जीव ही हैं। ये दोनों बातें एक साथ कैसे सम्भव हो सकती हैं ?

उत्तर : हां संभव है। समयसार गाथा ३२० में भी ऐसा कहा है कि पर्यायों का कर्त्ता जीव नहीं है। पर्यायें अपने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप षट् कारकों के परिणमन से स्वयं स्वत: अपने स्वकाल में उत्पन्न होती हैं। वहाँ द्रव्य से पर्याय को भिन्न बताने का प्रयोजन है। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की सिद्धि करना है न ? इसलिये वहाँ कहा है कि द्रव्य पर्याय का कर्ता नहीं है। आत्मा का अक्रिय एकरूप द्रव्यस्वभाव है।

तथा यहाँ यह बताना प्रयोजनभूत है कि कोई भी परद्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य की पर्यायों के कर्ता नहीं हैं; अत: यहाँ द्रव्य व पर्याय को अभेद करके बात की है कि 'जीव क्रमबद्धरूप अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। जीव की पर्यायें जीवस्वरूप ही हैं।' ऐसी ही वस्तुस्थिति है।

भाई ! कथन में जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे यथार्थ—उसी अपेक्षा से समझना चाहिये। आजकल इस विषय में कुछ लोगों ने बिना सोचे-विचारे गड़बड़ी कर रखी है। उन लोगों का कहना कि क्रमबद्धपर्याय मानने पर पुरुषार्थ का लोप हो जायेगा; क्योंकि सब कुछ नियत होने पर जीव को करने को रह ही क्या जाता है?

उनसे कहते हैं कि भाई ! वस्तुव्यवस्था तो नियत व स्वाधीन ही है। तू इस वस्तुव्यवस्था में फेरफार करने की चेष्टा को पुरुषार्थ कहता है; परन्तु यह पुरुषार्थ नहीं है। यह तो तुम्हारा मिथ्या विकल्प है। वास्तव में तो द्रव्य की

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १४

पर्याय अपने स्वकाल में, पर के कर्तापन के बिना स्वतंत्र स्वाधीनपने क्रमबद्धरूप से अपने से ही उत्पन्न होती है। जिसने ऐसी श्रद्धा की, वही सच्चा पुरुषार्थी है; क्योंकि ऐसा माननेवाले पर से निवृत्त होकर स्वसन्मुख होते हैं। वास्तव में स्वसन्मुख होना और स्व में स्थित रहना ही सम्यक् पुरुषार्थ है।[१]

जिसतरह सोने का कंकण आदि पर्यायों के साथ तादात्म्य है; उसीप्रकार सर्वद्रव्यों का अपने-अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। अपने परिणामों से उत्पन्न होते हुये द्रव्य के उन परिणामों का कर्ता अन्य नहीं है, वह द्रव्य स्वयं ही है।[२]

यहाँ कहते हैं कि अपने परिणामों से उत्पन्न होते हुये जीव का अजीव के साथ कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता।

जो जड़ शरीर में शरीर, मन, वाणी के कार्य होते हैं, हाथ-पैर हिलाते हैं, वाणी बोलते हैं, आँखों की पलकें झपकती हैं, वे सब जड़ के स्वतंत्र परिणमन हैं; उन्हें जीव नहीं करता; क्योंकि सभी जड़-चेतन द्रव्यों का एक दूसरे के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है।[३]

देखो, एक जीव को दूसरे मरते हुये जीव की दया पालने या रक्षा करने का भाव हुआ; उसीसमय उस जीव की रक्षा हो गई अर्थात् वह मरणासन्न जीव बच गया। यहाँ कार्य-कारण की खोज करें तो अन्य जीव की रक्षा होना अर्थात् उसका जीवित रहना — यह कार्य है, उस कार्य का कर्ता कौन ? दया पालनेवाला जीव या जो जीवित रहा उसकी उपादानगत योग्यता ?

यहाँ आचार्य कहते हैं कि इस कार्य का कर्ता रक्षा करने के भाववाला जीव नहीं है, एक जीव के दयाभाव के कारण दूसरा जीव बचे — ऐसा तीनकाल में भी संभव नहीं है।[४]

अब आगे कहते हैं कि इनमें कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होने पर अजीव का एवं जीव का कर्ताकर्मपना भी सिद्ध नहीं होता। अतः शरीर की हलन-

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १६, १७
२. वही, पृष्ठ २५
३. वही, पृष्ठ २५
४. वही, पृष्ठ २६

चलन रूप क्रिया का कर्ता जीव को मानना ठीक नहीं है। जिसप्रकार आँखे मात्र पर को देखती ही हैं; वे किसी का कुछ करती नहीं हैं; उसीप्रकार जीव पर को मात्र जान सकता है, पर का कुछ भी कार्य कर नहीं सकता, करता ही नहीं है। यह बात विस्तार से ३२०वीं गाथा में भी आनेवाली है।

अत: अजीव को जीव का कर्मपना सिद्ध नहीं होता। ज्ञानावरणादि कर्मों का जो बन्ध होता है, वह जीव का कार्य नहीं है। अरे ! ये पुण्य व पाप के भाव दया-दान-व्रत आदि के विकल्प जो होते हैं, वे वस्तुत: जीव के हैं ही नहीं। अत: वे निश्चय से जीव के सिद्ध कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि विकारी परिणामों में चैतन्य का अभाव है। निश्चय से वे विकारी परिणाम अरूपी व अचेतन हैं।[१]

भाई! यह तो सिद्ध ही है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में, सारे जगत में अनन्त पदार्थों की प्रत्येक पर्याय अपनी क्रमबद्ध के अनुसार ही होती है, उसमें अन्य द्रव्य, गुण व पर्याय की किंचित् भी कोई अपेक्षा नहीं है।

अन्य वस्तु है ही नहीं, यह बात भी नहीं है; वस्तु है; परन्तु वस्तु को कार्यरूप से परिणत होने में अन्य वस्तु की अपेक्षा बिल्कुल नहीं है।

अहा ! ऐसा अन्य द्रव्य से निरपेक्ष कर्ता-कर्म का स्वरूप होने से जीव को अजीव का कर्ता-कर्मपना सिद्ध नहीं होता।[२]

तात्पर्य यह है कि अजीव में जो कार्य होता है, उसका कर्ता जीव नहीं होता है; जीव में जो कार्य होता है, उसका कर्ता अजीव नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य के कार्य में अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं होती। प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में परद्रव्य से सर्वथा निरपेक्ष प्रगट होती है।[३]

द्रव्य में गुण सहवर्ती होते हैं, अनंतगुण द्रव्य में एक साथ रहते हैं। पर्यायें भी प्रवाहरूप से एक के बाद एक अपने क्रम में प्रगट होती है। ध्यान रहे, एक के बाद एक होते हुए भी इतना विशेष है कि जिस समय जो पर्याय होनी

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३१-३२
२. वही, पृष्ठ ३३
३. वही, पृष्ठ ३३

निश्चित है, उस समय वही पर्याय प्रगट होती है। द्रव्य में पर्याय की ऐसी प्रवाहधारा क्रमनियमित चलती है। जिसतरह दायें पैर के बाद बायाँ और बायें के बाद दायाँ पैर चलता है। पंचाध्यायी में इसे क्रमपद कहा है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में द्रव्य की जिससमय जो पर्याय प्रगट होती है, उसे इसकी काललब्धि कहा है। छहों द्रव्यों में काललब्धि है—ऐसा वहाँ कहा है।

प्रवचनसार की गाथा १०२ में इसी बात को अपनी-अपनी पर्यायों का जन्मक्षण कहा है।

यहाँ यह बताना चाहते हैं कि आत्मा परद्रव्यों से भिन्न अपने परिणामों का कर्ता है और पर का अकर्ता है।

यहाँ यह बात नहीं लेना कि पर्याय की कर्ता पर्याय है; पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं है। यद्यपि यह बात पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में कही है। वहाँ यह कहा है कि पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं है, बल्कि पर्याय ही पर्याय की कर्ता है, पर्याय ही कर्म है, करण है। पर्याय का सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण भी स्वयं पर्याय है। इसप्रकार पर्याय स्वयं ही अपने षट्कारकों से परिणमती है; परन्तु यहाँ यह बात ही जुदी है। यहाँ तो यह कहा है कि अपने परिणामों से उपजता हुआ द्रव्य स्वयं ही उनमें तन्मय है, अन्य द्रव्य में नहीं। इसलिये द्रव्य स्वयं अपने परिणामों का कर्ता है, अन्य द्रव्य उसका कर्ता नहीं।

जीवद्रव्य की ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय (केवलज्ञान) छहों द्रव्यों को जानती है, स्वद्रव्य को भी जानती है। पर वह केवलज्ञान पर्याय जिसतरह स्वद्रव्य में तद्रूप है, वैसी अन्य द्रव्य में तद्रूप नहीं है। वह केवलज्ञान पर्याय छह द्रव्यों के साथ एक-मेक नहीं है। छह द्रव्य उस पर्याय में प्रविष्ट नहीं होते। इसलिये छह द्रव्यों का कर्ता ज्ञान नहीं है; आत्मा नहीं है। आत्मा तो अपने ज्ञान परिणामों का कर्ता है, परद्रव्यों का कर्ता नहीं है।

अहा ! प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु अपने क्रमनियमित उपजते परिणामों से उस समय तद्रूप है तथा पर से पृथक् है। जीव के परिणाम में जीव तद्रूप है तथा अजीव से पृथक् है और अजीव के परिणामों से अजीव तद्रूप है, वह जीव से पृथक् है।

इसप्रकार जीव अपने परिणामों का कर्ता है और अजीव का अकर्ता है। उसीप्रकार जगत के अनंत द्रव्य अनन्तपने से तीनों काल रहते हैं। भाई ! जीव अपने परिणाम को भी तथा अन्यद्रव्य के परिणाम को भी करे — ऐसा पदार्थों का स्वरूप नहीं है। इसकारण जीव पर का अकर्ता ही ठहरता है।[१]"

इसप्रकार इन गाथाओं में भगवान आत्मा को अकर्त्ता सिद्ध किया गया है।

उक्त कथनानुसार यद्यपि आत्मा अकर्ता सिद्ध होता है, तथापि उसे बंध होता है — यह सब अज्ञान की ही महिमा है। — अब इस आशय का कलश आत्मख्याति में आचार्यदेव लिखते हैं, जो इसप्रकार है —

(शिखरिणी)

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फूरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोग भवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरित महिमा कोऽपि गहनः॥ १९५॥

(रोला)

निजरस से सुविशुद्ध जीव शोभायमान है।
झलके लोकालोक ज्योति स्फुरायमान है।
अहो अकर्त्ता आतम फिर भी बंध हो रहा।
यह अपार महिमा जानो अज्ञानभाव की॥ १९५॥

जिसके ज्ञानस्वभाव में लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है, निजरस से विशुद्ध ऐसा यह जीव यद्यपि अकर्त्ता ही सिद्ध है; तथापि उसे इस जगत में कर्म की प्रकृतियों के साथ बंध होता है। वस्तुतः यह सब अज्ञान की ही गहन महिमा है।

आचार्यदेव यहाँ यह बता रहे हैं कि यद्यपि यह भगवान आत्मा अकर्त्ता ही है; तो भी अज्ञानावस्था में इसे बंध होता है। तात्पर्य यह है कि बंध का मूलकारण अज्ञान है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं —

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३४, ३५

(सवैया इकतीसा)

निहचै निहारत सुभाव याहि आतमा कौ,
आतमीक धरम परम परकासना।
अतीत अनागत बरतमान काल जाकौ,
केवल स्वरूप गुण लोकालोक भासना॥
सोई जीव संसार अवस्था मांहि करम कौ,
करता सौ दीसै लीएं भरम उपासना।
यहै महा मोह कौ पसार यहै मिथ्याचार,
यहै भो विकार यह विवहार वासना॥

निश्चयनय से देखने पर इस आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है और इसमें लोकालोक के सभी द्रव्य उनके गुण और उन द्रव्य-गुणों की भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी पर्यायें प्रतिभासित होती हैं। यही जीव संसार अवस्था में कर्मों को करता दिखाई देता है। यह सब भ्रम है, मोह का प्रसार है, मिथ्याचार है, भव का विकार है और व्यवहार की वासना है, व्यवहारनय का कथन है, व्यवहारनय के विषयभूत आत्मा का अशुद्धस्वभाव है।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"देखो ! यह आत्मा स्वभाव से अकर्त्ता होते हुए भी कर्त्ता कैसे हो जाता है ? — यह बात चल रही है। यहाँ कहा है कि आत्मा निजरस से अर्थात् स्वभाव से राग रहित है, निर्मल है। ऐसी स्फुरायमान होती हुई निर्मल चैतन्यज्योति से इस आत्मा का विस्तार समस्त लोक में व्याप्त हो जाता है। भगवान आत्मा तीन लोक व तीन काल में जितने भी अनन्तानन्त द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उन समस्त को क्षणभर में जानने की शक्तिवाला सर्वज्ञस्वभावी तो है; परन्तु लोकालोक की किसी वस्तु में किंचित् भी फेर-फार कर सके — ऐसी योग्यता आत्मा में नहीं है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा अकर्तास्वभावी है।[१]

इसप्रकार यद्यपि जीव परद्रव्य का तथा परभावों का अकर्त्ता सिद्ध होता है तो भी इस जगत में आत्मा को कर्मप्रकृति के साथ बन्ध होता है — यह कोई अज्ञान की ही गहन महिमा है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३८

सर्वज्ञस्वभावी होते हुए भी अपने निज-स्वभाव के भान बिना अनन्त भूतकाल से इसने दया-दान-व्रतादि के राग को अपनी चीज माना। इन्हें लाभप्रद माना, इन्हें अपना कर्तव्य माना। बस यही इसका अज्ञान है। इस अज्ञान से ही बन्ध होता है। इसके विपरीत ज्ञाता-दृष्टारूप ज्ञानभाव अबंधरूप है।

बस यहाँ यही सिद्ध किया गया है कि यह अज्ञानभाव ही बन्ध है।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य का पुंज त्रिकाल एक ज्ञाता-दृष्टास्वभावी वस्तु है। उसे दृष्टि में अपनेरूप स्वीकार करना ज्ञानभाव है और यही आत्मज्ञान अबन्धरूप है।

अहा ! अपनी ऐसी त्रिकाल विद्यमान वस्तु को न मानकर, स्वीकार न करके उसे अन्यथा मान लेना आत्मघात है। यही भावहिंसा है। इसी से जीव को बंध होता है, जो कि चार गति में रखड़ने का कारण है।[१]"

इसप्रकार इस कलश में भी यही कहा गया है कि बंध का कारण एकमात्र अज्ञानभाव ही है। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३८, ३९

यह सब इसी अध्यात्म का फल है

भौतिकवादी भोग के सागर के बीच हम बड़वाग्नि के समान जल रहे हैं, डंके की चोट आत्मा की चर्चा कर रहे हैं, हजारों की भीड़ में आत्मा का प्रतिपादन कर रहे हैं। क्या हमारी शक्ति और सत्ता के लिए इतना काफी नहीं है? तथा भोग के सागर में आने वाली बाढ़ को भी हमारी इस अध्यात्मधारा ही ने रोक रखा है, अन्यथा न जाने यह दुनिया इसमें कब की बह गई होती।

हमारी अध्यात्म चर्चा निरर्थक नहीं, पूर्ण सार्थक है। जगत में जो कुछ भी श्रेय विद्यमान है, अच्छाइयाँ कायम हैं; वे सब इसी अध्यात्मधारा के अविरलप्रवाह का ही परिणाम हैं।

— सत्य की खोज, पृष्ठ १०१-१०२

समयसार गाथा ३१२-३१३

चेदा दु पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ॥ ३१२॥
एवं बंधो उ दोण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे॥ ३१३॥

(हरिगीत)

उत्पन्न होता नष्ट होता जीव प्रकृति निमित्त से।
उत्पन्न होती नष्ट होती प्रकृति जीव निमित्त से॥ ३१२॥
यों परस्पर निमित्त से हो बंध जीव रु कर्म का।
बस इसतरह ही उभय से संसार की उत्पत्ति हो॥ ३१३॥

चेतन आत्मा प्रकृति के निमित्त से उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इसीप्रकार प्रकृति भी चेतन आत्मा के निमित्त से उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। इसप्रकार परस्पर निमित्त से आत्मा और प्रकृति दोनों का बंध होता है और उससे संसार होता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"अनादि से ही अपने और पर के निश्चित लक्षणों का ज्ञान न होने से स्व और पर के एकत्व का अध्यास करने से कर्त्ता बनता हुआ यह आत्मा प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होता है और प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है।

इसप्रकार आत्मा और प्रकृति के कर्त्ता-कर्म भाव का अभाव होने पर भी परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से दोनों के बंध देखा जाता है। इससे ही संसार है और इसी से आत्मा और प्रकृति के कर्त्ता-कर्म का व्यवहार है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का अर्थ करते हुए इस बात का विशेष उल्लेख करते हैं कि स्वस्थभाव से च्युत होता हुआ आत्मा कर्मोदय को निमित्त बनाकर विभावभावरूप से परिणमित होता है। वे स्वस्थभाव से

च्युत होने पर विशेष बल देते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वस्थभाव से च्युत होनेरूप अपने अपराध से ही विकाररूप परिणमित होता है, कर्मों से बंधता है; किसी परपदार्थ के कारण नहीं, निमित्त के कारण नहीं।

इन गाथाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"देखो, यहाँ प्रथम चार गाथाओं में जीव का अकर्तापना सिद्ध किया है। अब प्रश्न उठता है कि यह जीव रागादि का कर्त्ता कैसे बनता है?

उत्तर में कह रहे हैं कि जब जीव स्वभाव का आलंबन छोड़कर कर्मप्रकृतियों के आधीन होकर परिणमन करता है, तब वह विकारभावों का कर्त्ता होकर उत्पन्न-विनष्ट होता है।

अहा! शुद्ध उपादान के बिना परवस्तुओं के आधीन होकर जो अशुद्ध उपादानरूप परिणमते हैं, वे अशुद्धता के, रागादि अज्ञानमयभावों के कर्त्ता होते हैं।

जगतजन दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-यात्रा आदि शुभराग के परिणमन से धर्म होना मानते हैं; परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है; क्योंकि ऐसी मान्यता तो राग के साथ एकत्व के अध्यासवाली है। अहा! स्वभाव की रुचि और स्वभाव की ओर का झुकाव नहीं होने से अज्ञानी जीव कर्मोदय के प्रति झुकाव करके विकाररूप परिणमते हैं और उस विकार के कर्त्ता बनते हैं। जबकि राग का कर्त्ता बने - ऐसा जीव का स्वभाव नहीं है। फिर भी जीव राग के साथ एकत्वबुद्धि के कारण अपने में हुये दीर्घ संसार के कारणभूत राग का कर्त्ता बनता है।[१]

देखो, यहां कहते हैं कि अज्ञानी विकारीभावों का कर्त्ता होता हुआ कर्मप्रकृति निमित्त से जन्म-मरण को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव स्वयं पर का या विकार का कर्त्ता बनकर स्वयं विकारभाव से उत्पन्न-विनष्ट होता है और कर्मप्रकृतियों का उदय उसमें निमित्तमात्र होता है। कर्मप्रकृति जीव में विकार नहीं कराती। जीव स्वयं ही कर्मप्रकृति के उदयाधीन होकर विकाररूप से परिणमन करता है। विकाररूप से उत्पन्न-विनष्ट होना अज्ञानीजीव का स्वयं का कार्य है। उसका कर्त्ता अज्ञानी स्वयं ही है, उसके विकाररूप उत्पन्न-विनष्ट होने में कर्मप्रकृतियों का कोई कार्य नहीं है। वे तो मात्र निमित्तरूप से उपस्थित रहती हैं।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ४४

अब कहते हैं कि कर्मप्रकृतियों का आत्मा के साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

पहले यह कहा था कि 'अज्ञानी जीव राग का कर्त्ता होकर कर्मप्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त करता है। अब कहते हैं कि 'जड़कर्म की प्रकृतियाँ भी आत्मा के राग आदि परिणामों के निमित्त से उत्पन्न-विनष्ट होती हैं।'

प्रकृतियों का जो नवीन बन्ध होता है, उसमें आत्मा के विकारी परिणाम निमित्तमात्र होते हैं, वे विकारी परिणाम प्रकृतिबन्ध के कर्ता नहीं होते। जीव के विकारी परिणाम कर्ता व जड़कर्म का बन्ध कर्म - ऐसा कर्ता-कर्म सम्बन्ध जीव व जड़कर्मों के साथ तीनकाल में कभी भी संभव नहीं है। जड़कर्मप्रकृतियाँ अपनी पर्यायगत योग्यता से बँधती हैं, उसमें आत्मा का विकारी परिणाम निमित्तमात्र होता है। जिसप्रकार जब जीव के विकारी परिणाम अपनी तत्समय की योग्यता से होते हैं और उसमें पूर्वबद्ध कर्मों का उदय निमित्तमात्र होता है; उसीप्रकार नवीन कर्मप्रकृतियों के बँधने में जीव के विकारी परिणाम निमित्त होते हैं। एक दूसरे में कर्ता-कर्मभाव नहीं है, मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव है।[१]

इसप्रकार आत्मा व कर्मप्रकृति के परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से दोनों के बंध देखने में आता है; किन्तु वहाँ दोनों में कर्ताकर्मभाव का अभाव है। जब आत्मा अपने क्रमबद्धपरिणामों से परिणमित होता हुआ विकारीभावरूप से उत्पन्न होता है, तब कर्मोदय उसमें निमित्त है तथा जब कर्मप्रकृति अपने क्रमबद्धपरिणामों से परिणमित होती हुई बंधभाव से उत्पन्न होती है, तब आत्मा के विकारीभाव उसमें निमित्त होते हैं। बस ऐसे परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से दोनों के बंध होता है। भाई! जो भी कार्य उत्पन्न होता है, उसमें दूसरी वस्तु निमित्त अवश्य होती है; किन्तु निमित्त से कार्य नहीं होता।

पूर्वबद्ध जड़ कर्मप्रकृति के उदय के निमित्त से हुये आत्मा के विकारीभाव भावबन्ध हैं तथा जड़ कर्मप्रकृतियों का बँधना द्रव्यबंध है। इनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो है, परन्तु कर्ता-कर्म संबंध नहीं है।[२]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ४५-४६
२. वही, पृष्ठ ४६-४७

लोगों को अज्ञान या मिथ्यात्व के कारण पर के साथ कर्ता-कर्म का अध्यास (भ्रम) हो रहा है। यही संसार परिभ्रमण का मूलकारण है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि आत्मा और कर्मप्रकृतियों का जो बंध होता है; उसमें आत्मा कर्त्ता और कर्मप्रकृतियों का बंध कर्म - ऐसा नहीं है। यह बात व्यवहार से भले ही कही जाती हो, पर निश्चय से यह बात सही नहीं है। इसप्रकार यहाँ यह कहा गया है कि आत्मा के और ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृतियों के परमार्थ से कर्त्ता-कर्मभाव का अभाव है; फिर भी जो बंध होता है, उसका कारण परस्पर में होनेवाला निमित्त-नैमित्तिकभाव है; संसार भी इसी से होता है। यही कारण है कि व्यवहार से इनमें कर्त्ता-कर्मभाव भी कहा जाता है।

इस बात को भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''आत्मा के और ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृतिओं के परमार्थ से कर्त्ता-कर्मभाव का अभाव है; तथापि परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव के कारण बन्ध होता है, इससे संसार है और इसी से कर्त्ता-कर्मपने का व्यवहार है।''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि यद्यपि निश्चय से आत्मा और कर्म में कर्त्ता-कर्म भाव का अभाव है; तथापि परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से दोनों के बंध होता है और इसी कारण आत्मा और कर्म में कर्त्ता-कर्म का व्यवहार प्रचलित है। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ४८

वह तो भोगों का उपासक है

वीतरागी परमात्मा का उपासक तो वीतरागता का ही उपासक होता है। लौकिक सुख (भोग) की आकांक्षा से परमात्मा की उपासना करनेवाला व्यक्ति वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान का उपासक नहीं हो सकता। वस्तुतः वह भगवान का उपासक न होकर भोगों का उपासक है।

सच्ची भक्ति के समय चित्त इतना दीन नहीं रह सकता कि वह कुछ माँग करे। माँगनेवाले के मन में भक्ति ठहर ही नहीं सकती। वीतराग की भक्ति में तो माँगना संभव ही नहीं, वीतराग का भक्त तो कुछ माँग ही नहीं सकता। जो माँगे, वह वीतराग का भक्त है ही नहीं। — **सत्य की खोज**, पृष्ठ २०

समयसार गाथा ३१४-३१५

अब इन ३१४-३१५वीं गाथाओं में यह कहते हैं कि जबतक यह आत्मा कर्मप्रकृतियों के निमित्त से उपजना-विनशना नहीं छोड़ता है; तबतक अज्ञानी रहता है, मिथ्यादृष्टि रहता है, असंयमी रहता है।

जा एस पयडीअट्ठं चेदा णेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ॥ ३१४॥
जदा विमुंचए चेदा कम्मफलमणंतयं।
तदा विमुत्तो हवदि जाणओ पासओ मुणी॥ ३१५॥

(हरिगीत)

जबतक न छोड़े आतमा प्रकृति निमित्तक परिणमन।
तबतक रहे अज्ञानि मिथ्यादृष्टि एवं असंयत॥ ३१४॥
जब अनंता कर्म का फल छोड़ दे यह आतमा।
तब मुक्त होता बंध से सद्दृष्टि ज्ञानी संयमी॥ ३१५॥

जबतक यह आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना-विनशना नहीं छोड़ता; तबतक वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, असंयत है।

जब यह आत्मा अनंत कर्मफल छोड़ता है; तब वह ज्ञायक है, ज्ञानी है, दर्शक है, मुनि है और विमुक्त है अर्थात् बंध से रहित है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं का अर्थ इसप्रकार किया गया है -

"स्व और पर के भिन्न-भिन्न निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान नहीं होने से जबतक यह आत्मा बंध के निमित्तभूत प्रकृतिस्वभाव को नहीं छोड़ता; तबतक स्व-पर के एकत्व के ज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) है, स्व-पर के एकत्व के दर्शन (एकत्वरूप श्रद्धान) से मिथ्यादृष्टि है और स्व-पर की एकत्व परिणति से असंयत है तथा तभीतक स्व और पर के एकत्व का अध्यास करने से कर्त्ता है।

जब वही आत्मा स्व और पर के भिन्न-भिन्न निश्चित स्वलक्षणों के ज्ञान से बंध के निमित्तभूत प्रकृतिस्वभाव को छोड़ देता है, तब स्व-पर के विभाग

के ज्ञान से ज्ञानी (ज्ञायक) है, स्व-पर के विभाग के दर्शन से दर्शक है और स्व-पर की विभाग परिणति से संयत है तथा तभी स्व-पर के एकत्व का अध्यास करने से अकर्त्ता है।"

उक्त गाथाओं और टीका का भाव स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं -

"जबतक यह आत्मा स्व-पर के लक्षण को नहीं जानता, तबतक वह भेदज्ञान के अभाव के कारण कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमित होता है; इसप्रकार मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयमी होकर, कर्त्ता होकर कर्म का बन्ध करता है और जब आत्मा को भेदज्ञान होता है, तब वह कर्त्ता नहीं होता; इसलिये कर्म का बन्ध नहीं करता, ज्ञाता-दृष्टारूप से परिणमित होता है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में उक्त गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति के अनुसार करते हुए भी अन्त में नयविभाग को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा शुद्धनिश्चयनय से कर्त्ता नहीं है; तथापि अनादिकालीन कर्मबंध के वश से मिथ्यात्व एवं रागादिरूप अज्ञानभाव से कर्मों को बाँधता है। इसप्रकार अज्ञान का सामर्थ्य दिखाने के लिए लिखी गई द्वितीय स्थल की चार गाथायें समाप्त हुईं।"

उक्त प्रकरण का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं -

"संसारी जीव को अनादि से ही स्व-पर के निश्चित स्व-लक्षणों का ज्ञान नहीं है। इसकारण अनादि से ही निमित्ताधीन रहा है। स्वाधीनता प्रगट हुई ही नहीं। ऐसी स्थिति में कर्मप्रकृतियों के उदयाधीन होकर उसके जो भाव होते हैं, वे नवीन कर्मबंध के कारण बनते हैं। जबतक जीव कर्मप्रकृतियों की आधीनता नहीं छोड़ता, तबतक वह स्व-पर के एकत्व के कारण अज्ञानी रहता है।

तथा स्व-पर का भेदज्ञान न होने से जबतक प्रकृतिस्वभाव को छोड़ता नहीं है, तबतक स्व-पर के एकत्व दर्शन से - एकपने की श्रद्धा से मिथ्यादृष्टि है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञानानंदस्वभावी प्रभु नित्य है तथा शुभाशुभ विकल्पों की जो विकृत वृत्तियाँ उठती हैं; वे सब कर्मप्रकृति

के स्वभाव हैं। जबतक जीव इन बंध की निमित्तभूत कर्मप्रकृति के स्वभावों को नहीं छोड़ता, तबतक स्व-पर के एकत्व श्रद्धान से मिथ्यादृष्टि है।[१]

तथा वे अज्ञानी जीव स्व-पर की एकत्व परिणति से असंयत हैं अर्थात् राग के साथ एकमेक होकर प्रवर्तन करने के कारण असंयत हैं। वे व्रती नहीं हैं, संयमी नहीं हैं, समकिती भी नहीं हैं। बिना सम्यग्दर्शन के जहाँ तक अकेली रागमय परिणति है, वहाँ तक जीव असंयत है।

इसप्रकार इस प्रकरण में तीन बातें आईं -

१. जबतक स्व-पर का ज्ञान नहीं है, तबतक अज्ञानी है।
२. स्व-पर के एकत्व श्रद्धान से जीव मिथ्यादृष्टि है।
३. स्वपरिणति को छोड़कर पुण्य-पाप की परिणतिरूप परिणमन करने के कारण वह असंयत है।[२]

अब कहते हैं कि 'तबतक ही वह पर के व अपने एकत्व के अध्यास से कर्त्ता है।'

अहा! भगवान आत्मा का तो एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है; परन्तु अज्ञानी को स्व-पर के एकत्व का अध्यास हो गया है। राग को अपना स्वभाव मानने की अज्ञानी को आदत पड़ गई है। जबतक इसे यह अध्यास रहेगा, तबतक इसे पर का कर्तृत्व रहेगा ही।[३]

स्व-पर के एकत्वरूप अध्यास के कारण ही जीव को ऐसे अकथनीय दुःख भोगने पड़े हैं। जबतक इसके स्व-पर के एकत्वरूप अध्यास है, तबतक जीव राग को अपना मानकर परद्रव्यों का एवं राग का कर्त्ता बना रहता है, यही इसके जन्म-मरणरूप दुःख का बीज है।

उपर्युक्त ज्ञायक, दर्शक एवं संयत के तीन बोलों से यह सिद्ध करते हैं कि जीव राग का अकर्ता है। 'कर्मप्रकृति के उदय से हुये भावकर्म का स्वभाव रागरूप होने से दुःखस्वरूप है। एक समय की कृत्रिम उपाधि है। इसके विपरीत मैं परमानन्दमय शुद्ध चैतन्यस्वरूप त्रिकाल निरुपाधि तत्त्व हूँ।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ५१
२. वही, पृष्ठ ५३
३. वही, पृष्ठ ५४-५५

इसप्रकार आत्मा व राग दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षणों का ज्ञान होने पर भेदज्ञान होता है। ऐसा भेदज्ञान होने पर जीव प्रकृतिजन्य विभावभावों को छोड़ देता है और स्व-पर के भेदविज्ञान से ज्ञायक हो जाता है।

ये पुण्य-पाप के भाव कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न हुये हैं, इसकारण वे प्रकृति के स्वभाव हैं, आत्मा के नहीं हैं। ऐसा जिसको अन्तर में भेदज्ञान हुआ, वह प्रकृति के स्वभाव को छोड़ देता है और तब वह स्व-पर के विभाग से ज्ञानी होता है।[१]

इसप्रकार उपर्युक्त ज्ञायक, दर्शक व संयत - इन तीन बोलों का स्पष्टीकरण हुआ।

देखो, जहाँ तक स्व-पर के एकत्व का अध्यास था, तबतक जीव अज्ञानी और कर्त्ता था, किन्तु स्व-पर के एकत्व का अध्यास दूर होने पर वह ज्ञानी होकर अकर्त्ता हो जाता है। चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा का भान होकर जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहीं वह राग का अकर्त्ता हो जाता है। भले राग विद्यमान रहे, तो भी वह उसका अकर्त्ता अर्थात् ज्ञाता ही है। बस इसी का नाम धर्म व मोक्षमार्ग है।

देखो, आत्मा का लक्षण ज्ञान है और कर्म प्रकृतियों का लक्षण राग है, बन्ध है। राग शुभ हो या अशुभ दोनों ही प्रकार का राग कर्मप्रकृति का स्वभाव है, जीव का नहीं। जीव का तो एक ज्ञानस्वभाव है। इसप्रकार जबतक दोनों को भिन्न-भिन्न नहीं जानता, तबतक जीव के भेदज्ञान का अभाव है और तभी तक वह कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमन करता है।

इसप्रकार भेदज्ञान के अभाव में जीव प्रकृति के स्वभाव रागादिरूप परिणमता है, पुण्य-पापरूप परिणमता है तथा इसीकारण मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असंयमी होता हुआ कर्त्ता होकर कर्म का बन्ध करता है।

प्रश्न : ज्ञानी के भी तो राग होता देखते हैं न? फिर उसे भी मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी व असंयमी क्यों नहीं कहा?

उत्तर : हाँ, ज्ञानी के भी राग होता है; परन्तु वह अपनी ज्ञान परिणति से भिन्न पड़ गया है। ज्ञानी इन रागादि को अपने से भिन्नपने जानता है। जैसे कि

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ५५-५६

गेहूँ में कंकड़ गेहूँ से भिन्न हैं। अज्ञानी दोनों को एकमेक करके देखता है। प्रकृति के स्वभाव को अपना स्वभाव समझकर परिणमता है। इसकारण वह मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी व असंयमी होकर कर्त्ताबुद्धि से कर्मबन्ध करता है।[१]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम - इन तीनों का एकमात्र कारण स्व और पर में एकत्व का अध्यास है। स्व और पर में भेदविज्ञान न होने से ही यह आत्मा पर का कर्त्ता बनता है। सब कुछ मिलाकर इस आत्मा के बंधन का कारण भी स्व-पर के एकत्व का अध्यास ही है।

जब यह आत्मा भेदविज्ञान के बल से इस एकत्वबुद्धि को तोड़ देता है, पर का कर्तृत्व-भोक्तृत्व छोड़ देता है तो ज्ञानी हो जाता है, सम्यग्दृष्टि हो जाता है और कालान्तर में संयमी भी हो जाता है; अन्ततः कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है।

अबतक जो बात कर्तृत्व के संबंध में कही गई, पर के कर्तृत्व छोड़ने के सन्दर्भ में कही गई; अब वही बात आगामी गाथाओं और कलश में भोक्तृत्व के सम्बन्ध में, भोक्तृत्व छोड़ने के संबंध में भी कहते हैं।

आगामी गाथाओं की उत्थानिकारूप वह कलश मूलतः इसप्रकार है -

(अनुष्टप्)

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः॥ १९६॥

(दोहा)

जैसे कर्त्तृस्वभाव नहीं वैसे भोक्तृस्वभाव।
भोक्तापन अज्ञान से ज्ञान अभोक्ताभाव॥ १९६॥

कर्तृत्व की भाँति भोक्तृत्व भी इस चैतन्य आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह आत्मा अज्ञान के कारण ही भोक्ता बनता है, अज्ञान के अभाव में वह भोक्ता नहीं रहता।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ५७-५८

(चौपाई)

यथा जीव करता न कहावै, तथा भोगता नाम न पावै।
है भोगी मिथ्यामति मांहि, गयै मिथ्यात भोगता नांहीं॥

जिसप्रकार जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है; उसीप्रकार भोक्ता भी नहीं है। जबतक मिथ्यामति है, अज्ञान है; तभीतक जीव भोगी है, मिथ्यात्व के जाने पर जीव कर्म का भोक्ता नहीं रहता।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जिसप्रकार शुभाशुभ राग का कर्तृत्व भगवान आत्मा का स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार इन भावों का भोक्तृत्व भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।

देखो, यद्यपि समकिती चक्रवर्ती के 96 हजार रानियाँ एवं छह खण्ड का राज्य व भोगोपभोग की विभूति होती है तथा उसे राज्य का एवं उस भोगोपभोग सामग्री का राग भी होता है; तथापि वह राग के भोक्तापन का जो वेदन है, वह मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसा मानता है।

जबतक जीव को राग व ज्ञान का भेदज्ञान नहीं है, तबतक अज्ञान से ही वह भोक्ता है। जब राग व आत्मा का परस्पर भेदज्ञान हो जाता है, तभी से उसके राग और हर्ष-विषाद के भावों का भोक्तृत्व छूट जाता है।

लोगों को बाहर से देखने में ऐसा लगता है कि वह भोगों को भोगता है; परन्तु वास्तव में ज्ञानी राग व हर्ष-शोक के भावों को भोगता नहीं है। अब उसके कर्तृत्व की भाँति भोक्तृत्व का अभिप्राय भी छूट गया है। अब उसे कर्तृत्व व भोक्तृत्व आदि के सभी भाव जहर की भाँति लगने लगे हैं।

अहा! अब जब ज्ञानी को द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों से अधिक अपना ज्ञानस्वभाव स्व-पने प्रतिभासित होने लगा है तो वह राग व हर्ष-शोकादि के भावों को कैसे भोग सकता है? आनंद का भण्डार ज्ञानानन्दस्वभावी निज परमात्मद्रव्य से जिसने स्नेह किया है, वह विषयादि में रति कैसे कर सकता है?[१]"

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस कलश में यही कहा गया है कि जिसप्रकार यह आत्मा पर का कर्त्ता नहीं है; उसीप्रकार उनका भोक्ता भी नहीं है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ५८-५९

यह कलश १९४ वें कलश का प्रतिरूप ही है। उस कलश में कहा था कि जिसप्रकार यह आत्मा पर का भोक्ता नहीं है, उसी कर्त्ता भी नहीं है और इसमें कहा है कि जिसप्रकार कर्त्ता नहीं है, उसीप्रकार भोक्ता भी नहीं है।

वह कलश पर के कर्तृत्व का निषेध करनेवाली गाथाओं की उत्थानिकारूप कलश था और यह कलश पर के भोक्तृत्व का निषेध करनेवाली गाथाओं का उत्थानिकारूप कलश है। ●

हास्यादि भी परिग्रह हैं

जब भी परिग्रह या परिग्रहत्याग की चर्चा चलती है —हमारा ध्यान बाह्य परिग्रह की ओर ही जाता है; मिथ्यात्व, क्रोध, मान, लोभादि भी परिग्रह है — इस ओर कोई ध्यान नहीं देता। क्रोध, मान, माया, लोभ की जब भी बात आयेगी तो कहा जायेगा कि ये तो कषायें हैं; पर कषायों का भी परिग्रह होता है — यह विचार नहीं आता।

जब जगत क्रोध-मानादि कषायों को भी परिग्रह मानने को तैयार नहीं तो फिर हास्यादि कषायों को कौन परिग्रह माने?

पाँच पापों में परिग्रह एक पाप है और हास्यादि कषायें परिग्रह के भेद हैं। पर जब हम हँसते हैं, शोकसंतप्त होते हैं, तो क्या यह समझते हैं कि हम कोई पाप कर रहे हैं या इनके कारण हम परिग्रही हैं?

बहुत से परिग्रह-त्यागियों को कहीं भी खिलखिलाकर हँसते, हड़बड़ाकर डरते देखा जा सकता है। क्या वे यह अनुभव करते हैं कि यह सब परिग्रह है?

जयपुर में लोग भगवान की मूर्तियाँ लेने आते हैं और मुझसे कहते हैं कि हमें तो बहुत सुन्दर मूर्ति चाहिये, एकदम हँसमुख। मैं उन्हें समझाता हूँ कि भाई! भगवान की मूर्ति हँसमुख नहीं होती। हास्य तो कषाय है, परिग्रह है और भगवान तो अकषायी, अपरिग्रही हैं; उनकी मूर्ति हँसमुख कैसे हो सकती है? भगवान की मूर्ति की मुद्रा तो वीतरागी शान्त होती है।

— धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १३७

समयसार गाथा ३१६

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि॥ ३१६॥

(हरिगीत)

प्रकृतिस्वभावस्थित अज्ञानी कर्मफल को भोगते।
पर ज्ञानिजन तो कर्मफल को जानते ना भोगते॥ ३१६॥

अज्ञानी प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहता हुआ कर्मफल को वेदता है, भोगता है और ज्ञानी तो उदय में आये हुए कर्मफल को मात्र जानता है, भोगता नहीं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"शुद्धात्मा के ज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानी स्व-पर के एकत्व के ज्ञान से, स्व-पर के एकत्व के दर्शन से और स्व-पर की एकत्व परिणति से प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से प्रकृति के स्वभाव को भी अहंरूप से अनुभव करता हुआ कर्मफल को भोगता है और ज्ञानी शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव के कारण स्व-पर के विभाग ज्ञान से, स्व-पर के विभाग दर्शन से और स्व-पर की विभाग परिणति से प्रकृति के स्वभाव से निवृत्त होने से शुद्धात्मा के स्वभाव को ही अहंरूप से अनुभव करता हुआ उदित कर्मफल को उसकी ज्ञेयमात्रता के कारण मात्र जानता ही है, अहंरूप से अनुभव में आना अशक्य होने से उसे भोगता नहीं।"

उक्त कथन का आशय स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं -

"अज्ञानी को तो शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं है; इसलिये जो कर्म उदय में आता है, उसी को वह निजरूप जानकर भोगता है और ज्ञानी को शुद्ध आत्मा का अनुभव हो गया है; इसलिये वह उस प्रकृति के उदय को अपना स्वभाव नहीं जानता हुआ उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है; भोक्ता नहीं होता।"

आचार्य जयसेन इस गाथा का अर्थ करते हुए भेदविज्ञान को अभेदरत्नत्रय के रूप में परिभाषित करते हैं और भोगने का अर्थ तन्मय होकर भोगना करते हैं। उनके द्वारा किया गया अर्थ मूलत: इसप्रकार है -

"विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावरूप आत्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप अभेदरत्नत्रयस्वरूप भेदज्ञान के अभाव से अज्ञानी जीव उदयागतकर्मप्रकृतिस्वभावरूप सुख-दुख में स्थित होकर हर्ष-विषाद के साथ तन्मय होकर कर्मफल का अनुभव करता है और सम्यग्ज्ञानी जीव तन्मय होकर भी पूर्वोक्त भेदज्ञान के सद्भाव से वीतरागसहजपरमानन्दरूप सुखरस के आस्वाद से परमसमरसीभाव से परिणत होता हुआ उदय में आये हुए कर्मफल को वस्तुस्वरूप से जानता ही है, हर्ष-विषादमयता से तन्मय होकर नहीं भोगता।"

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं —

"भगवान आत्मा केवल आनन्द का दल है। अपने ऐसे ध्रुवस्वरूप की पहचान न होने से अज्ञानी को अनादि से स्वरूप का अज्ञान है। इस कारण अज्ञानवश राग को अपनास्वरूप मानता हुआ अपने व पर के एकत्व ज्ञान से, स्व-पर के एकत्व दर्शन से और स्व-पर की एकत्व परिणति से कर्मप्रकृति के स्वभाव में रचा-पचा रहता है।

भाई! ये पुण्य-पाप के जो भी भाव होते हैं, वे कर्मप्रकृति के स्वभाव हैं। अहा! अज्ञानी कर्मप्रकृति के स्वभाव में रचा-पचा प्रकृति के स्वभाव को ही अपनेपने अनुभव करता हुआ कर्ममल का ही वेदन करता है, उसे ही भोगता है।[१]

अब कहते हैं कि ज्ञानी अर्थात् भेदविज्ञानी, आत्मानुभवी, जिसे अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूपी आत्मा का आस्वादन हो रहा है; वह अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव से अभिन्न और पर से भिन्न अनुभवता है।[२]

यहाँ **प्रश्न** है कि क्या ज्ञानी के हर्ष-शोक का वेदन बिल्कुल नहीं होता?

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ६१
२. वही, पृष्ठ ६२

उत्तर : ज्ञानी के हर्ष-शोक का वेदन बिल्कुल भी नहीं होता - ऐसा नहीं है, उसे किंचित् हर्ष-शोक का वेदन है, परन्तु उसे अंतरंग में स्वभाव की अधिकता है, मुख्यता है। अत: वह स्वभाव को मुख्य और राग के वेदन को गौण मानकर राग के वेदन में तन्मय नहीं होता। उसके किंचित् राग का परिणमन है; जितना परिणमन है, उतना वेदन भी है; परन्तु उसे व्यवहार मानकर असत्यार्थ कहकर 'उसे वेदन है ही नहीं' — ऐसा कह दिया है। ज्ञानी कर्मफलरूप हर्ष-शोक को और आत्मस्वभाव को - इसप्रकार दोनों को नहीं, किन्तु अकेले आत्मस्वभाव को ही अपनेपने या निजरूप से अनुभव करता है। — यहाँ यह सिद्ध करना है।

प्रवचनसार में अन्तिम ४७ नयों का अधिकार है। वहाँ ज्ञानी के कर्तानय व भोक्तानय कहे हैं। वहाँ कहा है कि 'आत्मद्रव्य कर्तृनय से रंगरेज की भाँति रागादि परिणामों का कर्त्ता है तथा आत्मद्रव्य भोक्तृनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भाँति सुख-दु:खादि का भोगनेवाला है।'

अहा! ज्ञानी जितने व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप महाव्रतादि के विकल्परूप से परिणमता है, उतने परिणामों का वह कर्तानय से कर्त्ता है। उसीप्रकार जितना हर्षभाव आ जाता है, उतने परिणामों का वह भोक्तानय से भोक्ता है। 'ये परिणाम करने व भोगने लायक हैं' — ऐसी कर्तृत्वबुद्धि व सुखबुद्धि ज्ञानी के नहीं होती। वर्तमान अस्थिरता से करने व भोगने के परिणाम होते हैं, इसकारण उसे कर्त्ता व भोक्ता कहते है। - यहाँ यह बात नहीं है। यहां तो यह कहा है कि ज्ञानी उदित कर्मफल को मात्र जानता ही है, उनमें 'मैं' पने का अनुभव अशक्य होने से उन्हें वेदता नहीं है अहाहा...! ज्ञानी हर्ष-शोक के परिणामों का भोक्ता नहीं है; क्योंकि उसके द्वारा हर्ष-शोक के परिणामों को उनमें 'मैं' पने अनुभवना अशक्य है अर्थात् ज्ञेयमात्र होने से ज्ञानी कभी भी उनमें अपनापन अनुभव नहीं कर सकता।[१]

पर का व जड़ पदार्थों का भोग ज्ञानी व अज्ञानी - किसी के भी नहीं होता। हाँ, अज्ञानी कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न हुये अपने विकार को भोगता है और

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ६२-६३

ज्ञानी के अन्तर में भेदज्ञान हो गया है, उसकी अन्तर्दृष्टि में स्वभाव-विभाव तथा स्व-परिणति व पर-परिणति का विभाग पड़ गया है। इसकारण वह निराकुल आनन्द को स्व-पने वेदता है तथा कर्मप्रकृति के उदय से उत्पन्न हुये विकारी स्वभाव को छोड़ देता है अर्थात् उस विकार को 'स्व' पने अनुभवता नहीं है।

इसप्रकार ज्ञानी कर्मफल का ज्ञाता-दृष्टा रहता है, भोक्ता नहीं होता।[१]''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि अज्ञानी कर्मफल का भोक्ता बनता है; किन्तु ज्ञानी कर्मफल का भोक्ता कदापि नहीं है।

इसी भाव की पुष्टि निम्नांकित कलश में भी की गई है -

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको।
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां।
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता॥१९७॥

(रोला)

प्रकृतिस्वभावरत अज्ञानी हैं सदा भोगते।
प्रकृतिस्वभाव से विरत ज्ञानिजन कभी न भोगें॥
निपुणजनो! निजशुद्धातममय ज्ञानभाव को।
अपनाओ तुम सदा त्याग अज्ञानभाव को॥ १९७॥

प्रकृति के स्वभाव में लीन होने से अज्ञानी सदा वेदक है और प्रकृति के स्वभाव से विरक्त होने से ज्ञानी कदापि वेदक नहीं है। हे निपुणपुरुषों! इस नियम का विचार करके अज्ञानीपन छोड़ दो और एक शुद्धतेजमय आत्मा में निश्चल होकर ज्ञानीपने का सेवन करो।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ६५

(सवैया इकतीसा)

जगवासी अग्यानी त्रिकाल परजाइबुद्धी,
सो तौ विषै भोगनि कौ भोगता कहायौ है।
समकिती जीव जोग भोग सौं उदासी तातैं,
सहज अभोगता गरंथनि मैं गायौ है॥
याही भांति वस्तु की व्यवस्था अवधारि बुध,
परभाउ त्यागि अपनौ सुभाउ आयौ है।
निरविकलप निरुपाधि आतम अराधि,
साधि जोग जुगति समाधि मैं समायौ है॥

त्रिकालपर्यायबुद्धिवाले जगवासी अज्ञानी जीव तो विषयभोगों के भोक्ता कहे जाते हैं और विषयभोगों से उदास सम्यग्दृष्टि ज्ञानी भोगों से उदासी के कारण शास्त्रों में सहज ही अभोक्ता कहे गये हैं। इसप्रकार की वस्तुव्यवस्था का, वस्तुस्वरूप का निर्णय करके ज्ञानी जीव परभावों का त्याग करके अपने स्वभाव में आ जाते हैं और निरुपाधि आत्मा की निर्विकल्प आराधना करके, योगों को साधकर समाधि में समा जाते हैं।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"पुण्य-पाप आदि शुभाशुभभाव आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, किन्तु जड़प्रकृति के स्वभाव हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव कर्मप्रकृति के स्वभाव हैं। अज्ञानी इन प्रकृति के उदय के निमित्त से हुये भावों को अपना स्वभाव जानता है, इसकारण वह उनका वेदक है, भोक्ता है। जबकि धर्मी जीव को स्व-पर का भेदज्ञान हो गया है। वह जानता है कि मैं परम आनन्दमय शुद्ध ज्ञायकतत्त्व हूँ तथा ये पुण्य-पाप के भाव मुझसे भिन्न आस्रवतत्त्व हैं। इसप्रकार दोनों में भेदज्ञान होने से धर्मी जीव कर्मप्रकृति के स्वभाव से विराम पा लेता है। वह विकार का वेदक नहीं होता। यद्यपि उसे व्रत, तप, भक्ति, यात्रा आदि के भाव आते हैं; परन्तु वह अन्तर में उनसे विरक्त है, उदासीन है। इसकारण वह विकार का भोक्ता भी नहीं हैं।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ६६

कहीं-कहीं ऐसा कथन भी मिलता है कि ज्ञानी के आनन्दधारा व रागधारा - दोनों एक साथ वर्तती हैं। एक ही समय में आनन्द व दु:ख का वेदन एक साथ होता है; परन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो दु:ख के वेदन को गौण करके उसे व्यवहार मानकर असत्यार्थ जानकर हटा दिया है। इसकारण यहाँ कहा है कि ज्ञानी प्रकृति के स्वभाव का वेदक नहीं है।

'ज्ञानी के सर्वथा दु:ख का वेदन होता ही नहीं है' यदि ऐसा कोई कहे तो उसका यह कहना भी सही नहीं है। देखो, छठवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिवरों को अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्व-संवेदन होता है, तथापि जितना अल्प राग है, उतना दु:ख का वेदन भी है; परन्तु यहाँ तो दृष्टि की अपेक्षा बात है। दृष्टि की प्रधानता में दु:ख का वेदन नहीं है - ऐसा कहा है। भाई! अपेक्षा समझे बिना यदि कोई एकान्त से खेंच करे तो वह जिनागम का मार्ग नहीं है।[१]

देखो, यहाँ पर वस्तु को छोड़ने की बात नहीं कही; क्योंकि पर का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में त्रिकाल है ही नहीं। यहाँ तो जिस राग को अज्ञानी ने अपना मानकर अज्ञानपने का पोषण किया, उस अज्ञान को छोड़कर राग में अपनापने के वेदन को छोड़कर एक शुद्ध आत्ममय तेज में निश्चल होकर ज्ञानीपने का सेवन करो, निराकुल आनंद का अनुभव करो - यह कहा है।[२]''

इसप्रकार इस कलश में पर के भोगने के भावरूप अज्ञानीपन को छोड़ने और सहज ज्ञाता-दृष्टाभावरूप ज्ञानीपन को अपनाने की प्रेरणा दी गई है।

३१६वीं गाथा के बाद एक गाथा तात्पर्यवृत्ति में आती है, जो आत्मख्याति में ३०५वीं गाथा के रूप में पहले ही आ चुकी है और उसका अनुशीलन यथास्थान हो ही चुका है। अत: यहाँ उसके संबंध में कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ६६
२. वही, पृष्ठ ६७

समयसार गाथा ३१७-३१८

अब आगामी गाथाओं में यह सुनिश्चित करते हैं कि अज्ञानी विषय-भोगों का भोक्ता है और ज्ञानी भोक्ता नहीं है, अभोक्ता ही है।

गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं —

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥ ३१७॥
णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेदि।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होइ॥ ३१८॥

(हरिगीत)

गुड़-दूध पीता हुआ भी निर्विष न होता सर्प ज्यों।
त्यों भलीभाँति शास्त्र पढ़कर अभवि प्रकृति न तजे॥ ३१७॥
निर्वेद से सम्पन्न ज्ञानी मधुर-कड़वे नेक विध।
वे जानते हैं कर्मफल को हैं अवेदक इसलिए॥ ३१८॥

जिसप्रकार गुड़ से मिश्रित मीठे दूध को पीते हुये भी सर्प निर्विष नहीं होते; उसीप्रकार शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन करके भी अभव्य जीव प्रकृतिस्वभाव नहीं छोड़ता।

किन्तु अनेकप्रकार के मीठे-कड़वे कर्मफलों को जानने के कारण निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त ज्ञानी उनका अवेदक ही है।

इन गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति में इसप्रकार किया गया है —

"जिसप्रकार इस जगत में सर्प स्वयं तो विषभाव को छोड़ता ही नहीं है; किन्तु विषभाव को मिटाने में समर्थ मिश्री से मिश्रित दुग्ध के पीने-पिलाने पर भी विषभाव को नहीं छोड़ता है; उसीप्रकार अभव्यजीव भी स्वयं तो प्रकृतिस्वभाव को छोड़ता ही नहीं है; किन्तु प्रकृति को छुड़ाने में समर्थ द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी प्रकृतिस्वभाव को नहीं छोड़ता है; क्योंकि उसे भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव के कारण सदा ही अज्ञानीपन है।

इसकारण यह नियम ही है कि अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव में स्थिर होने से वेदक ही है, कर्मों को भोगता ही है।

निरस्त हो गये हैं समस्त भेद जिसमें ऐसे अभेद भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण ज्ञानी तो पर से अत्यन्त विरक्त होने से प्रकृति के स्वभाव को स्वयमेव ही छोड़ देता है; इसकारण उदयागत अमधुर या मधुर कर्मफल को ज्ञातापने के कारण मात्र जानता ही है; किन्तु ज्ञान के होने पर भी परद्रव्य को अपनेपन से अनुभव करने की अयोग्यता होने से उस कर्मफल को वेदता नहीं है, भोगता नहीं है। इसलिए ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है, अभोक्ता ही है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति के समान ही करते हैं। साथ में यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति ही निर्वेद है और आत्मानुभवी ज्ञानी निर्वेद से सम्पन्न होते हैं।

अन्त में निष्कर्ष निकालते हुए लिखते हैं कि इसप्रकार शुद्धनिश्चयनय से सम्यग्ज्ञानी जीव शुभाशुभकर्मफल के भोक्ता नहीं हैं।

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

''देखो, जिसतरह सर्प मिश्री मिला हुआ मीठा दूध पीकर भी विषभाव को नहीं छोड़ता, उसीप्रकार अभव्य जीव ग्यारह अंग व नौ पूर्व का ज्ञान हो जाने पर भी मिथ्यात्वादि भावों को नहीं छोड़ता; क्योंकि उसके सदा ही भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानीपना है।[१]

यहाँ अभव्य का तो दृष्टान्त कहा है। भव्यजीव भी अनेक शास्त्रों (द्रव्यश्रुत) का अध्येता होकर भी जबतक निर्मल भावश्रुतज्ञान प्रगट नहीं करता, तबतक अज्ञानीपने के कारण भोक्ता ही है।[२]

पूर्णानंद का नाथ निर्विकल्प अचिन्त्य परम पदार्थ भगवान आत्मा भावश्रुतज्ञान में स्वज्ञेयपने से ज्ञात होता है। ऐसे अखण्ड आत्मा को जाननेवाले भावश्रुतज्ञान का ज्ञानी के सद्भाव होने से वह पर से अर्थात् रागादिभावों से

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ६९
२. वही, पृष्ठ ७०

सर्वथा विरक्त है। इसप्रकार पर से अत्यन्त विरक्त होने से ज्ञानी कर्म के उदय के स्वभाव को अर्थात् हर्ष-शोक, रति-अरति आदि भावों को स्वयमेव छोड़ देता है।[१]

अन्तर में भगवान आत्मा अमृत का सागर है। उसमें जो स्वभाव के विपरीत रागादिभाव होते हैं, वे सब जहर हैं, दु:ख हैं। अज्ञानी जीव शुभाशुभभावों में अटक कर निरंतर इसी जहर का स्वाद वेदता है, जबकि धर्मी जीव उदय में आते हुये अमधुर या मधुर फल को ज्ञातापन के कारण मात्र जानता ही है। शुभभावों में हर्ष होना मधुर स्वाद है, वस्तुत: तो यह मधुर स्वाद भी जहर का ही स्वाद है तथा अशुभभावों में जो हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-वासना, काम-क्रोधादि भाव होते हैं, वे सब अमधुर-कड़वे स्वाद हैं; परन्तु धर्मी जीव तो इन दोनों का ज्ञाता-दृष्टा ही है, वेदक नहीं है; क्योंकि शुद्ध आत्मा का ज्ञान होने पर द्रव्य को 'मैं' पने अनुभव करने की योग्यता है। इसलिये ज्ञानी कर्मप्रकृति के स्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है। हर्ष-शोक व सुख-दु:ख के भावों का ज्ञाता ही है, वेदक नहीं है।[२]

ज्ञानी स्वयमेव तो कर्मप्रकृति के स्वभाव को भोगता नहीं है और उदय की बलजोरी से परवश हुआ अपनी निर्बलता से भोगता है तो परमार्थ से वह उनका भोक्ता नहीं कहलाता है। इसलिये ज्ञानी अभोक्ता ही है।[३]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जिसप्रकार सर्प न तो स्वयं ही विष को छोड़ता है और न मीठा दूध पिलाने पर ही छोड़ता है; उसीप्रकार अज्ञानी न तो स्वयं मिथ्यात्व रागादिरूप कर्मप्रकृति के स्वभाव को छोड़ता है और न शास्त्रों का अध्ययन करने के उपरान्त ही छोड़ता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीवों को शास्त्राध्ययन से भी कोई विशेषलाभ नहीं होता; क्योंकि उनके भावश्रुतज्ञान का अभाव है। इसकारण वे कर्मफल के भोक्ता हैं; किन्तु आत्मानुभवरूप भावश्रुतज्ञान के सद्भाव के कारण ज्ञानीजन कर्मफल के मात्र ज्ञाता ही हैं, कर्त्ता-भोक्ता नहीं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ७४
२. वही, पृष्ठ ७४-७५
३. वही, पृष्ठ ७५

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है —

(वसन्ततिलका)

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा—
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥१९८॥

(सोरठा)

निश्चल शुद्धस्वभाव, ज्ञानी करे न भोगवे।
जाने कर्मस्वभाव, इस कारण वह मुक्त है॥१९८॥

ज्ञानीजीव कर्म को न तो करता ही है और न भोगता ही है। इसप्रकार करने और भोगने के अभाव के कारण तथा मात्र जानने के कारण शुद्धस्वभाव में निश्चल रहता हुआ वह ज्ञानी वस्तुतः मुक्त ही है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने दो छन्दों में किया है; जो इसप्रकार हैं —

(सवैया इकतीसा)

चिनमुद्राधारी ध्रुव धर्म अधिकारी गुन,
रतन भंडारी अपहारी कर्म रोग कौ।
प्यारौ पंडितन कौं हुस्यारौ मोख मारग मैं,
न्यारौ पुद्गल सौं उज्यारौ उपयोग कौ॥
जानै निज पर तत्त रहै जग मैं विरत्त,
गहै न ममत्त मन वच काय जोग कौ।
ता कारन ग्यानी ग्यानावरनादि करम कौ,
करता न होइ भोगता न होइ भोग कौ॥

(दोहा)

निरभिलाष करनी करै, भोग अरुचि घट मांहि।
तातैं साधक सिद्धसम, करता भुगता नांहि॥

चैतन्यमुद्रा का धारी, ध्रुवधर्म का अधिकारी, गुणरूपी रत्नों का भंडारी, कर्मरूपी रोग का अपहरण करनेवाला, पंडितों का प्यारा, मुक्ति मार्ग में चलने

में होशियार, परपुद्गलों से भिन्न, ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग से प्रकाशित ज्ञानी जीव निज-पर तत्त्व का जानकार होने से, संसार से विरक्त होने से, मन-वच-काय से ममत्व न रखने से ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता नहीं होता है और न भोगों का भोक्ता ही होता है।

बिना अभिलाषा के कार्य करने के कारण और अन्तर में भोगों में अरुचि होने के कारण वह साधक ज्ञानी जीव सिद्धों के समान कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। अतः वह सिद्ध के समान ही है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि मूल कलश में तो ऐसा कहा है कि **'स हि मुक्त एव** — वह मुक्त ही है' तथा आपने भी पद्यानुवाद में **मुक्त है** ही लिखा है; किन्तु बनारसीदासजी **मुक्त** न लिखकर **सिद्धसम** लिखते हैं — इसका कारण क्या है?

अरे भाई! हम यह बात अनेक बार कह चुके हैं कि बनारसीदासजी लगभग सर्वत्र ही पाण्डे राजमलजी की कलश टीका का अनुकरण करते हैं। यहाँ भी ऐसा ही हुआ है; क्योंकि कलश टीका में **मुक्त एव** का अर्थ **सिद्धसम** ही किया है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि इस कलश के अर्थ में कर्म शब्द का अर्थ पाण्डे राजमलजी ने रागादि अशुद्ध परिणाम और सुख-दुःख आदि किया है और कहा है कि ज्ञानी रागादि का कर्त्ता नहीं है और सांसारिक सुख-दुःख आदि का भोक्ता नहीं है; जबकि बनारसीदासजी कहते हैं कि ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता नहीं है और भोगों का भोक्ता नहीं है। पाण्डे राजमलजी ने जीव के अशुद्ध परिणामों के कर्तृत्व और सुख-दुःखादि भावों के भोक्तृत्व का निषेध किया है तो बनारसीदासजी ने ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के कर्तृत्व और भोगसामग्री (नोकर्म) के भोक्तृत्व का निषेध किया है। जबकि पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने ज्ञानी जीव कर्म का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है — इतना कहकर ही काम चला लिया है। वस्तुतः बात यह है कि ज्ञानी जीव न तो द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है और भावकर्मों का; इसीप्रकार न तो रागादि का भोक्ता है और न भोगसामग्री का। वह तो इन सभी का सहज ज्ञाता-दृष्टा ही है।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"जीव अनादि से कर्मों का कर्त्ता होकर दु:ख के मार्ग में भटक रहा था। अब उसने स्वानुभव करके सुख का मार्ग अपनाया है। वह अब ज्ञानी होकर कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं रहा। अब उसे आनन्दस्वरूप निज आत्मद्रव्य का भान हुआ है। अत: वह अब दु:ख के भाव को नहीं वेदता। जो किंचित् राग का भाव है, उसको वह मात्र जानता ही है, वेदता नहीं है। कर्म के स्वभाव को व पुण्य-पाप आदि भाव को धर्मी पुरुष केवल जानता ही है, उन्हें करता व भोगता नहीं है। ज्ञानी को दया, दान, भक्ति, पूजा आदि के भाव आते अवश्य हैं; परन्तु वह उनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता। धर्मी अतीन्द्रिय आनंद में रत है व राग से विरक्त है। इसकारण राग में मिले बिना जो अल्पराग होता है, उसे केवल जानता ही है।[१]

ऐसा धर्मी पुरुष शुद्धस्वभाव में निश्चल वस्तुत: मुक्त ही है। जिसने स्वभाव में एकत्व किया है, वह वस्तुत: मुक्त ही है। जिसतरह सिद्ध भगवान राग से सर्वथा मुक्त हैं; उसीतरह दृष्टि की प्रधानता से ज्ञानी राग से मुक्त ही है; क्योंकि ज्ञानी के राग का कर्तृत्व व भोक्तृत्व नहीं है। धर्मी जीव राग का कर्त्ता भी नहीं एवं भोक्ता भी नहीं है; इसलिये वह मुक्त ही है।

देखो, ज्ञानी के कर्म उदय में आते हैं और निर्बलतावश उसे किंचित् राग भी होता है; परन्तु वह उसका ज्ञाता ही रहता है। जहाँ तक निर्बलता है, वहाँ तक कर्म का जोर है; परन्तु स्वरूप का उग्र आश्रय करके सबलता बढ़ाता हुआ ज्ञानी शेष कर्मों का समूल नाश करेगा ही; क्योंकि अंतरंग में आनन्द का नाथ भगवान आत्मा पूर्ण स्वभाव से भरा है, अनंतबल का स्वामी है। अत: निज स्वभाव का उग्र आश्रय करके नियम से संपूर्ण कर्मों का नाश करेगा ही। इसप्रकार ज्ञानी मात्र शुद्धस्वभावरूप होता हुआ मुक्त ही है।

देखो ! आचार्य कहते हैं कि भगवान आत्मा ज्ञान का सागर है, जिसको उस ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव हुआ है, वह ज्ञानी है। वह ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है 'मैं तो चेतनामात्र स्वभाव से भरा भगवान हूँ, कर्मचेतना से रहित

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ७६

हूँ। पुण्य-पाप आदि भाव मेरा स्वरूप नहीं हैं; क्योंकि राग में मेरा एकत्व नहीं है।' बस इसीकारण ज्ञानी राग का अकर्त्ता है।[१]

ज्ञानी कर्मफलचेतनारहित होने से स्वयं अवेदक भी है। विकार का अर्थात् हर्ष-शोक का एवं सुख-दु:ख का चेतनापना ही कर्मफल चेतना है। विकारी परिणाम के फल का वेदन ही कर्मफलचेतना है। धर्मी जीव कर्मफलचेतना से रहित है। इसकारण वह अवेदक है। अहा! निजघर में अकेला ज्ञान व आनन्द भरा हुआ है, ज्ञानी उसका वेदन करनेवाला है। निराकुल आनन्द के वेदन में पड़ा हुआ ज्ञानी विकाररूप जहर का स्वाद कैसे ले सकता है? क्यों ले? इसप्रकार कर्मफलचेतनारहित होने से ज्ञानी उनका अभोक्ता ही है। दया, दान, भक्ति आदि के भाव ज्ञानी के होते हैं; परन्तु वह उनका भोक्ता नहीं है।

इसप्रकार ज्ञानी कर्मों का कर्त्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है।[२]

ज्ञानचेतनामय होने के कारण ज्ञानी मात्र ज्ञाता ही है; अत: शुभाशुभ कर्मबन्धन को व कर्म के फल को केवल जानता ही है।

सारांश रूप में देखें तो उपर्युक्त कथन में मुख्यत: 3 बातें कही गई हैं —

१. ज्ञानी कर्मचेतनारहित होने से अकर्त्ता है, रागादि का कर्त्ता नहीं है।

२. ज्ञानी कर्मफलचेतनारहित होने से अवेदक है, कर्मफल का — सुख-दु:खादि का भोक्ता नहीं है।

३. ज्ञानी ज्ञानचेतनामय होने से केवल ज्ञाता ही है, शुभाशुभ कर्मों व कर्मफलों को केवल जानता ही है।

इसप्रकार ज्ञानी-धर्मी पुरुष साक्षीपने से मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है।[३]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि ज्ञानी कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित होने के कारण कर्मों का कर्त्ता और उनके फल का भोक्ता नहीं है; किन्तु ज्ञानचेतना से सम्पन्न होने के कारण सभी का सहज ज्ञाता-दृष्टा ही है।

अब इसी बात को गाथाओं द्वारा दृढ़ करते हैं। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ७७
२. वही, पृष्ठ ७८
३. वही, पृष्ठ ७८

समयसार गाथा ३१९-३२०

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को इन ३१९-३२० वीं गाथाओं में कहते हैं, जो इसप्रकार हैं —

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च॥ ३१९॥
दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥ ३२०॥

(हरिगीत)

ज्ञानी करे-भोगे नहीं बस सभी विध-विध करम को।
वह जानता है कर्मफल बंध पुण्य एवं पाप को॥ ३१९॥
ज्यों दृष्टि त्यों ही ज्ञान जग में है अकारक अवेदक।
जाने करम के बंध उदय अर मोक्ष एवं निर्जरा॥ ३२०॥

अनेकप्रकार के कर्मों को न तो ज्ञानी करता ही है और न भोगता ही है; किन्तु पुण्य-पापरूप कर्मबंध को और कर्मफल को मात्र जानता ही है।

जिसप्रकार दृष्टि (नेत्र) दृश्य पदार्थों को देखती ही है, उन्हें करती-भोगती नहीं है; उसीप्रकार ज्ञान भी अकारक व अवेदक है और बंध, मोक्ष, कर्मोदय और निर्जरा को मात्र जानता ही है।

तात्पर्य यह है कि नेत्र के समान ज्ञान भी पर का कर्त्ता-भोक्ता नहीं, मात्र ज्ञाता ही है।

उक्त गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है —

"ज्ञानी कर्मचेतना से रहित होने से स्वयं अकर्त्ता और कर्मफलचेतना से रहित होने से स्वयं अभोक्ता है; इसलिए वह न तो कर्मों को करता ही है और न भोगता ही है; किन्तु ज्ञानचेतनामय होने से शुभ या अशुभ कर्मबंध को और शुभ या अशुभ कर्मफल को मात्र जानता ही है।

जिसप्रकार इस जगत में दृष्टि (नेत्र) दृश्यपदार्थों से अत्यन्त भिन्न है और इसीकारण वह दृश्य पदार्थों को करने और भोगने में भी पूर्णत: असमर्थ है। इसप्रकार वह दृष्टि (नेत्र) दृश्यपदार्थों को न तो करती ही है और न भोगती ही है।

यदि ऐसा नहीं मानें तो जिसप्रकार जलानेवाला पुरुष अग्नि को जलाता है और लोहे का गोला अग्नि की उष्णता को भोगता है; उसीप्रकार दृष्टि अर्थात् नेत्र को भी दिखाई देनेवाली अग्नि को जलाना चाहिए और उसकी उष्णता का अनुभव भी करना चाहिए, उसे भोगना भी चाहिए; पर ऐसा नहीं होता; अपितु अग्नि को देखनेवाला नेत्र मात्र उसे देखता ही है, जलाता नहीं और जलन का अनुभव भी नहीं करता।

इसीप्रकार ज्ञान भी ज्ञेयपदार्थों से अत्यन्त भिन्न है और इसीकारण वह ज्ञेयपदार्थों को करने और भोगने में पूर्णत: असमर्थ है। इसकारण वह ज्ञान ज्ञेयपदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है; किन्तु ज्ञेयों को जानने के स्वभाववाला होने से वह ज्ञान ज्ञेयरूप कर्मबंध, कर्मोदय, निर्जरा एवं मोक्ष को मात्र जानता ही है; उनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।''

आचार्य जयसेन इस ३१९वीं गाथा की व्याख्या करते समय ज्ञानी के साथ निर्विकल्पसमाधि में स्थित विशेषण का प्रयोग करते हैं और नहीं भोगने का अर्थ तन्मय होकर नहीं भोगना करते हैं। तथा वे सर्वत्र नय का प्रयोग तो करते ही हैं। यहाँ भी लिखते हैं कि निश्चयनय से कर्मों को न तो करते हैं और न तन्मय होकर भोगते ही हैं।

३२०वीं गाथा की टीका में वे लिखते हैं कि न केवल दृष्टि अपितु क्षायिकज्ञान भी निश्चयनय से कर्मों का अकारक और अवेदक ही है। अन्त में निष्कर्ष के रूप में लिखते हैं कि सर्वविशुद्धपरमपारिणामिकभावग्राहक शुद्धोपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व, बंध-मोक्षादि कारणपरिणामों से रहित है। यहाँ यही सूचित किया गया है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि आत्मख्याति में **संधुक्षण** शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ होता है सुलगना, प्रज्वलित होना। इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं —

वस्तु संधुक्षणं पुरुषवत्, जिसका अर्थ होता है अग्नि प्रज्वलित करनेवाला पुरुष।

इसी बात को ध्यान में रखकर हमने यहाँ जलानेवाला पुरुष शब्द का प्रयोग किया है।

स्वामीजी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं —

"हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना आदि अशुभ राग तथा दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभराग का जो कर्तृत्व है, वह कर्मचेतना है। ज्ञानी इस कर्मचेतना से रहित होता है, इसकारण वह अकर्ता है।[१]

विकार अर्थात् हर्ष-शोक का, सुख-दुःख का जो वेदन होता है, वह कर्मफलचेतना है। विकारी परिणामों के फल का वेदन करना कर्मफलचेतना है। धर्मी (समकिती) जीव कर्मफलचेतना से रहित होते हैं। इसकारण वे अवेदक हैं।[२]

इसप्रकार कर्मफलचेतना से रहित होने से ज्ञानी अभोक्ता ही है।

चिद्ब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा का एक ज्ञाता-दृष्टास्वभाव है। स्व व पर को जानने का स्वभाव है। ज्ञानी मात्र ज्ञानचेतनामय होने से केवल स्व-पर का ज्ञाता ही है। ज्ञानी शुभाशुभ कर्मबन्ध को तथा कर्मफल को मात्र जानता ही है।[३]

भगवान आत्मा का तो ज्ञानस्वभाव है, रागादि और शरीरादि पर को करने एवं भोगने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। जैसे नेत्र अग्नि को देखते हैं; परन्तु उसरूप परिणमित नहीं होते, स्वयं उष्णरूप हुये लोहपिण्ड की भाँति आँख उष्ण नहीं होती।

इसीतरह आत्मा, जिसका कि एक ज्ञायकस्वभाव है, वह पुण्य व पाप के भावों को करता नहीं है, वेदता भी नहीं है; क्योंकि पर व राग का कर्त्ता-भोक्तापना ज्ञानस्वभाव के है ही नहीं।[४]

देखो, यहाँ शुद्धरूप से परिणमित हुये जीव की बात है। यहाँ शुद्धज्ञान को गुणरूप से ग्रहण किया है तथा शुद्धज्ञान परिणत जीव को द्रव्यरूप से ग्रहण

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ७९-८०
२. वही, पृष्ठ ८०
३. वही, पृष्ठ ८०
४. वही, पृष्ठ ८४

किया है। मैं एक शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ — जिसके अपने अन्तर में ऐसा शुद्ध ज्ञानमय परिणमन हुआ है, वह जीव शुद्ध उपादानरूप से दया, दान, व्रत आदि रागरूप भावों का कर्त्ता नहीं है तथा उन्हें वेदता भी नहीं है; क्योंकि आत्मा का शुद्ध उपादान तो शुद्ध एवं चैतन्यमय ही है।

यहाँ मुख्यत: दो बातें कही गई हैं —

१. त्रिकाली ज्ञानगुण दया, दान आदि राग को (विकल्प को) करता व वेदता नहीं है।

२. इसीप्रकार शुद्धज्ञान परिणत जीव भी राग को करता व वेदता नहीं है।[१]

'दिट्ठी खयं पि णाणं' अर्थात् मात्र दृष्टि ही नहीं, किन्तु क्षायिकज्ञान भी — निश्चय से कर्मों का अकारक एवं अवेदक है। जिसप्रकार नेत्र पर को करते एवं भोगते नहीं हैं, वरन् मात्र जानते ही हैं; उसीप्रकार क्षायिकज्ञान और ज्ञान परिणत जीव भी दया-दान आदि विकल्पों को करता नहीं है और वेदता भी नहीं है।

देखो, पहले दो बोलों में द्रव्यदृष्टि पर जोर दिया है। अब यहाँ क्षायिकज्ञान की बात करते हैं। जैसा शक्तिरूप सर्वज्ञपना है, वैसा ही पर्याय में भी जो सर्वज्ञपना प्रगट हुआ, वह क्षायिकज्ञान है। वह क्षायिकज्ञान भी निश्चय से राग का अकारक एवं अवेदक है। अहा ! सर्वज्ञ परमात्मा के जो योग का कम्पन होता है, उसके भी सर्वज्ञ परमात्मा अकारक व अवेदक हैं।[२]

इसप्रकार क्षायिकज्ञान की बात की। अब पुन: शुद्धज्ञान परिणत साधक जीव की बात करते हैं। उसके बारे में पूछते हैं कि जो अभी सिद्ध तो हुआ नहीं, केवलज्ञान भी जिसे अभी नहीं हुआ — ऐसे शुद्धज्ञान परिणत साधक जीव तो पर व पर्याय में कुछ करते ही होंगे?

उत्तर : साधक जीवों की वर्तमान अवस्था में जो रागादि होते हैं, उन्हें वह मात्र जानता ही है, करता कुछ भी नहीं है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ८४-८५
२. वही, पृष्ठ ८६
३. वही, पृष्ठ ८७

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि जिसकी अवस्था में किंचित् राग विद्यमान है — ऐसा शुद्धज्ञान परिणत धर्मी जीव भी राग का व पर का अकर्ता और अवेदक (अभोक्ता) है। प्रभु! शक्तिरूप से तो आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप त्रिकाली है। ऐसे आत्मा का आश्रय होने पर जिसको पर्याय में ज्ञान और आनन्द की रचना करने का वीर्य जागृत हुआ तथा अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का स्वाद आया - ऐसा धर्मी साधक जीव बंध व मोक्ष - दोनों को मात्र जानता ही है, उनका कर्त्ता नहीं है।[१]

ज्ञानमूर्ति प्रभु भगवान आत्मा चैतन्य चक्षु है। जिसप्रकार आँख दृश्य पदार्थों को देखते हुये दृश्य पदार्थ में प्रविष्ट नहीं हो जाती; उसीप्रकार चैतन्यचक्षु प्रभु आत्मा पर को जानते हुये पर में प्रविष्ट नहीं होता। पर से भिन्न रहकर पर को मात्र जानता ही है। यही सब तत्त्वज्ञान का निचोड़ है।[२]

यहाँ भी यही कह रहे हैं कि चौथे गुणस्थान में समकिती धर्मात्मा को उन कर्मों के निमित्त से जो-जो शुभाशुभभाव आते हैं, उनका वह अकारक व अवेदक है, वह उन्हें भिन्न रहकर मात्र जानता है। जबकि मिथ्यादृष्टि कर्मोदय में और शुभाशुभभावों में एकरूप-तद्रूप होकर उनका कर्त्ता व भोक्ता बना रहता है।

ज्ञानी जिसप्रकार कर्मोदय को जानता है, उसीप्रकार सविपाक अविपाक निर्जरा को भी करता नहीं, बल्कि मात्र जानता ही है। आत्मा अकेला ज्ञान व आनन्दस्वरूप है। अहा ! जिसे ऐसा भेदज्ञान है, अन्तर में ऐसा भान है, वह ज्ञाता-दृष्टा है।[३]

यह आत्मा एक रजकण से लेकर सारी दुनिया को जानता है; परन्तु जानने के संबंध मात्र से इसे पर को तथा राग को करने और वेदने का संबंध हो जाये — ऐसी वस्तु नहीं है। ज्ञानस्वभावी वस्तु बहुत सूक्ष्म है। लोग तो इसे स्थूल संयोग के और राग के संबंध से मानते हैं, पर यहाँ कहते हैं कि राग से और पर से भिन्न शुद्ध ज्ञानतत्त्व केवल ज्ञानमात्र स्वभाववाला है। इसलिये वह कर्म के बन्ध को मात्र जानता ही है।[४]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ९०
२. वही, पृष्ठ ९२
३. वही, पृष्ठ ९३
४. वही, पृष्ठ १६०

देखो, शास्त्र में आता है कि चौथे गुणस्थान में इतनी प्रकृति सत्ता में होती हैं, इतनी का उदय होता है, इतनी प्रकृतियाँ बँधती हैं और इतनी की उदीरणा होती है; परन्तु भाई ! जो कुछ होता है, आत्मा तो उसे मात्र जानता ही है, करता नहीं। कर्म के उदयादि नजदीक की चीज को भी जानता ही है, करता नहीं, तो फिर पर चीज को करे, यह बात कहाँ रही? बोलना, चलना, पर की मदद करना, पर से मदद लेना आदि पर की क्रिया करना आत्मा के स्वरूप में नहीं है।[१]

देखो, यहाँ तीन बातें आईं —

१. शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा का शुद्धज्ञान पुण्य-पापादि भावों का कर्त्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है।

२. यहाँ शुद्धज्ञानपरिणत जीवद्रव्य लिया है। पर से और राग से भिन्न शुद्धज्ञानघन प्रभु आत्मा का जिसे निर्मल श्रद्धान हुआ है, वह शुद्धज्ञानपरिणत जीव है। वह राग का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। छद्मस्थ होने से उसे राग आता तो है, पर वह उस राग का अकर्ता व अवेदक है।

३. जिनको क्षायिकज्ञान-केवलज्ञान प्रगट हुआ है, जो पूर्ण परमात्मा हैं; वे रागरहित पूर्ण वीतराग हैं। उनकी बाह्य में शरीर की दशा नग्न ही होती है तथा आहार-पानी (कवलाहार) नहीं होता। वे भी कर्मों के अकारक एवं अवेदक हैं।

अब पुनः साधक जीव की चर्चा करते हुये आचार्य कहते हैं कि शुद्धज्ञानपरिणत जीव बंध-मोक्ष एवं शुभाशुभ कर्मोदय को, सविपाक-अविपाक निर्जरा को और सकाम-अकाम निर्जरा को जानता ही है। चतुर्थ, पंचम और छट्ठे गुणस्थानवर्ती जीव रागरूप भावबंध के तथा राग के अभाव के और मोक्ष के भी ज्ञाता ही हैं। शुभाशुभभावों को एवं प्रतिसमय होनेवाली सविपाक-अविपाक निर्जरा आदि को भी जानते हैं, उनके ज्ञाता ही रहते हैं।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १६१
२. वही, पृष्ठ ९६

यह टीका महामुनिवर दिगम्बर संत जयसेनाचार्य की है। वे मुख्यरूप से तो निजानन्दरस में ही लीन रहते थे। वे कहते हैं कि परमपारिणामिक-परमभावरूप जो यह शुद्ध द्रव्यस्वभाव है, उसे ग्रहण करनेवाले या जाननेवाले शुद्ध उपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्त्व-भोक्तृत्व से शून्य है। शुद्ध उपादान तो त्रिकाल अकर्त्ता-अभोक्ता स्वभावी है ही; किन्तु उसके लक्ष्य से जो वर्तमानदशा प्रगट होती है, वह भी कर्त्ता-भोक्तापने से शून्य है। त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न आनन्द की दशा से परिणत जीव भी शुभाशुभ राग एवं परपदार्थ के कर्त्ता-भोक्तापने से शून्य है।[१]

बंध और मोक्ष का कारण — दोनों पर्यायरूप हैं, जीव का अशुद्ध परिणाम बंध का कारण है और शुद्ध परिणाम मोक्ष का कारण है। परद्रव्य तो बंध-मोक्ष का कारण नहीं है, शुद्धद्रव्य पारिणामिकपरमभाव भी बंध-मोक्ष का कारण नहीं है। यदि यह ध्रुवद्रव्य बंध का कारण हो तो त्रिकाल बंध ही हुआ करे और यदि यह मोक्ष का कारण हो तो त्रिकाल मोक्ष होय। अथवा पारिणामिकभाव स्वयं सर्वथा पर्यायरूप हो जाये तो पर्याय के साथ उस द्रव्य का भी नाश हो जाये। इसप्रकार इस न्याय (युक्ति) से सिद्ध हुआ कि बंध-मोक्ष के परिणाम और उसके कारण पर्याय में ही हैं, त्रिकाली ध्रुवद्रव्य शुद्ध एक परमभावस्वरूप वस्तु इनसे शून्य है। त्रिकाली ध्रुवद्रव्य में बंध-मोक्ष नहीं है। अहो! यह तो चमत्कारी गाथा एवं चमत्कारी टीका है।[२]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि साधक के ज्ञान के साथ-साथ क्षायिकज्ञान भी कर्मबंध, कर्मोदय, कर्मों की निर्जरा और मोक्ष का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है; अपितु मात्र उन्हें जानता ही है।

यहाँ आकर आचार्य जयसेन लिखते हैं कि इसतरह यहाँ मोक्षाधिकार की चूलिका समाप्त हुई अथवा द्वितीय व्याख्यान से मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।

इसके बाद **किंच विशेषः** लिखकर इसी प्रकरण से संबंधित कुछ ऐसी विशेष विषयवस्तु प्रस्तुत करते हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ आत्मार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी भी है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ९८
२. वही, पृष्ठ ९९

उक्त प्रकरण ने आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का ध्यान विशेष आकर्षित किया और उन्होंने उक्त प्रकरण पर विस्तार से अत्यन्त उपयोगी प्रवचन किये, जिन्हें लोग ३२०वीं गाथा पर हुए प्रवचनों के रूप में ही जानते हैं।

यद्यपि यह विषयवस्तु ३२०वीं गाथा के उपरान्त ही आई है; तथापि यह ३२०वीं गाथा की टीका नहीं है; क्योंकि ३२०वीं गाथा की टीका समाप्त करके अधिकार की समाप्ति की घोषणा करने के उपरान्त एक प्रकार से परिशिष्ट के रूप में ही आचार्य जयसेन ने यह सामग्री प्रस्तुत की है; इसलिए यह एक स्वतंत्र प्रकरण ही है।

उक्त विषयवस्तु का भावानुवाद मूलत: इसप्रकार है -

''अब यह विचारते हैं कि औपशमिकादि पाँच भावों में मोक्ष किस भाव से होता है।

उक्त पाँचों भावों में औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, क्षायिकभाव और औदयिकभाव - ये चार भाव तो पर्यायरूप हैं और शुद्धपारिणामिकभाव द्रव्यरूप है। पदार्थ परस्परसापेक्ष द्रव्य-पर्यायमय है।

वहाँ जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - इन तीन पारिणामिकभावों में शुद्ध जीवत्वशक्ति लक्षणवाला जो शुद्धपारिणामिकभाव है, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से निरावरण है और बंध-मोक्षपर्यायरूप परिणति से रहित है तथा उसका नाम शुद्धपारिणामिकभाव है - ऐसा जानना चाहिए। तथा दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - इन्हें अशुद्धपारिणामिकभाव कहते हैं; क्योंकि ये पर्यायार्थिकनय के आश्रित हैं।

प्रश्न : ये तीनों भाव अशुद्ध क्यों हैं?

उत्तर : संसारी जीवों के शुद्धनय से व सिद्ध जीवों के सर्वथा ही दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व का अभाव होता है। इन तीनों में पर्यायार्थिकनय से भव्यत्वलक्षण पारिणामिकभाव के प्रच्छादक व यथासंभव सम्यक्त्वादि जीवगुणों के घातक देशघाति और सर्वघाति नाम के मोहादि कर्मसामान्य होते हैं और जब कालादिलब्धि के वश से भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति अर्थात् प्रगटता होती है; तब यह जीव सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणवाले

निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप पर्याय से परिणमित होता है। उसी परिणमन को आगमभाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव और अध्यात्मभाषा में शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि नामान्तरों से अभिहित किया जाता है।

यह शुद्धोपयोगरूप पर्याय शुद्धपारिणामिकभावलक्षणवाले शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है; क्योंकि वह भावनारूप होती है और शुद्धपारिणामिकभाव भावनारूप नहीं होता। यदि उसे एकान्त से अशुद्धपारिणामिकभाव से अभिन्न मानेंगे तो भावनारूप एक मोक्षकारकभूत अशुद्धपारिणामिकभाव का मोक्ष-अवस्था में विनाश होने पर शुद्धपारिणामिकभाव के भी विनाश का प्रसंग प्राप्त होगा, परन्तु ऐसा कभी होता नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धपरिणामिकभावविषयक भावना अर्थात् जिस भावना या भाव का विषय शुद्धपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है, वह भावना औपशमिकादि तीनों भावोंरूप होती है, वही भावना समस्त रागादिभावों से रहित शुद्ध-उपादानरूप होने से मोक्ष का कारण होती है, शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं होता और जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिकभाव में पहले से ही विद्यमान है। यहाँ तो व्यक्तिरूप अर्थात् पर्यायरूप मोक्ष का विचार किया जा रहा है। सिद्धान्त में भी ऐसा कहा है - **निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः** अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव निष्क्रिय है।

'निष्क्रिय' शब्द से तात्पर्य है कि शुद्धपरिणामिकभाव बंध की कारणभूत रागादि परिणतिरूप क्रिया व मोक्ष की कारणभूत शुद्धभावनापरिणतिरूप क्रिया से तद्रूप या तन्मय नहीं होता।

इससे यह प्रतीत होता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप होता है, ध्यानरूप नहीं होता; क्योंकि ध्यान विनश्वर होता है।

योगीन्द्रदेव ने भी कहा है -

हे योगी! परमार्थदृष्टि से तो यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बन्ध-मोक्ष को करता है - ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि विवक्षित-एकदेशशुद्धनिश्चयनय के आश्रित यह भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणवाले क्षायोपशमिकज्ञानरूप होने से यद्यपि एकदेशव्यक्तिरूप होती है; तथापि ध्यातापुरुष यही भावना करता है कि 'मैं तो सकलनिरावरण, अखण्ड, एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक परमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य ही हूँ, खण्डज्ञानरूप नहीं हूँ।'

उपर्युक्त सभी व्याख्यान आगम और अध्यात्म (परमागम) - दोनों प्रकार के नयों के परस्पर-सापेक्ष अभिप्राय के अविरोध से सिद्ध होता है - ऐसा विवेकियों को समझना चाहिए।

उक्त प्रकरण का स्पष्टीकरण मैंने स्वयं परमभावप्रकाशक नयचक्र[१] में किया है; जो इसप्रकार है -

"(१६) **प्रश्न :** जब भावना एकदेशव्यक्तिरूप है तो ध्यातापुरुष ऐसी भावना क्यों करता है कि 'मैं सकलनिरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक, परमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य हूँ, खण्डज्ञानरूप नहीं हूँ' ऐसी भावना तो सत्य नहीं हैं?

उत्तर : इसमें क्या असत्य है? क्योंकि ध्यातापुरुष ने अपना अहं (एकत्व) परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मद्रव्य में ही स्थापित किया है। यह शुद्धात्मद्रव्य खण्डज्ञानरूप न होकर अखण्ड है, अविनश्वर है, शुद्ध है, सकलनिरावरण, प्रत्यक्षप्रतिभासमय और परमपारिणामिकभावलक्षणवाला है। अत: ध्यातापुरुष की उक्त भावना सर्वप्रकार से उचित है, सत्य है।

रही एकदेशव्यक्तिता की बात, सो वह एकदेशव्यक्तिता तो पर्याय में है, स्वभाव तो सदा परिपूर्ण ही है। स्वभाव में तो अपूर्णता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

ध्यातापुरुष के ध्यान का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय (दृष्टि का विषय) और परमशुद्धनिश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय तो पर और पर्यायों से भिन्न

---

१. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ १०७

निजशुद्धात्मद्रव्य ही है, उसके आश्रय से ही निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय उत्पन्न होती है।

इसप्रकार ध्येय, श्रद्धेय व परमज्ञेयरूप निजशुद्धात्मद्रव्य ही उक्त भावना का भाव्य है और निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही उक्त भाव्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली भावना है।

यहाँ 'भावना' शब्द का अर्थ कोरी भावना नहीं है, अपितु आत्माभिमुख स्वसंवेदनरूप परिणमन है। निर्विकार स्वसंवेदनरूप होने से इस भावना का ही दूसरा नाम निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

यद्यपि यह भावना भी पवित्र है, तथापि ध्यातापुरुष इसमें एकत्व स्थापित नहीं करता; क्योंकि यह पवित्र तो है, पर पूर्णपवित्र नहीं, एकदेश पवित्र है। अपूर्णता के लक्ष्य से पर्याय में पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती। आत्मा तो परिपूर्ण पदार्थ है, पवित्र पदार्थ है, परिपूर्ण पवित्र पदार्थ है; तो वह अपूर्णता में, अपवित्रता में और अपूर्ण पवित्रता में अहं कैसे स्थापित कर सकता है?

यही कारण है कि यद्यपि भावना एकदेशनिर्मलपर्यायरूप है, तथापि ध्यातापुरुष उसमें एकत्व स्थापित नहीं करता। ध्याता का एकत्व तो उस त्रिकाली ध्रुव के साथ होता है, जिसके आश्रय से भावनारूप उक्त पर्याय की उत्पत्ति होती है।

(१७) प्रश्न : एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय होने से उक्त भावना एकदेशव्यक्तिरूप है और एकदेशनिर्मल अर्थात् अपूर्ण पवित्र होने के कारण ही यदि ध्यातापुरुष इसमें अहं स्थापित नहीं करता है तो फिर उसे शुद्धनिश्चयनय के विषयरूप क्षायिक पर्याय में अहं स्थापित करना चाहिये; क्योंकि वह तो पूर्ण है, पवित्र है और पूर्ण पवित्र है?

उत्तर : ध्यातापुरुष उसमें भी एकत्व स्थापित नहीं करता; क्योंकि वह भी पर्याय है। यद्यपि वह पूर्ण पवित्र है, तथापि परमपवित्र नहीं है। वह पूर्ण पावन है, पर पतित-पावन नहीं है। वह स्वयं तो पूर्ण पवित्र है, पर उसके आश्रय से पवित्रता उत्पन्न नहीं होती। वह पूर्ण पवित्र हुई है, है नहीं। स्वभाव पवित्र

है, हुआ नहीं है। जो पवित्र होता है, उसके आश्रय से पवित्रता प्रगट नहीं होती। जो स्वभाव से पवित्र है, जिसे पवित्र होने की आवश्यकता नहीं, जो सदा से ही पवित्र है; उसके आश्रय से ही पवित्रता प्रगट होती है। वही परमपवित्र होता है, वही पतित-पावन होता है; जिसके आश्रय में पवित्रता प्रगट होती है, पतितपना नष्ट होता है।

त्रिकाली ध्रुवतत्त्व पवित्र हुआ नहीं है, वह अनादि से पवित्र ही है, उसके आश्रय से ही पर्याय में पवित्रता, पूर्ण पवित्रता प्रगट होती है। वह परमपदार्थ ही परमशुद्धनिश्चय का विषय है।

पवित्र पर्याय सोना है, पारस नहीं है। परमशुद्धनिश्चयनय का विषय त्रिकाली ध्रुव पारस है, जो सोना बनाता है, जिसके छूने मात्र से लोहा सोना बन जाता है। सोने को छूने से लोहा सोना नहीं बनता, पर पारस के छूने से वह सोना बन जाता है। पवित्र पर्याय के, पूर्ण पवित्र पर्याय के आश्रय से भी पर्याय में शुद्धता प्रगट नहीं होती है। पर्याय में पवित्रता त्रिकाली शुद्धद्रव्य के आश्रय से प्रकट होती है। अतः ध्यातापुरुष भावना भाता है कि मैं तो वह परमपदार्थ हूँ, जिसके आश्रय से पर्याय में पवित्रता प्रगट होती है। मैं प्रगट होनेवाली पवित्रता नहीं, अपितु नित्य प्रगट, परमपवित्र पदार्थ हूँ। मैं सम्यग्दर्शन नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है। मैं सम्यग्ज्ञान भी नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसके ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है। मैं सम्यक्चारित्र भी नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसमें रमने का नाम सम्यक्चारित्र है।

ध्यातापुरुष अपना अहं ध्येय में स्थापित करता है; साधन में नहीं, साध्य में भी नहीं।

(१८) **प्रश्न** : साधन, साध्य और ध्येय में क्या अन्तर है?

उत्तर : परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत आत्मद्रव्य-त्रिकाली ध्रुवतत्त्व ध्येय है और उसके आश्रय से उत्पन्न होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एकदेशनिर्मलपर्याय मोक्षमार्ग अर्थात् साधन है तथा उसी ध्रुव के परिपूर्ण आश्रय से पूर्णशुद्धपर्याय का उत्पन्न होना मोक्ष है; यह मोक्ष ही साध्य है।

त्रिकालीद्रव्य अर्थात् निजशुद्धात्मतत्त्व परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है। परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एकदेशनिर्मलपर्याय का उदय होना एकदेशशुद्धनिश्चयनय का उदय होना है अर्थात् एकदेशनिर्मलपर्याय से युक्त द्रव्य एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय है तथा उसी निजशुद्धात्मद्रव्य के परिपूर्ण आश्रय से क्षायिकभावरूप मोक्षपर्याय का उत्पन्न होना शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय का उदय है अर्थात् मोक्षरूप क्षायिकभाव से युक्त आत्मद्रव्य शुद्धनिश्चयनय का विषय है।

इसी बात को संक्षेप में इसप्रकार कहा जा सकता है कि एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षमार्गरूप पर्याय से परिणत आत्मा है, शुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षरूप से परिणत आत्मा है तथा परमशुद्धनिश्चयनय का विषय बंध-मोक्ष से रहित शुद्धात्मा है। एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षमार्गस्वरूप होने से साधन, शुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षरूप होने से साध्य और परमशुद्धनिश्चयनय का विषय बंध और मोक्ष पर्याय से भी रहित होने से ध्येय है।

ध्यातापुरुष का अहं इसी ध्येय में होता है, मोक्षमार्गरूप साधन या मोक्षरूप साध्य में नहीं।

(१९) प्रश्न : जब ध्यातापुरुष परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत ध्येय में ही अहं स्थापित करता है तो क्या एकमात्र वही उपादेय है?

उत्तर : हाँ आश्रय करने की अपेक्षा से तो एकमात्र परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत शुद्धात्मा ही उपादेय है, पर प्रगट करने की अपेक्षा शुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्ष और एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षमार्ग भी उपादेय है। अशुद्धनिश्चयनय के विषय मोह-राग-द्वेषादि हेय हैं।

(२०) प्रश्न : संक्षेप में उक्त ऊहापोह का सार क्या है?

उत्तर : उक्त सम्पूर्ण ऊहापोह का सार मात्र इतना है कि यदि यह भव्यजीव परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य को जानकर, पहिचानकर उसी में जम जावे, रम जावे तो अशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत मोहादि

विकारीभावों का अभाव होकर एकदेशशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत सम्यग्दर्शनादिरूप एकदेश पवित्रता प्रगट हो; तथा उसी में जमा रहे, रमा रहे तो कालान्तर में शुद्धनिश्चयनय की विषयभूत पूर्णपवित्र मोक्षपर्याय प्रगट हो जावे और स्वभाव से त्रिकालपरमात्मस्वरूप यह आत्मा प्रगट पर्याय में भी परमात्मा बन जावे तथा अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करता रहे।''

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण पर स्वामीजी ने विस्तार से प्रकाश डाला है। उसका सार इसप्रकार है -

''देखो, पाँच भावों में उपशम आदि चार भाव पर्यायरूप हैं। उनमें प्रथम तीन निर्मल पर्यायरूप हैं, औदयिकभाव मलिन विकाररूप है और पारिणामिकभाव ध्रुव द्रव्य स्वरूप है। यह पंचम ध्रुवभाव आत्मा का अहेतुक अकृत्रिम सहज स्वभाव है।[१]

पारिणमिकभाव आत्मा का त्रिकाली सहज एकरूप शाश्वत स्वभाव है। वह ध्रुव द्रव्यरूप है। उसे परमभाव कहा है। अन्य चार भाव क्षणिक हैं, इस कारण उन्हें परमभाव नहीं कहा।[२]

इन पाँच भावों में सर्वविशुद्ध परमपारिणामिकभाव जो शाश्वत ध्रुव अचल है, वह द्रव्यरूप है तथा अन्य चार भाव प्रगट पर्यायरूप हैं। ये परस्पर सापेक्ष- द्रव्य-पर्याय - दोनों रूप होकर सम्पूर्ण आत्मा है। द्रव्य निश्चय, पर्याय व्यवहार दोनों रूप होकर प्रमाण वस्तु सत् है।

द्रव्य-पर्याय रूप सम्पूर्ण पदार्थ (आत्मा) प्रमाण का विषय है। उनमें परमपारिणामिकस्वभाव से जो त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है, वह निश्चय का विषय है तथा वर्तमान वर्तती पर्याय व्यवहार का विषय है। निश्चय सदैव त्रिकाली द्रव्य को स्वीकार करता है और व्यवहार वर्तमान पर्याय को स्वीकार करता है। निश्चय सहित व्यवहार के ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १०१-१०२
२. वही, पृष्ठ १०३
३. वही, पृष्ठ १०३

आत्मद्रव्य सहज एक शुद्ध परमपारिणामिक लक्षण सदा परमात्मस्वरूप चिन्मात्रवस्तु है। ऐसे निज परमात्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय से जीव के परिणमने को धर्म और मोक्ष का मार्ग कहा है।[१]

वर्तमान ज्ञान की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य को ज्ञेय बनाकर 'मैं यह हूँ' - ऐसी प्रतीति करने का नाम अन्त:श्रद्धान है, सम्यग्दर्शन है तथा ज्ञान की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य को ज्ञेय बनाते समय निज परमात्मद्रव्य का जो परिज्ञान हुआ, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है तथा निजात्मद्रव्य के अनुचरण का नाम सम्यक्चारित्र है।[२]

भगवान आत्मा त्रिकाली परमस्वभावरूप परमपारिणामिक भावलक्षण निजपरमात्म द्रव्य है; उसके श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र की जो निर्मल दशा प्रगट होती है, उसे उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक - इसप्रकार तीन भावत्रय कहा जाता है।[३]

वास्तव में शुद्धपारिणामिक भावविषयक - भावनारूप औपशमिक आदि तीन भाव हैं, वे तीनों रागादि से रहित होने से, शुद्ध उपादान कारणभूत होने से मोक्ष के कारण हैं। चाहे उपशम भाव हो, क्षयोपशमभाव हो या क्षायिकभाव हो - ये तीनों भाव राग के विकल्प से रहित शुद्ध हैं। इसकारण उन्हें मोक्षमार्गरूप भावत्रय कहा जाता है।[४]

देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम-शुद्धात्माभिमुख परिणाम हैं, वे परिणाम राग से व पर से विमुख और स्वभाव की सन्मुखता के परिणाम हैं। उन्हें आगम भाषा में उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव कहते हैं। ये शुद्धात्माभिमुख परिणाम हैं, अत: इन्हें मोक्षमार्ग कहा गया है।

परमभावस्वरूप त्रिकाली निज परमात्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप परिणाम को 'शुद्धोपयोग' कहा जाता है। वह शुद्धोपयोग स्वाभिमुख परिणाम है।[५]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १०९
२. वही, पृष्ठ ११२
३. वही, पृष्ठ ११२
४. वही, पृष्ठ ११३
५. वही, पृष्ठ ११३-११४

भगवान आत्मा पूर्णानंद का नाथ शुद्ध चैतन्य अनंतगुण निधान प्रभु एक समय में परिपूर्ण है। ऐसे शुद्धात्मा के सन्मुख हुये परिणाम को शुद्धोपयोग कहते हैं और उसे ही मोक्षमार्ग कहा है तथा इसे ही शुद्धात्मभावना, शुद्धरत्नत्रय, वीतरागता, स्वच्छता, पवित्रता, प्रभुता, साम्यभाव आदि कहा है।[१]

रागादि पुण्य-पाप के भाव तो त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य से भिन्न ही है।[२]

यहाँ तो इससे भी विशेष बात यह कह रहे हैं कि पूर्णानन्दमय परमानंदमय जो मोक्ष है, उसका उपाय जो कि शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग है, वह भाव भी एक समय की पर्यायरूप है; अतः वह भाव भी शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है।[३]

अपूर्व आनन्द का स्वाद देनेवाली मोक्षमार्ग की पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। इतना ही नहीं, मोक्ष की पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है।[४]

भगवान आत्मा शुद्धपारिणामिकभाव लक्षण वस्तु पूर्ण एक चैतन्यमय है, वह त्रिकालभावरूप है, भावनारूप नहीं है; जबकि उसके आश्रय से जो मोक्ष का मार्ग प्रगट हुआ है, वह भावनारूप है, त्रिकाल भावरूप नहीं।

जो अज्ञानी मूढ़ जीव स्त्री-पुत्र, बाग-बगीचों में अपना कर्तृत्व एवं ममत्व स्थापित किये बैठे हैं, उनकी तो बात ही क्या करें? वे तो मोक्षमार्ग से कोसों दूर हैं। यहाँ तो यह कह रहे हैं कि मोक्षमार्ग की पर्याय वर्तमान भावनारूप होने से त्रिकाली ध्रुव निज परमात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। - ऐसा भेद जिसे भासित नहीं हुआ, वे भी मोक्ष के मार्ग से दूर हैं।

बारह भावनायें जो कहीं हैं, उनमें प्रथम तो ये सब भावनायें विकल्परूप होतीं हैं, पश्चात् उनका व्यय होकर निर्विकल्प पर्यायें होतीं हैं। ये निर्मल-निर्विकल्प पर्यायें, जो अन्दर में प्रगट हुईं, वे भावनारूप हैं और त्रिकाली एकरूप परमात्मद्रव्यभावरूप है। शुद्धपारिणामिकभाव त्रिकाली स्वभाव

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ११४
२. वही, पृष्ठ ११५
३. वही, पृष्ठ ११५
४. वही, पृष्ठ ११६

परमानन्दमय प्रभु भावनारूप नहीं है। उसके आश्रय से प्रगट हुई मोक्ष की कारणरूप दशा भावनारूप है।[१]

देखो भाई! मोक्षमार्ग में क्षायिकादि भावरूप जो निर्मल पर्यायें हुईं, वे पर्यायें त्रिकाली द्रव्य के साथ सर्वथा अभिन्न नहीं हैं। यदि दोनों सर्वथा अभिन्न - एक हों तो द्रव्य व पर्याय - ऐसे दो धर्मों की सिद्धि ही नहीं होगी तथा एक (पर्याय) का व्यय होने पर सम्पूर्ण द्रव्य का ही नाश हो जायेगा।

देखो, पूर्ण शुद्ध ज्ञान और आनन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष की पर्याय प्रगट होने पर मोक्षमार्ग की भावनारूप पर्याय का व्यय होता है। उस समय सम्पूर्ण आत्मद्रव्य का नाश नहीं हो जाता; क्योंकि वह पर्याय द्रव्य के साथ सर्वथा अभिन्न नहीं है, कथंचित् भिन्न है।[२]

'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ में तो ऐसा कहा है कि पर्याय रहित द्रव्य नहीं और द्रव्य रहित पर्याय नहीं। एक ओर सम्पूर्ण द्रव्य यानि द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु का अस्तित्व सिद्ध करना है और दूसरी ओर अनादिकालीन पर्यायमूढ़ जीव को द्रव्य व पर्याय का परस्पर भेदज्ञान कराना है। इसकारण पर्यायदृष्टि छुड़ाने के लिये कहा है कि पर्याय त्रिकाली द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। यदि दोनों सर्वथा एकमेक हों तो पर्याय का नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जाये; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये त्रिकाली भाव से वह भावनारूप पर्याय कथंचित् भिन्न है।[३]

यद्यपि बात सूक्ष्म है; परन्तु समझना भी अति आवश्यक है, इसके समझे बिना ही अनादिकाल से हम दु:खी हैं। भले ही अभी हम पशु-पक्षियों और नारकियों की अपेक्षा सुखी हों; परन्तु क्षणभर में यह देह छूट कर पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों की योनियों में जाकर जन्म ले सकते हैं न? हमें पता ही नहीं है कि अभी तक हमारी क्या-क्या दुर्दशा हुई और यदि यही हाल रहा तो फिर चौरासी के चक्कर में ही पड़नेवाले हैं। अत: भाई! इस सुअवसर में स्वरूप की समझ कर ले। अन्यथा कौआ, कबूतर, कुत्ता और न जाने किन-किन योनियों में जन्म लेकर संसार-सागर में खो जाओगे।[४]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ११७
२. वही, पृष्ठ ११८
३. वही, पृष्ठ ११८
४. वही, पृष्ठ ११९

देखो, आत्मा में एक पर्याय अंश है, अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान होना, अशुद्धता का अभाव होकर शुद्धता होना इत्यादि नवीन-नवीन कार्य पर्याय में ही होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि पर्याय का अस्तित्व ही न माने तो द्रव्य में नया कार्य तो कुछ होगा ही नहीं अर्थात् उसको अपने अज्ञान के कारण कभी संसार दशा का अभाव नहीं होगा तथा यदि कोई अकेली पर्याय की ओर ही देखा करे और द्रव्य के शुद्धस्वभाव की ओर लक्ष्य न करे तो उसको भी अशुद्धता नष्ट होकर शुद्धता प्रगट नहीं होती। पर्याय की शुद्धता तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के आश्रय से होती है। द्रव्यस्वभाव में अन्तर्मुख-एकाग्र हुये बिना पर्याय की शुद्धता नहीं होती। यदि एकान्त से पर्याय को ही वस्तु मान लें तो पर्याय का व्यय होने पर ही वस्तु का नाश - अभाव हो जाता है; परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है तथा पर्याय के न मानने पर वस्तु को एकांतत: नित्य कूटस्थ माने तो पर्यायरूप पलटन हुये बिना नया कार्य बनना संभव नहीं है। इसप्रकार वस्तु में द्रव्य-पर्याय - ऐसे दोनों अंश एक ही साथ रहते हैं और उन दोनों में कथंचित् भिन्नपना है - ऐसा स्याद्वाद मत है।

देखो, परद्रव्य तो आत्मा से सर्वथा भिन्न है। यह शरीर मन-वचन-काय आदि तो आत्मा से सर्वथा जुदे हैं। यहाँ तो यह कहते हैं कि अपने में ही जो द्रव्य व पर्यायों के अंश हैं, वे भी परस्पर कथंचित् भिन्न हैं। अहो! यह तो भेदज्ञान की चरम सीमारूप सर्वोत्कृष्ट बात है।[१]

शुद्ध आत्मद्रव्य त्रिकाल भावरूप है और उसका अवलम्बन लेकर प्रगट हुई शुद्ध परिणति भावनारूप है। दोनों ही शुद्ध हैं, पवित्र हैं। त्रिकाली ध्रुव आत्मद्रव्य में तो राग है ही नहीं, उससे जुड़ी परिणति में भी राग नहीं है। शुद्धात्मा की ऐसी भावना कि जिसमें शुद्ध चैतन्य भाव का भवन हुआ है।[२]

देखो, यह संस्कृत टीका नौ सौ वर्ष पहले श्री जयसेनाचार्यदेव ने रची है। इसमें ऐसी चोखी बात की है कि तीन भावरूप शुद्धात्मभावना समस्त रागादि

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १२१-१२२
२. वही, पृष्ठ १२५

रहित होने के कारण शुद्ध-उपादान कारणभूत होने से मोक्ष का कारण है। भाई! चौथे गुणस्थान में भी जो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणाम प्रगट हुआ है, वह रागादि रहित परिणाम है।

यहाँ कहते हैं - यह भावना जो तीन भावरूप है, यह समस्त रागादि रहित होने के कारण शुद्ध-उपादान कारणभूत होने से मोक्ष का कारण है। यहाँ पर्यायरूप शुद्ध-उपादान की बात है। त्रिकाली शुद्ध-उपादान जो शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय का विषय है, उसकी बात तो पहले आ गई है। यहाँ पर्याय के शुद्ध-उपादान की बात है।[१]

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय का विषय त्रिकाली द्रव्य है। वर्तमान भावनारूप जो निर्मल पर्याय है, वह शुद्ध त्रिकाली को अवलंबती है। धर्म की दशा और मोक्ष की दशा शुद्ध पारिणामिकभावस्वरूप त्रिकाली (द्रव्य) का अवलंबन करती है, वह राग का अवलंबन नहीं करती तथा वर्तमान पर्याय का भी अवलंबन नहीं करती। निर्मल पर्याय का विषय पर्याय नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय त्रिकाली द्रव्य को अवलंबती हुई अपने षट्कारक से स्वतंत्रपने प्रगट होती है। यह अनुपम अमृत है। भाई! आचार्यदेव ने इस पंचमकाल में यह अमृत बरसाया है।

देखो, नियमसार में आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव जो निर्मल वीतरागी धर्म की पर्याय है, उसे हम परद्रव्य कहते हैं। अहाहा! वह परभाव है, परद्रव्य है; इसलिये हेय है - ऐसा वहाँ कहा है। व्यवहाररत्नत्रय का राग तो हेय है ही, पर शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि होने पर जिसमें अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है, वह मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय भी त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि से परभाव है, परद्रव्य है और इसलिये हेय है अर्थात् वह निर्मल पर्याय भी अवलंबन योग्य नहीं है। जैसे राग आश्रय योग्य नहीं है, वैसे निर्मल पर्याय भी आश्रय योग्य नहीं है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १२६-१२७
२. वही, पृष्ठ १२७

समकिती को स्व-आश्रय से जितनी शुद्ध-उपादानरूप परिणति हुई है, उतना मोक्ष का कारण है। ध्रुवभावरूप, अक्रिय त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य मोक्ष का कारण नहीं होता तथा शुद्ध द्रव्य से विमुखरूप वर्तते भाव भी मोक्ष के कारण नहीं होते, शुद्ध द्रव्य के सन्मुख होकर वर्तते निर्मलभाव मोक्ष के कारण होते हैं। इसप्रकार यहाँ पर्याय में कारण-कार्यपना कहा है। ऐसे तो उस-उस समय की पर्याय अपने-अपने समय में शुद्धद्रव्य का अवलम्बन करके स्वयं पूर्ण शुद्धरूप से प्रगट होती है। वह पूर्व पर्याय में से नहीं आती। पर पूर्व में इतनी शुद्धिपूर्वक ही पूर्ण शुद्धता होती है, इसलिये उनमें कारण-कार्यपना कहा और उनसे विरुद्ध भावों का निषेध किया है। इसप्रकार किस भाव से मोक्ष साधा जाता है - यह बताया है।[१]

शुद्ध-पारिणामिक - शुद्धचेतना मात्र वस्तु पर दृष्टि पड़ने से जो निर्मल परिणमन होता है, वह मोक्ष का कारण है; परन्तु शुद्ध पारिणामिक वस्तु मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि वह उत्पाद-व्यय रहित निष्क्रिय चीज है। इसमें बन्धमार्ग या मोक्षमार्ग की क्रियायें नहीं होती, वह ऐसी निष्क्रिय चीज है।[२]

देखो, त्रिकाली शुद्धपारिणामिकभाव निष्क्रिय है। यह शुद्ध पारिणामिकभाव जैसे बंध के कारणभूत (रागादि परिणति) क्रियारूप नहीं होता, वैसे ही मोक्ष के कारणभूत - निर्मल, निर्विकार शुद्धभावना परिणति क्रियारूप भी नहीं होता, इसलिये वह निष्क्रिय है। अहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय जो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है, वह सम्यग्दर्शन की क्रियारूप नहीं होता। भाई! यह तो त्रिलोकनाथ जैन वीतरागी परमेश्वर की दिव्यध्वनि में आया हुआ अमृत है। अहो! समयसार, प्रवचनसार इत्यादि द्वारा आचार्यदेव ने अमृत बरसाया है।[३]

यह तो पहले कहा जा चुका है कि शुद्ध-उपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से तथा बंध-मोक्ष के कारण और परिणाम से शून्य है। बंध और बंध का कारण, मोक्ष और मोक्ष का कारण - ये चारों ही चीजें त्रिकाली शुद्धद्रव्य में नहीं हैं।[४]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १३२
२. वही, पृष्ठ १३५
३. वही, पृष्ठ १३८
४. वही, पृष्ठ १३९

वास्तव में तो पर तरफ ढली हुई ज्ञान की पर्याय में भी ज्ञायक ही जानने में आ रहा है। यह बात आचार्यदेव ने १७वीं-१८वीं गाथा में कही है। ज्ञान की पर्याय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिये वर्तमान ज्ञानपर्याय में त्रिकाली परमपारिणामिकभावरूप वस्तु जानने में आती है। अज्ञानी के ज्ञान में भी वह त्रिकाली द्रव्य जानने में आता है, पर उसकी नजर इसके ऊपर नहीं है। ध्रुव की दृष्टि करने के बदले वह अपनी नजर पर्याय पर, राग पर, निमित्त पर और बाहर के पदार्थों पर रखता है, इसलिये उसे अन्दर का चैतन्य निधान नहीं दिखता।[१]

अनन्त शक्तिस्वरूप आत्मा का अनुभव करने पर अनन्त शक्तियों का एक अंश पर्याय में प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन के रूप में श्रद्धा का अंश प्रगट होता है, भावश्रुतज्ञान के रूप में ज्ञान अंश प्रगट होता है, चारित्र का अंश प्रगट होता है, वीर्य का अंश प्रगट होता है, स्वच्छता और प्रभुता का अंश भी पर्याय में व्यक्त होता है। वे सब निर्मल पर्यायें, ध्याता पुरुष के ध्यान का ध्येय नहीं हैं। ध्याता पुरुष उन प्रगट पर्यायों को जानता जरूर है, पर उन पर्यायों का ध्यान नहीं करता, उन पर्यायों को ध्याता नहीं है।[२]

अनन्त-अनन्त शक्तियों का पिण्ड प्रभु आत्मा सकल निरावरण है तथा वह अनन्त गुणों से भरा होने पर भी गुणभेद से रहित अखण्ड एक है; खण्डरूप नहीं, भेदरूप नहीं; वह पर्याय के भेद से भी भेदरूप नहीं होता - ऐसा अभेद एक है तथा स्वसंवेदन ज्ञान में प्रत्यक्ष जाना जाये, ऐसा प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है। आत्मा स्वभाव से ही प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है।[३]

पर्याय की अपेक्षा से केवलज्ञानादि को परमभाव कहते हैं, पूर्ण दशा को परमभाव कहते हैं; परन्तु द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से तो त्रिकाल एकस्वरूप शुद्ध-पारिणामिकभाव ही परमभाव है। छठवीं गाथा में जिसे एक ज्ञायकभाव कहा, वही परमभाव है। ऐसा परमभावस्वरूप अखण्ड एक ज्ञायकभाव जिसका भाव है, वह निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ - ऐसा धर्मात्मा ध्याता है। धर्मात्मा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १४०
२. वही, पृष्ठ १५०
३. वही, पृष्ठ १५०-१५१

अपने को अरहन्तादि सर्वज्ञ परमात्मारूप नहीं ध्याते, वे तो अपने ही त्रिकाली आत्मा को 'मैं परमात्मद्रव्य हूँ' - ऐसा ध्याते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं। प्रगटरूप सर्वज्ञ परमात्मा तो परद्रव्य है, उसे ध्याने से तो राग होता है।[१]

देखो, भगवान के कहे हुए शास्त्रों में आगम और अध्यात्म के शास्त्र हैं। भगवान के द्वारा कहे हुए द्रव्यों का जिसमें निरूपण हो, उसे आगम कहते हैं। अनंत आत्मा हैं, अनंतानंत पुद्गलद्रव्य हैं, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, एक आकाश और असंख्यात कालाणु - इसप्रकार जाति से छह द्रव्य हैं और संख्या से अनंत हैं। जिसमें इन सबका निरूपण हो; वह आगम है, तथा जिसमें शुद्ध निश्चयस्वरूप आत्मद्रव्य और उसकी निर्मल पर्यायों का निरूपण हो, वह अध्यात्मशास्त्र है। आचार्य कहते हैं - यहाँ इन दोनों का सापेक्ष कथन किया है।[२]

नयद्वय के अभिप्राय के अविरोधपूर्वक ही यहाँ कहने में आया है। इसलिये यह कथन सिद्ध है, निर्बाध है - ऐसा विवेकियों को जानना चाहिए।

जिसे विवेक नहीं, वह भले जैसा रुचे, वैसा माने; पर विवेकी पुरुषों को तो इसे प्रमाणरूप जानकर जैसे भवनाशिनी शुद्धात्मभावना प्रगट हो वैसे प्रवर्तना; क्योंकि ऐसी भावना द्वारा ही भव का नाश होकर सिद्धपद की प्राप्ति होती है।[३]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि औपशमिकादि पाँच भावों में द्रव्यरूप परमपारिणामिकभाव न तो बंध का कारण है और न मोक्ष का; क्योंकि वह बंध-मोक्ष के परिणामों से रहित निष्क्रिय तत्त्व है। उक्त परमपारिणामिकभाव के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले औपशमिकादिभाव ही मुक्ति के कारण हैं और उसकी उपेक्षापूर्वक पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले औदयिकभाव बंध के कारण हैं। तात्पर्य यह है कि उक्त परमपारिणामिकभाव में अपनापन स्थापित करनेवाली श्रद्धागुण की पर्याय सम्यग्दर्शन, उसे ही निजरूप जाननेवाली ज्ञानगुण की पर्याय सम्यग्ज्ञान और उसी में जमने-रमनेवाली चारित्रगुण की

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १५१-१५२
२. वही, पृष्ठ १५३
३. वही, पृष्ठ १५४

ध्यानरूप सम्यक्चारित्र पर्याय ही मुक्ति के कारण हैं तथा उससे भिन्न परपदार्थों में अपनापन स्थापित करनेवाली श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र के परिणमन बंध के कारण हैं।

इसप्रकार मुक्ति के मार्ग में श्रद्धेय, ध्येय और परमज्ञेयरूप तो उक्त परमपारणामिकभाव है और साधन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव हैं; जिन्हें अध्यात्मभाषा में शुद्धोपयोगरूप परिणाम कहते हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यहाँ परमपारिणामिकभावरूप त्रिकालीध्रुव ज्ञायकभाव को मोक्ष का भी अकारण बताया जा रहा है; जबकि अध्यात्मशास्त्रों में ही अनेक स्थानों पर इसे ही मोक्ष का कारण भी बताया गया है।

अरे भाई! जहाँ परमपारिणामिकभावरूप ज्ञायकभाव को मोक्ष का कारण बताया जाता है; वहाँ वह आश्रयभूत कारण के रूप में ही अपेक्षित होता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मुक्तिमार्ग त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से प्रगट होता है। त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन, उसी को निज जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और उसी में रमने-जमने का नाम सम्यक्चारित्र है। ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष के कारण हैं और ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होते हैं। इस कारण ही परमपारिणामिकभावरूप भगवान आत्मा को मुक्ति का कारण कहा जाता है।

परन्तु यहाँ यह अपेक्षा नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि परमपारिणामिकभावरूप त्रिकालीध्रुव निष्क्रिय होने से न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण। ४७ शक्तियों में अकार्यकारणशक्ति नाम की एक शक्ति है, जिसका आशय ही यह है कि भगवान आत्मा न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण ही।

वस्तुत: बात यह है कि पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण के मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप विकारी परिणमन ही बंध के कारण हैं और उन्हीं गुणों के परमपारिणामिकभावरूप

स्व के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्मल परिणमन मोक्ष के कारण हैं।

उक्त वस्तुस्थिति के सन्दर्भ में जब आश्रयभूत द्रव्य की मुख्यता से बात करते हैं तो एक ज्ञायकभावरूप परमपारिणामिकभाव को मोक्ष का कारण कहते हैं और जब उसके आश्रय से उत्पन्न हुई पर्याय की अपेक्षा बात करते हैं तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावों को मोक्ष का कारण कहा जाता है।

इसप्रकार दोनों ही कथन सापेक्ष हैं, परमसत्य हैं; सापेक्ष परमसत्य हैं।

यहाँ एक बात और भी विशेष ध्यान देने योग्य प्रतीत होती है कि आचार्य जयसेन यहाँ से लेकर आगामी गाथाओं को समयसार चूलिका के रूप में देखते हैं। इस बात का उल्लेख वे तात्पर्यवृत्ति में स्पष्टरूप से करते हैं और साथ में चूलिका शब्द का अर्थ भी स्पष्ट करते हैं। वे अधिकार का नाम भी समयसार चूलिका ही रखते हैं और अन्य अधिकारों के समान इस समयसार चूलिका अधिकार की ९६ गाथाओं की समुदाय पातनिका भी विस्तार से लिखते हैं। उनका कथन मूलतः इसप्रकार है -

"अतः परं जीवादिनवाधिकारेषु जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिस्वरूपं यथास्थानं निश्चय-व्यवहारविभागेन सामान्येन यत्पूर्वं सूचितं, तस्यैव विशेषविवरणार्थं 'लोकस्स कुणदि विहूणू' इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण षडधिकनवतिगाथापर्यंतं चूलिकाव्याख्यानं करोति।

चूलिकाशब्दस्यार्थः कथ्यते। तथाहि - विशेषव्याख्यानं, उक्तानुक्तव्याख्यानं उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिकाशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः।

इसके पहले जीवादि नव अधिकारों में कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि स्वरूप का यथास्थान निश्चय-व्यवहार नय के विभाग द्वारा जो विवेचन किया गया है; अब उसका ही विशेष विवरण देने के लिए '**लोकस्स कुणदि विहूणू**' इत्यादि गाथा से आरंभ करके ९६ गाथाओं में चूलिका का व्याख्यान करते हैं।

अब चूलिका शब्द का अर्थ करते हैं - विशेष व्याख्यान, उक्तानुक्तव्याख्यान एवं उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यान - इसप्रकार तीन प्रकार से व्याख्यान करना चूलिका शब्द का अर्थ जानना चाहिए।''

आगामी गाथाओं में जिसप्रकार की विषयवस्तु आती है, तदनुसार इस प्रकरण को चूलिका कहना कोई अनुचित भी प्रतीत नहीं होता; क्योंकि चूलिका में वही बात विशेष विस्तार के साथ कही जाती है, जिसका विवेचन हो चुका होता है। साथ ही कुछ बातें ऐसी भी होती हैं, जिनका विवेचन पहले नहीं हुआ है, पर विषय की स्पष्टता के लिए उनका कथन अपेक्षित होता है। इसप्रकार चूलिका में मिश्रित व्याख्यान होता है।

वस्तुतः बात यह है कि विषयवस्तु के प्रतिपादन क्रम में जो बातें कहना संभव नहीं होतीं या आवश्यक विस्तार से कहना संभव नहीं होतीं; उन बातों को लेखक चूलिका में स्पष्ट करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र जिसे सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार नाम देते हैं, उसे ही आचार्य जयसेन समयसार चूलिका कहते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि यह समयसार चूलिका यहाँ से आरंभ होती है और आत्मख्याति का सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार १२ गाथा पहले ही आरंभ हो जाता है।

अब आगामी गाथाओं की सूचना देनेवाला कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुप्)

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसा ततः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम्॥ १९९॥

(हरिगीत)

निज आतमा ही करे सबकुछ मानते अज्ञान से।
हों यद्यपि वे मुमुक्षु पर रहित आतमज्ञान से॥
अध्ययन करें चारित्र पालें और भक्ति करें पर।
लौकिकजनों वत उन्हें भी तो मुक्ति की प्राप्ति न हो॥ १९९॥

जो अज्ञानांधकार से आच्छादित होते हुए आत्मा को कर्त्ता मानते हैं; वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हों; तथापि लौकिकजनों की भाँति उन्हें भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

यद्यपि इस कलश का अर्थ एकदम सहज, सरल एवं सामान्य ही है कि मोक्ष की इच्छा रखनेवाले लोग भी यदि सामान्य लौकिकजनों के समान आत्मा को पर का कर्त्ता-धर्त्ता मानते हैं तो उन्हें भी लौकिकजनों के समान ही मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी; तथापि पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में कुछ विशेष स्पष्टीकरण किया है, जो ध्यान देने योग्य है।

एक तो वे यहाँ **मुमुक्षुता** पद का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि जो जैनमताश्रित हैं, बहुत पढ़े हैं, द्रव्यक्रियारूप चारित्र पालते हैं और मोक्ष के अभिलाषी हैं; वे मुमुक्षु हैं। दूसरे **आत्मानं कर्तारं पश्यन्ति** का अर्थ जीवद्रव्य को ज्ञानावरणादि कर्मों एवं रागादि भावों का कर्त्ता मानते हैं - ऐसा करते हैं।

अन्त में भावार्थ में स्पष्ट करते हैं कि वे मिथ्यादृष्टि हैं, जो जीव का स्वभाव कर्त्तारूप मानते हैं; कारण कि कर्त्तापन जीव का स्वभाव नहीं है, विभावरूप अशुद्ध परिणति है; सो भी परके संयोग से है, विनाशीक है।

पाण्डे राजमलजी के उक्त कथन का आशय मात्र इतना ही है कि जिनागम में जिन व्यवहारनयों से उक्त भावों का कर्त्ता-भोक्ता आत्मा को कहा है; यहाँ उनके निषेध की बात नहीं है। यहाँ तो यही कहा जा रहा है कि परमशुद्धनिश्चयनय से अथवा स्वभाव की अपेक्षा भगवान आत्मा पर का, कर्मों का और रागादि भावों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।

पाण्डे राजमलजी के भावों का अनुसरण करते हुए ही कविवर बनारसीदासजी उक्त छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं -

(कवित्त)

ज्यौं हिय अंध विकल मिथ्या धर मृषा सकल विकलप उपजावत।
गहि एकंत पक्ष आतम कौ करता मानि अधोमुख धावत॥
त्यौं जिनमती दरबचारित्री कर करनी करतार कहावत।
वाँछित मुकति तथापि मूढ़मति विन समकित भव पार न पावत॥

जिसप्रकार हृदय के अंधे अन्यमती मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के कारण दु:खी होते हैं और अनेकप्रकार के झूठे विकल्प उत्पन्न करते हैं; एकान्तपक्ष को ग्रहण करके आत्मा को परपदार्थों का कर्त्ता मानकर अध:पतन को प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार द्रव्यचारित्री अर्थात् व्यवहारचारित्र को धारण करनेवाले जैनमती भी अनेकप्रकार की क्रियाओं को करके अपने को उक्त क्रियाओं का कर्त्ता मानते हैं। यद्यपि वे मुक्ति की कामना करते हैं; तथापि वे मूढ़मती सम्यग्दर्शन न होने से संसारसमुद्र का किनारा प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

उक्त कथन का भी यही आशय है कि जिसप्रकार एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता माननेवाले अन्यमती मिथ्यादृष्टि जीव संसारसमुद्र से पार नहीं होते; उसीप्रकार स्वयं को पर का कर्त्ता माननेवाले जैनमती भी कितना ही कठोर क्रियाकाण्ड क्यों न करें, संसारसागर से पार नहीं हो सकते; क्योंकि दोनों में ही पर में कर्तृत्वबुद्धि एक समान ही है।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि जो जैनी जैनसाधु या मुमुक्षु होकर भी स्वयं को पर का कर्त्ता मानते हैं; उन्हें सामान्य लौकिकजनों के समान ही मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी।

यहाँ पर के कर्तृत्व की मान्यतावाले जैन श्रमणों को लौकिकजनों के समान बताकर उन्हें विशेष सावधान किया है और परकर्तृत्व संबंधी मान्यता छोड़ने की प्रबल प्रेरणा दी है। ●

उनका ऐसा ही सहज संयोग है

समय के पहले और भाग्य से अधिक कभी किसी को कुछ नहीं मिलता। जब ऋषभदेव की आहार प्राप्ति की उपादानगत योग्यता पक गई तो आहार देनेवालों को भी जातिस्मरण हो गया। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब अपनी अन्तर से तैयारी हो तो निमित्त तो हाजिर ही रहता है, पर जब हमारी पात्रता ही न पके तो निमित्त भी नहीं मिलते। उपादानगत योग्यता और निमित्तों का सहज ऐसा ही संयोग है। अत: निमित्तों को दोष देना ठीक नहीं है, अपनी पात्रता का विचार करना ही कल्याणकारी है।

— पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ५८

समयसार गाथा ३२१-३२३

इन गाथाओं की उत्थानिकारूप १९९वें कलश में जो बात कही गई है; वही बात अब इन गाथाओं में कहते हैं। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं -

लोयस्य कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणं पि अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काऐ॥ ३२१॥
लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो।
लोयस्य कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणदि॥ ३२२॥
एवं ण को वि मोक्खो दीसदि लोयसमणाणं दोण्हपि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए॥ ३२३॥

(हरिगीत)

जगत-जन यों कहें विष्णु करे सुर-नरलोक को।
रक्षा करूँ षट्काय की यदि श्रमण भी माने यही॥ ३२१॥
तो न श्रमण अर लोक के सिद्धान्त में अन्तर रहा।
सम मान्यता में विष्णु एवं आतमा कर्ता रहा॥ ३२२॥
इसतरह कर्तृत्व से नित ग्रसित लोक रु श्रमण को।
रे मोक्ष दोनों का दिखाई नहीं देता है मुझे॥ ३२३॥

लौकिकजनों के मत में देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्य रूप प्राणियों को विष्णु करता है और यदि श्रमणों के मत में भी छहकाय के जीवों को आत्मा करता हो तो फिर तो लौकिकजनों और श्रमणों का एक ही सिद्धान्त हो गया; क्योंकि उन दोनों की मान्यता में हमें कोई भी अन्तर दिखाई नहीं देता। लोक के मत में विष्णु करता है और श्रमणों के मत में आत्मा करता है। इसप्रकार दोनों की कर्तृत्व सम्बन्धी मान्यता एक जैसी ही हुई।

इसप्रकार देव, मनुष्य और असुरलोक को सदा करते हुए ऐसे वे लोक और श्रमण - दोनों का ही मोक्ष दिखाई नहीं देता।

तात्पर्य यह है कि जो श्रमण स्वयं को छहकाय के जीवों की रक्षा करनेवाला मानते हैं; उनकी मान्यता विष्णु को जगत की रक्षा करनेवाला

माननेवालों के समान ही है; इसकारण लौकिकजनों के समान उन्हें भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी।

उक्त गाथाओं का सार आत्मख्याति में अत्यन्त सरल शब्दों में अति संक्षेप में इसप्रकार किया गया है -

"जो आत्मा को कर्त्ता ही देखते हैं; वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकता का अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णु देव-नारकादि कार्य करता है और इन लोकोत्तर मुनियों के मत में स्वयं का आत्मा वे कार्य करता है - इसप्रकार दोनों में अपसिद्धान्त की समानता है। इसलिए आत्मा के नित्यकर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण लौकिकजनों के समान लोकोत्तर पुरुषों (मुनियों) का भी मोक्ष नहीं होता।"

इसी बात को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जो आत्मा को कर्त्ता मानते हैं, वे भले ही मुनि हो गये हों; तथापि वे लौकिकजनों जैसे ही हैं; क्योंकि लोक ईश्वर को कर्त्ता मानता है और उन श्रमणों (मुनियों) ने आत्मा को कर्त्ता माना - इसप्रकार दोनों की ही मान्यतायें समान ही हुईं। इसलिए जैसे लौकिकजनों को मोक्ष नहीं होता; उसीप्रकार उन मुनियों को भी मुक्ति नहीं है। जो कर्त्ता होगा, वह कार्य के फल को भी अवश्य भोगेगा और जो फल भोगेगा, उसकी मुक्ति कैसी ?"

इन गाथाओं का अर्थ तात्पर्यवृत्ति में भी इसीप्रकार से किया गया है। हाँ, यह बात अवश्य है कि आचार्य जयसेन टीका के अन्त में **किंच** के रूप में कर्तृत्व शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन को ही कर्तृत्व कहते हैं। राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन होने पर शुद्धस्वभावरूप आत्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण रूप निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग से च्युत हो जाते हैं और इसीकारण मोक्ष नहीं होता।

तात्पर्यवृत्ति के उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यही है कि आत्मा को पर का, ज्ञानावरणादि कर्मों का और मोह-राग-द्वेष रूप भावकर्मों का कर्त्ता मानने पर पर में एकत्वबुद्धिरूप मोह एवं राग-द्वेषरूप परिणमन होता ही रहता है,

इसीकारण अपने आत्मा में एकत्वबुद्धिरूप निश्चय सम्यक्दर्शन, निज आत्मा को निज जानने रूप सम्यग्ज्ञान और निज आत्मा में रमने रूप सम्यक् चारित्र नहीं होता; अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग प्रकट नहीं होता। इसलिए मोक्ष भी नहीं होता।

इस सबका सार यह है कि पर में कर्तृत्वबुद्धि ही वास्तविक कर्तृत्व है और यही आत्मा का मोहरूप परिणमन है।

अब इसी भाव का पोषक काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुप्)

नास्ति सर्वोऽपि संबंध परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुताः॥२००॥

(दोहा)

जब कोई संबंध ना पर अर आतम माँहि।
तब कर्त्ता परद्रव्य का किसविध आत्म कहाँहि॥ २००॥

परद्रव्य और आत्मतत्त्व का कोई भी संबंध नहीं है। इसप्रकार आत्मा का परद्रव्य के साथ कर्तृत्व-कर्मत्व संबंध का अभाव होने से आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता कैसे हो सकता है?

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी दो छन्दों में करते हैं; जो इसप्रकार हैं-

(चौपाई)

चेतन अंक जीव लखि लीन्हा। पुद्गल कर्म अचेतन चीन्हा॥
बासी एक खेत के दोऊ। जदपि तथापि मिलैं नहिं कोऊ॥

(दोहा)

निज निज भाव क्रियासहित, व्यापक व्यापि न कोइ।
कर्त्ता पुद्गल करम कौ, जीव कहाँ सौं होइ॥

जीव चैतन्य चिन्हवाला दिखाई देता है और पुद्गलकर्म अचेतन रूप में पहिचाना जाता है। यद्यपि दोनों एक खेत के ही वासी हैं; तथापि दोनों कभी भी मिलते नहीं हैं।

दोनों ही द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों में रहते हैं; कोई भी एक-दूसरे में व्यापता नहीं हैं, दोनों में व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है। ऐसी स्थिति में जीव पुद्गल कर्म का कर्त्ता कैसे हो सकता है?

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी विगत गाथाओं और कलश के सन्दर्भ में कुछ भी विशेष नहीं कहते। वे इस कलश पर भी अत्यन्त संक्षेप में ही प्रकाश डालते हैं। जो कुछ भी वे कहते हैं, उसका सार इसप्रकार है -

"यद्यपि इस कलश की भाषा सीधी-सादी है; परन्तु भाव बहुत गंभीर है। कहा है कि परद्रव्य व आत्मतत्त्व का कोई भी संबंध नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप का ही कर्त्ता है, इसलिये एक-दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकते। आँख की पलक झपकाना भी आत्मा का कार्य नहीं है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्त्ता तो है ही नहीं, साथ ही एक का दूसरे पर प्रभाव भी नहीं पड़ता।"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि आत्मा और परद्रव्यों के बीच किसी भी प्रकार कोई संबंध नहीं है। ऐसी स्थिति में जब कर्त्ता-कर्मसंबंध भी नहीं है तो फिर आत्मा कर्मों का कर्त्ता कैसे हो सकता है? •

धर्म को जीवन का अंग बनाना ही होगा

धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं, किन्तु मार्गदर्शक है। धर्म के मार्गदर्शन में चलनेवाला विज्ञान का विकास विनाश नहीं, निर्माण करेगा। घोड़ा और घुड़सवार एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक हैं; घुड़दौड़ में दौड़ेगा तो घोड़ा ही, जीतेगा भी घोड़ा ही, पर घुड़सवार के मार्गदर्शन बिना घोड़े का जीतना संभव नहीं। दौड़ना तो घोड़े को ही है, पर कहाँ दौड़ना, कब दौड़ना, कैसे दौड़ना? — इस सबका निर्णय घोड़ा नहीं, घुड़सवार करेगा। योग्य घुड़सवार के बिना घोड़ा उपद्रव ही करेगा, महावत के बिना हाथी विनाश ही करेगा, निर्माण नहीं। जिसप्रकार घोड़े को घुड़सवार और हाथी को महावत के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, उसीप्रकार विज्ञान को धर्म के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। किन्तु दुर्भाग्य से आज धर्म को अपनी उपयोगिता और आवश्यकता की सिद्धि के लिए विज्ञान का सहारा लेना पड़ रहा है।

जो कुछ भी हो, यदि हमें सुख और शान्ति चाहिए तो धर्म को अपने जीवन का अंग बनाना ही होगा। **आत्मा ही है शरण,** पृष्ठ २६-२७

समयसार गाथा ३२४-३२७

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदिदत्था।
जाणंति णिच्छएण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि॥ ३२४॥
जह को वि णरो जंपदि अम्हं गामविसयणयररट्ठं।
ण य होंति जस्स ताणि दु भणदि य मोहेण सो अप्पा॥ ३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवदि एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि॥ ३२६॥
तम्हा ण मे त्ति णच्चा दोण्ह वि एदाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणेज्जो दिट्ठिरहिदाणं॥३२७॥

(हरिगीत)

अतत्त्वविद् व्यवहार ग्रह परद्रव्य को अपना कहें।
पर तत्त्वविद् जाने कि पर परमाणु भी मेरा नहीं॥ ३२४॥
ग्राम जनपद राष्ट्र मेरा कहे कोई जिसतरह।
किन्तु वे उसके नहीं हैं मोह से ही वह कहे॥ ३२५॥
इसतरह जो 'परद्रव्य मेरा' - जानकर अपना करे।
संशय नहीं वह ज्ञानि मिथ्यादृष्टि ही है जानना॥ ३२६॥
'मेरे नहीं ये' - जानकर तत्त्वज्ञ ऐसा मानते।
है अज्ञता कर्तृत्वबुद्धि लोक एवं श्रमण की॥ ३२७॥

वस्तुस्वरूप को नहीं जाननेवाले पुरुष व्यवहार कथन को ही परमार्थरूप से ग्रहण करके ऐसा कहते हैं कि परद्रव्य मेरा है; परन्तु ज्ञानीजन निश्चय से ऐसा जानते हैं कि परमाणुमात्र परपदार्थ मेरा नहीं है।

जिसप्रकार कोई मनुष्य इसप्रकार कहता है कि हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर और हमारा राष्ट्र है; किन्तु वे उसके नहीं हैं; वह मोह से ही ऐसा कहता है कि वे मेरे हैं।

इसीप्रकार यदि कोई ज्ञानी भी परद्रव्य को निजरूप करता है, परद्रव्य को निजरूप मानता है, जानता है तो ऐसा जानता हुआ वह निःसंदेह मिथ्यादृष्टि है।

इसलिए परद्रव्य मेरे नहीं हैं - यह जानकर तत्त्वज्ञानीजन लोक और श्रमण -दोनों के ही परद्रव्य में कर्तृत्व के व्यवसाय को सम्यग्दर्शन रहित पुरुषों का व्यवसाय ही जानते हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''व्यवहारविमूढ़ अज्ञानीजन ही परद्रव्य के सन्दर्भ में ऐसा मानते हैं कि 'यह मेरा है' और निश्चय में प्रतिबुद्ध ज्ञानीजन परद्रव्य के सन्दर्भ में ऐसा ही मानते हैं कि 'यह मेरा नहीं है।'

जिसप्रकार इस लोक में कोई व्यवहारविमूढ़ दूसरे ग्राम का रहनेवाला व्यक्ति किसी दूसरे गाँव के बारे में यह कहे कि यह मेरा गाँव है तो उसकी वह मान्यता मिथ्या ही है, वह तत्संबंधी मिथ्यादृष्टि ही है; उसीप्रकार यदि कोई ज्ञानी भी कथंचित् व्यवहारविमूढ़ होकर परद्रव्य को यह मेरा है - इसप्रकार देखे, जाने, माने तो उस समय वह भी नि:संशय रूप से परद्रव्य को निजरूप करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही होता है।

इसलिए तत्त्वज्ञपुरुष 'समस्त परद्रव्य मेरे नहीं हैं' - यह जानकर यह निश्चितरूप से जानता है कि लोक और श्रमणों - दोनों के ही परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय, उनकी सम्यग्दर्शनरहितता के कारण ही है।''

उक्त गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''देखो, अपनी शुद्ध चैतन्यवस्तु से अजान अज्ञानी व्यवहारविमूढ़ होते हैं। वे स्त्री-पुत्र-परिवार, धन-दौलत शरीर आदि परद्रव्य को 'ये मेरे हैं' - ऐसा मानते हैं। यद्यपि व्यवहार में इन्हें ज्ञानी भी अपना कहते हैं; परन्तु अज्ञानी उन्हें निश्चय से ऐसा ही मान लेते हैं कि 'परद्रव्य मेरे हैं।' अज्ञानी को स्वद्रव्य-परद्रव्य, स्वसत्ता-परसत्ता संबंधी कोई विवेक नहीं है, भेदविज्ञान नहीं है।

ज्ञानी इससे विपरीत है। भले व्यवहार से वह कुछ भी कहता हो; परन्तु निश्चय से जो अपना एक शुद्ध चैतन्यतत्त्व है, चिदानन्दमय ज्ञाता-दृष्टास्वभावी आत्मा है; उसी को निज मानता है। वह मानता है कि 'मैं तो एक उपयोगरूप चिन्मूर्ति आत्मा हूँ।' वह परद्रव्य के एक कणमात्र को, रजकण को अपना नहीं मानता।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १७५

'मेरे देव, मेरे गुरु, मेरे शास्त्र, मेरा कुटुम्ब परिवार' - ऐसा कहना तो व्यवहार है; परन्तु ऐसा मानना तो मिथ्यादर्शन ही है। ज्ञानी किसी भी परद्रव्य को अपना नहीं मानता।[१]

लौकिकजन (ईश्वरवादी) ऐसा मानते हैं कि जगत का कर्त्ता ईश्वर है। यदि जैनश्रमण भी ऐसा माने कि 'परद्रव्य का कर्त्ता मैं हूँ' तो इसप्रकार तो परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय दोनों के समान ही ठहरता है और ऐसा माननेवाले लोगों को तो तत्त्वज्ञजन तथा त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ऐसा फरमाते हैं - वे सब मिथ्यादृष्टि ही हैं, जो परद्रव्य को कर्त्ता मानते हैं। 'मैं पर की हानि या लाभ कर सकता हूँ' - ऐसा माननेवाले नियम से मिथ्यादृष्टि ही हैं।[२]

वस्तुस्वरूप से अनजान अज्ञानी जीव व्यवहार में ही विमोहित हो रहा है। अत: वह ऐसा मानता है कि ये परद्रव्य, शुभविकल्प और भेद मेरे हैं। इसीतरह परद्रव्यों को, परभावों को मैं करता हूँ - ऐसा मानता है। उनके संदर्भ में यहाँ कहते हैं कि ऐसा माननेवाले चाहे वे लौकिकजन हों या मुनिजन हों; वे सब मिथ्यादृष्टि ही हैं।[३]''

यहाँ एक प्रश्न यह भी संभव है कि कोई व्यक्ति ज्ञानी होकर भी ऐसा कैसे मान सकता है कि परद्रव्य मेरा है और मैं उसका कर्त्ता-धर्त्ता हूँ? - ऐसा माननेवाला तो अज्ञानी ही होता है; फिर भी यहाँ ऐसा कैसे लिखा है कि यदि कोई ज्ञानी भी ऐसा माने कि परद्रव्य मेरा है तो वह मिथ्यादृष्टि है? आश्चर्य की बात तो यह है कि यह बात मूल गाथा में भी विद्यमान है।

इसप्रकार का प्रश्न आचार्य अमृतचन्द्र के चित्त में भी उत्पन्न हुआ था। यही कारण है कि वे आत्मख्याति टीका में **कथंचित्** शब्द का उपयोग करते हैं और आचार्य जयसेन तो तात्पर्यवृत्ति टीका में स्वयं इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित करके उसका उत्तर देते हैं; जो मूलत: इसप्रकार है -

''ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मीयं वदन् सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत्?

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १७६
२. वही, पृष्ठ १७६-१७७
३. वही, पृष्ठ १७७

व्यवहारो हि म्लेच्छानां म्लेच्छभाषेव प्राथमिकजनसंबोधनार्थं काल एवानुसर्तव्यः। प्राथमिकजनप्रतिबोधनकालं विहाय कतकफलवदात्म शुद्धिकारकात् शुद्धनयाच्च्युतो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं करोति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति।

प्रश्न : ज्ञानी होकर व्यवहार से परद्रव्य को निजस्वरूप कहनेवाला अज्ञानी कैसे होता है?

उत्तर : जिसप्रकार प्राथमिकजीवों को संबोधन करने के लिए उस काल में ही व्यवहारनय का अनुसरण करना चाहिए। लेकिन यदि प्राथमिकजीवों के प्रतिबोधन काल को छोड़कर अन्यकाल में भी कोई ज्ञानी जीव कतकफल के समान आत्मा को शुद्ध करनेवाले शुद्धनय से च्युत होकर यदि परद्रव्य को निजरूप मानता है तो उस समय ही वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि यदि कोई तथाकथित ज्ञानी व्यवहारनय के कथन का सहारा लेकर पर में एकत्वबुद्धि करता है तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।

अब इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करनेवाला कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(वसन्ततिलका)

एकस्य वस्तु न इहान्यतरेण सार्धं
संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्॥२०१॥

(रोला)

जब कोई संबंध नहीं है दो द्रव्यों में,
तब फिर कर्ताकर्मभाव भी कैसे होगा?
इसीलिए तो मैं कहता हूँ निज को जानो;
सदा अकर्त्ता अरे जगतजन अरे मुनिजन॥२०१॥

क्योंकि इस लोक में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सभी प्रकार के संबंधों का निषेध किया गया है; इसलिए जहाँ वस्तुभेद है, वहाँ कर्त्ता-कर्मपना

घटित नहीं होता। इसप्रकार हे मुनिजनों एवं लौकिकजनों! तुम तत्त्व को अकर्त्ता ही देखो। तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा पर का अकर्त्ता ही है - ऐसा जानो।

कविवर बनारसीदासजी इस कलश का भावानुवाद दो छन्दों में करते हैं; जो इसप्रकार हैं -

(सवैया इकतीसा)

जीव अरु पुद्गल करम रहैं एक खेत,
जदपि तथापि सत्ता न्यारी न्यारी कही है।
लक्षन स्वरूप गुन परजै प्रकृति भेद,
दुहूँ मैं अनादि ही की दुविधा ह्वै रही है॥
एते पर भिन्नता न भासै जीव करम की,
जौ लौं मिथ्याभाव तौ लौं ओंधि बाऊ बही है।
ग्यान कै उदोत होत ऐसी सूधी द्रिष्टि भई,
जीव कर्मपिण्ड कौ अकरतार सही है॥

(दोहा)

एक वस्तु जैसी जु है, तासौं मिलै न आन।
जीव अकरता करम कौ, यह अनुभौ परवांन॥

यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म एक ही स्थान पर एक साथ रहते हैं; तथापि उनका अस्तित्व भिन्न-भिन्न ही कहा गया है। उनमें अनादिकाल से ही लक्षण, स्वरूप, गुण, पर्याय और प्रकृति संबंधी दोपना पड़ा हुआ है। ऐसी स्थिति होने पर भी जबतक मिथ्यात्वभाव की उल्टी हवा चल रही है अर्थात् जबतक विपरीत मान्यता है; तबतक जीव को जीव और कर्मों में भिन्नता भासित नहीं होती; किन्तु जब सम्यग्ज्ञान उदित होता है, दृष्टि सम्यक् हो जाती है तो यह जीव कर्मपिण्ड का अकर्त्ता ही भासित होने लगता है, अकर्त्ता ही हो जाता है।

एक वस्तु जैसी है, वैसी ही है; उससे अन्य पदार्थ मिल ही नहीं सकता। जीव कर्मों का अकर्त्ता ही है - यह बात अनुभव से प्रमाणित है।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"देखो, इस लोक में अनन्त जीव, अनन्तानंत पुद्गल, एक-एक धर्म, अधर्म और आकाश तथा असंख्यात कालाणु - इसप्रकार जाति अपेक्षा छह तथा संख्या अपेक्षा अनन्तानन्त द्रव्य हैं। उनमें प्रत्येक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ सभी प्रकार के संबंधों का निषेध किया गया है। एक वस्तु अन्य वस्तु के अभावस्वभाववाली ही है। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु के अभाव से ही स्वतंत्र टिक रही है।

लोग कहते हैं कि मेरा अमुक-अमुक वस्तुओं के बिना नहीं चलता। पैसे बिना तो एक क्षण भी नहीं चल सकता। उससे कहते हैं कि अरे भाई! तेरा अनन्त काल से तो इन सबके बिना ही चल रहा है, यदि ऐसा न होता तो अनन्त काल से अबतक अनन्त वस्तुयें भिन्न-भिन्न अपनी सत्ता के साथ रह ही नहीं सकती थीं। सब मिलकर एकमेक हो गई होतीं।

इसलिये कहा है कि जहाँ भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, वहाँ कर्त्ता-कर्म की घटना घटित होती ही नहीं है।

जगत में अनन्त द्रव्य हैं, उनमें कोई भी किसी भी समय बिना कार्य का है ही नहीं। प्रति समय वह अपने कार्य अर्थात् पर्याय को तो करता ही है न? जब वह खाली, फुरसत में या निठल्ला है ही नहीं, तो वह अन्य का कार्य करे भी कैसे?

दूसरी बात, जब तुझे कोई अन्य द्रव्य स्पर्श ही नहीं करता, छूता ही नहीं है तो वह तेरा कार्य, तेरी पर्याय का परिणमन कैसे करेगा?

आत्मा प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप एक ज्ञानमात्र वस्तु है। उसको तू राग का एवं पर का अकर्त्ता देख; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का अकर्त्ता ही है। यही श्रद्धान वास्तविक श्रद्धान है। समकिती को ऐसा ही श्रद्धान होता है।[१]"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि इस लोक की किसी भी वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कोई भी संबंध नहीं है; इसकारण कोई भी व्यक्ति

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १७९-१८०

अन्य के कार्यों का कर्त्ता नहीं होता। इसलिए आत्मा को पर का अकर्त्ता ही जानो।

इसके बाद आचार्य अमृतचन्द्र आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(वसन्ततिलका)

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेम -
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्म -
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः॥ २०२॥

(रोला)

इस स्वभाव के सहज नियम जो नहीं जानते,
अरे विचारे वे तो डूबे भवसागर में।
विविध कर्म को करते हैं बस इसीलिए वे,
भावकर्म के कर्त्ता होते अन्य कोई ना॥ २०२॥

आचार्यदेव खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अरे! जो लोग इस वस्तु स्वभाव के नियम को नहीं जानते हैं; अज्ञान में डूबे हुए वे बेचारे कर्मों को करते हैं; इसलिए भावकर्म के कर्त्ता होते हैं। भावकर्मों का कर्त्ता चेतन स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं। तात्पर्य यह है कि अज्ञान अवस्था में अज्ञानी आत्मा चेतनकर्मों का कर्त्ता होता है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी तीन छन्दों में करते हैं, जो इसप्रकार हैं -

(चौपाई)

जो दुरमती विकल अग्यानी, जिन्हि सुरीति पररीति न जानी।
माया मगन भरम के भरता, ते जिय भावकरम के करता॥

(दोहा)

जे मिथ्यामति तिमिर सौं, लखै न जीव अजीव।
तेई भावित करम के, करता होहिं सदीव॥
जे असुद्ध परनति धरैं, करैं अहं परवांन।
ते असुद्ध परिनाम के, करता होहिं अजान॥

जो जीव अज्ञानी हैं, दुर्बुद्धि हैं, दु:खी हैं; जिन्हें निजपरिणति और परपरिणति का ज्ञान नहीं है; जो माया में मग्न हैं, भ्रम में भूले हुए हैं; वे जीव भावकर्मों के कर्त्ता होते हैं।

जो जीव मिथ्यामतिरूप अंधकार के कारण जीव और अजीव को भिन्न-भिन्न नहीं जान पाते हैं; वे अज्ञानी जीव ही सदा ही भावकर्म के कर्त्ता होते हैं।

जो जीव परपदार्थों में अहंबुद्धि करते हैं और अशुद्ध परिणति को धारण करते हैं; वे अज्ञानी जीव अशुद्ध परिणामों के कर्त्ता होते हैं।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"भगवान आत्मा अंतरंग में स्वयं पूर्ण चैतन्य सम्पदा से भरपूर है; परन्तु अपनी स्वरूप सम्पदा के स्वभाव को जो जानते नहीं हैं; वे बेचारे हैं, रंक हैं, दया के पात्र हैं। देखो, लोक जिन्हें श्रीमंत मानते हैं, उन्हें यहाँ रंक कहा है; क्योंकि वे अपनी चैतन्य सम्पदा को जानते-पहचानते नहीं हैं।

अहा! जो आत्मसन्मुख होकर निराकुल आनन्द का अनुभव नहीं करते, वे भले अरबपति हों या अहमिन्द्र हों, सभी भिखारी ही हैं; क्योंकि बाहर की सम्पदा अपनी कभी होती ही नहीं है और वह उसे अपनी मानता है; अत: दीन-दु:खी ही रहता है। जो थोड़ा धन-वैभव माँगे, वह छोटा भिखारी और जो अधिक धन-वैभव माँगे या चाहे वह बड़ा भिखारी है; क्योंकि स्वरूप सम्पदा के भान बिना लोगों को परसम्पदा की ही आशा है।

जो इन अध्रुव एवं नाशवान संयोगों एवं संयोगी भावों को अपना मानता है, वह नियम से वस्तुस्वरूप को नहीं पहचानता है। उसका पुरुषार्थरूपी तेज अज्ञान में डूब गया है, अनंत पराक्रम अज्ञान अंधकार में विलीन हो गया है। ऐसा बिचारा अज्ञानी जीव राग का एवं शुभाशुभ कर्मों का कर्ता बनकर अपने अज्ञान का ही पोषण करता है।

प्रश्न : भक्ति, दया, दान, व्रतादिरूप शुभभाव ज्ञानी के भी तो होते हैं?

उत्तर : हाँ, होते हैं; परन्तु ज्ञानी उन्हें कर्त्ता होकर नहीं करता; उनका स्वामी नहीं बनता। जबकि अज्ञानी ऐसा मानता है कि राग मेरा कर्तव्य है। बस, यही कर्त्ताबुद्धि उसका अज्ञान है।[१]"

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १८१

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि जो वस्तुस्वरूप के इस नियम को नहीं जानते हैं कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है; वे अज्ञानी आत्मा स्वयं को पर का कर्त्ता मानने के कारण पर को कर्त्ता मानने रूप अज्ञानभाव के कर्त्ता होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे लोग मानते तो ऐसा हैं कि हम परद्रव्य के कर्त्ता हैं; पर वे पर के कर्त्ता तो नहीं होते; किन्तु पर को करने के भावरूप अपने भाव के, अपने अज्ञान भाव के, अपने राग के कर्त्ता अवश्य होते हैं।

३२७वीं गाथा के उपरान्त तात्पर्यवृत्ति में चार गाथायें ऐसी आती हैं, जो आत्मख्याति में आगे ३४५ से ३४८वीं गाथाओं के रूप में विद्यमान हैं। उनकी चर्चा यथास्थान होगी ही; अतः यहाँ उनके बारे में कुछ भी लिखना आवश्यक

यही मुक्ति का पुरुषार्थ है

अनादिकाल से जगत के परिणमन को अपनी इच्छानुकूल करने की आकुलता से व्याकुल प्राणी जब यह अनुभव करता है कि जगत के परिणमन में मैं कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकता तो उसका उपयोग सहज ही जगत से हटकर आत्म-सन्मुख होता है। और जब यह श्रद्धा बनती है कि मैं अपनी क्रमनियमित पर्यायों में भी कोई फेर-फार नहीं कर सकता तो पर्याय पर से भी दृष्टि हट जाती है और स्व-स्वभाव की ओर ढलती है।

दृष्टि का स्वभाव की ओर ढलना ही मुक्ति के मार्ग में अनन्त पुरुषार्थ है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करनेवाले को उक्त श्रद्धा के काल में आत्मोन्मुखी अनन्त पुरुषार्थ होने का और सम्यग्दर्शन प्रगट होने का क्रम भी सहज होता है। — **क्रमबद्धपर्याय**, पृष्ठ ५४

समयसार गाथा ३२८-३३१

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को गाथाओं के माध्यम से सिद्ध करते हैं। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं -

मिच्छत्तं जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो॥ ३२८॥
अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो॥ ३२९॥
अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा देहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं॥ ३३०॥
अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा॥ ३३१॥

(हरिगीत)

मिथ्यात्व नामक प्रकृति मिथ्यात्वी करे यदि जीव को।
फिर तो अचेतन प्रकृति ही कर्तापने को प्राप्त हो॥ ३२८॥
अथवा करे यह जीव पुद्गल दरब के मिथ्यात्व को।
मिथ्यात्वमय पुद्गल दरब ही सिद्ध होगा जीव ना॥ ३२९॥
यदि जीव प्रकृति उभय मिल मिथ्यात्वमय पुद्गल करे।
फल भोगना होगा उभय को उभयकृत मिथ्यात्व का॥ ३३०॥
यदि जीव प्रकृति ना करें मिथ्यात्वमय पुद्गल दरव।
मिथ्यात्वमय पुद्गल सहज, क्या नहीं यह मिथ्या कहो?॥ ३३१॥

मोहनीयकर्म की मिथ्यात्व नामक कर्मप्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है, बनाती है; - यदि ऐसा माना जाये तो तुम्हारे मत में अचेतनप्रकृति जीव के मिथ्यात्वभाव की कर्त्ता हो गई। इसकारण मिथ्यात्वभाव भी अचेतन सिद्ध होगा।

अथवा यह जीव पुद्गलद्रव्यरूप मिथ्यात्व को करता है - यदि ऐसा माना जाये तो पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा, जीव नहीं।

अथवा जीव और प्रकृति - दोनों मिलकर पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वभावरूप करते हैं - यदि ऐसा माना जाये तो जो कार्य दोनों के द्वारा किया गया, उसका फल दोनों को ही भोगना होगा।

अथवा पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वभावरूप न तो प्रकृति करती है और न जीव करता है अर्थात् दोनों में से कोई भी नहीं करता है - यदि ऐसा माना जाय तो पुद्गलद्रव्य स्वभाव से ही मिथ्यात्वभावरूप सिद्ध होगा। - क्या यह वास्तव में मिथ्या नहीं है?

इससे यही सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभाव का कर्त्ता जीव स्वयं ही है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जीव ही मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्त्ता है; क्योंकि यदि भावकर्मों को अचेतन प्रकृति का कार्य माना जाय तो उन्हें (भावकर्मों को) अचेतनत्व प्रसंग आयेगा।

जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्त्ता है; क्योंकि यदि जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्त्ता होवे तो पुद्गलद्रव्य को चेतनत्व का प्रसंग आयेगा।

जीव और प्रकृति - दोनों मिलकर मिथ्यात्वादि भावकर्मों के कर्त्ता हों - ऐसा भी नहीं हो सकता; क्योंकि यदि वे दोनों कर्त्ता होवें तो जीव की भाँति अचेतनप्रकृति को भी उन भावकर्मों का फल भोगने का प्रसंग आ जावेगा।

और यदि ऐसा माना जावे कि जीव और प्रकृति - दोनों ही मिथ्यात्वादि भावकर्मों के अकर्त्ता हैं तो भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनों ही अकर्त्ता हों तो फिर पुद्गलद्रव्य को स्वभाव से ही मिथ्यात्वादि भावों का प्रसंग प्राप्त होगा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव ही अपने मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्त्ता है और वे भावकर्म उसके ही कर्म हैं।"

इन गाथाओं और टीका का भाव स्पष्ट करते हुए जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"इन गाथाओं में यह सिद्ध किया है कि भावकर्म का कर्ता जीव ही है। यहाँ यह जानना चाहिये कि परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता; इसलिये जो चेतन के भाव हैं, उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है।

इस जीव के अज्ञान से जो मिथ्यात्वादि भावरूप जो परिणाम हैं; वे चेतन हैं, जड़ नहीं; अशुद्धनिश्चयनय से उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है।

इसप्रकार वे परिणाम चेतन हैं, इसलिये उनका कर्ता भी चेतन ही है; क्योंकि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होता है - यह परमार्थ है।

अभेददृष्टि में तो जीव शुद्धचेतनामात्र ही है, किन्तु जब वह कर्म के निमित्त से परिणमित होता है, तब वह उन-उन परिणामों से युक्त होता है और तब परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव ही है। अभेददृष्टि में तो कर्ता-कर्मभाव ही नहीं है, शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है। इसप्रकार यथार्थतया समझना चाहिये कि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है।"

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में उक्त चार गाथाओं के स्थान पर पाँच गाथायें हैं और उनकी उत्थानिका वे इसप्रकार लिखते हैं -

"यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से शुद्धबुद्धएकस्वभाव होने से जीव कर्मों का अकर्त्ता है; तथापि अशुद्धनिश्चयनय से रागादिभावकर्मों का वह जीव ही कर्त्ता है, पुद्गल जीव के रागादिभावों का कर्त्ता नहीं है - अब ऐसा कहते हैं।

यहाँ पाँच गाथाओं में से प्रत्येक गाथा के पूर्वार्द्ध में सांख्यमतानुयायी शिष्य का पूर्वपक्ष रखा गया है और प्रत्येक गाथा के उत्तरार्द्ध में उसका परिहार किया गया है - ऐसा जानना चाहिए।"

उक्त पाँच गाथाओं में आत्मख्याति की ३२८वीं गाथा के बाद तात्पर्यवृत्ति में आनेवाली जो गाथा आत्मख्याति में नहीं है; वह इसप्रकार है -

सम्मत्ता जदि पयडि सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो॥

(हरिगीत)

सम्यक्त्व नामक प्रकृति सम्यक्त्वी करे यदि जीव को।
फिर तो अचेतन प्रकृति ही कर्त्तापने को प्राप्त हो॥

मोहनीयकर्म की सम्यक्त्व नामक कर्मप्रकृति आत्मा को सम्यग्दृष्टि करती है, बनाती है; - यदि ऐसा माना जाय तो तुम्हारे मत में अचेतन प्रकृति जीव के सम्यक्त्वभाव की कर्त्ता हो गई।

इस गाथा के ऊपर जो गाथा आई है, उसमें यह कहा गया है कि मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व नामक कर्मप्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है, बनाती है - यदि ऐसा माना जाय तो तुम्हारे मत में अचेतन प्रकृति जीव के मिथ्यात्वभाव की कर्त्ता हो गई और इस गाथा में उसी तर्ज पर यह कहा गया है कि मोहनीयकर्म की सम्यक्त्व नामक कर्मप्रकृति आत्मा को सम्यग्दृष्टि करती है, बनाती है - यदि ऐसा माना जाय तो तुम्हारे मत में अचेतनप्रकृति जीव के सम्यक्त्व भाव की कर्त्ता हो गई।

इसप्रकार उक्त दोनों गाथायें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के सन्दर्भ में लगभग समान ही हैं। यद्यपि मिथ्यात्वप्रकृति से मिथ्यादृष्टि कहना तो कदाचित् ठीक भी लगता है, पर सम्यक्त्वप्रकृति से सम्यग्दृष्टि कहना तो अटपटा ही लगता है; क्योंकि मिथ्यात्व श्रद्धागुण का विकारी परिणमन है और सम्यक्त्व श्रद्धागुण का निर्मल परिणमन है; तथापि अधिक विकल्प करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उक्त दोनों ही कथन यहाँ पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं और दोनों का ही निराकरण किया गया है। कहा गया है कि न तो मिथ्यात्व नामक कर्मप्रकृति मिथ्यात्व की कर्त्ता है और न सम्यक्त्वप्रकृति नामक कर्मप्रकृति सम्यक्त्व की कर्त्ता है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व - दोनों ही भावों का कर्त्ता विभिन्न न्यों से आत्मा ही है।

उक्त गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति टीका में उक्त विषयवस्तु की सयुक्ति चर्चा करते हुए अन्त में जो निष्कर्ष दिया गया है, वह इसप्रकार है-

"यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से जीव शुद्ध ही है; तथापि पर्यायार्थिकनय से कथंचित् परिणामी होने से अनादि कर्मोदय के वश से स्फटिकपाषाण के समान

रागादिरूप औपाधिकभावों को ग्रहण करता है, उनरूप परिणमित होता है। यदि जीव एकान्त से अपरिणामी हो तो फिर औपाधिकभाव घटित ही नहीं होंगे।

स्फटिकपाषाण में जपापुष्प की उपाधिरूप परिणमन करने की शक्ति होने से स्फटिक में जपापुष्प के सान्निध्य में उपाधि उत्पन्न होती है; परन्तु काष्ठादिक में उस ही जपापुष्प के सान्निध्य में उपाधि उत्पन्न नहीं होती; क्योंकि काष्ठादिक में उस उपाधिरूप परिणमन की शक्ति नहीं है।

इसप्रकार यदि द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृति कर्त्ता बनकर एकान्त से भावमिथ्यात्व को करती हो तो फिर जीव भावमिथ्यात्व का कर्त्ता नहीं होगा। और जब भावमिथ्यात्व नहीं होगा तो कर्मों के बंध का भी अभाव होगा और कर्मों के बंध के अभाव में संसार का भी अभाव सिद्ध होगा। - यह बात प्रत्यक्षविरुद्ध है।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यही है कि अनादि कर्मोदय के वशीभूत जीव में ही कथंचित् ऐसी योग्यता है कि वह कर्मोदय में रागादिभावरूप परिणमित होता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का अभिप्राय स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"अब यहाँ आगम व युक्ति से यह सिद्ध करते हैं कि भावकर्मों का कर्ता जीव ही है, अन्य कोई नहीं। भाई ! जो विकार होता है, वह अपनी स्वयं की भूल से ही होता है, स्वयं को भूल गया - यही सबसे बड़ी भूल है। अन्दर में स्वयं चिदानन्द भगवान ज्ञायकस्वरूप है। उसे भूलकर स्वयं ही षट्कारकों से पर्याय में मिथ्यात्वादि विकारीभाव करता है।[१]

विकारीभावों का कर्ता जीव स्वयं ही है; क्योंकि यदि वे भावकर्म अचेतनप्रकृति के कार्य हों तो उन भावकर्मों को अचेतनपने का प्रसंग प्राप्त होगा, किन्तु विकारी परिणाम अचेतन नहीं है। यह तो चैतन्य की ही विकारीदशा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ - १८६-१८७

प्रश्न : विकारी परिणामों को अन्यत्र अचेतन - जड़ कहा है न?

उत्तर : हाँ, कहा है; परन्तु वहाँ दूसरी अपेक्षा से कथन है। वहाँ अचेतनप्रकृति के लक्ष्य से होने के कारण विकारी भावों को अचेतन कहा गया है तथा वे विकारी भाव जीव के स्वभाव नहीं हैं, इसलिये उन्हें अचेतन कहकर वहाँ से लक्ष्य हटाया है। अज्ञानी जीव विकार को अपना स्वभाव मानता है न? उससे कहते हैं विकारी परिणाम जड़ हैं। वे आत्मा का स्वभाव कैसे हो सकते हैं ?

यहाँ राग-द्वेष के विकारी भावों को जो चेतन कहा है, उसका कारण यह है कि ये विकारी भाव जड़ परमाणुरूप नहीं है, किन्तु यह तो जीव की ही अरूपी विकृतदशा है। भावकर्मों को यदि अचेतन कर्मप्रकृति करे तो वह जड़-अचेतन हो जाये; परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये राग-द्वेष और मिथ्याश्रद्धान आदि विकारी भावों का कर्ता जीव ही है - ऐसा सिद्ध हुआ।

अब इसी का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं - पुद्गलद्रव्य में अर्थात् कर्मप्रकृतियों में यदि मिथ्यात्वादि विकारी परिणाम हों तथा उनका कर्ता जीव हो तो पुद्गलकर्मप्रकृतियों के चेतनपने का प्रसंग प्राप्त होगा, जड़प्रकृति के परिणाम चेतनमय हो जायेंगे, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है। इसलिये जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्ता है, पुद्गलद्रव्य के परिणामों का कर्ता नहीं है - ऐसा सिद्ध हुआ।

उपर्युक्त कथन से दो बातें सिद्ध हुईं -

१. अपने मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्ता जीव ही है, जड़प्रकृति नहीं।

२. जीव अपने भावकर्मों का कर्ता है, किन्तु जड़प्रकृति के परिणामों का कर्ता नहीं है।

अब कहते हैं कि जिसतरह हल्दी और चूना मिलने से लाल रंग हो जाता है, उसीतरह जीव और कर्मप्रकृति - दोनों मिलकर जीव के विकारी भावों को करते हैं; - ऐसा मानें तो जीव की ही भाँति अचेतनप्रकृति को भी उन भावकर्मों का फल भोगने का प्रसंग प्राप्त होगा, जो संभव नहीं है; क्योंकि भावकर्मों का फल तो एकमात्र जीव ही भोगता है। इसलिये जीव व

कर्मप्रकृतियाँ - दोनों मिलकर विकार करते हैं - यह कहना/मानना ठीक नहीं है। ऐसा मानने से दोनों ही के मिथ्यात्वादि भावों का प्रसंग प्राप्त होगा अर्थात् मिथ्यात्वभाव से परिणमना पुद्गल का भी स्वभाव ठहरेगा।

इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि जीव अपने मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्ता है और स्वयं के भावकर्म ही जीव के कार्य हैं।[१]

प्रश्न : यहाँ एकओर विकारी भावों को चेतन के भाव कहा है, जबकि गाथा ५० से ५५ में इन्हीं भावों को पुद्गल के परिणाम कहा है - यह कथन किस अपेक्षा से है?

उत्तर : देखो, जो ये विकारी भाव हैं, वे चेतन की पर्याय के अस्तित्व में होते हैं। इसकारण वे चेतन के भाव हैं - ऐसा यहाँ कहा है; परन्तु वे चैतन्य के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु विभावभाव हैं तथा पुद्गल के - द्रव्यकर्म के उदय के संग में होते हैं। स्वभाव की दृष्टि होने पर नष्ट हो जाते हैं, इसकारण वे जीव के नहीं हैं, किन्तु पुद्गल के हैं - ऐसा ५०वीं गाथा से ५५वीं गाथा में कहा है। स्वभाव की दृष्टि होने पर विकार का भाव अपनी अनुभूति से भिन्न ही रह जाता है।

इसप्रकार अपने को भूलकर अज्ञानवश जो मिथ्यात्वादि विभावरूप परिणाम होते हैं, वे चेतन के भाव हैं और उनका कर्ता भी चेतन ही है, अन्य पुद्गलद्रव्य नहीं।

यही कहते हैं - देखो, जीव का ज्ञान-दर्शन रूप जो उपयोग है, उसे चेतन कहते हैं, ज्ञान-दर्शन के सिवाय इसके जो अनंत गुण हैं, उन्हें अचेतन कहा है; क्योंकि वे अन्य गुण स्वयं को तो जानते ही नहीं हैं, पर को भी नहीं जानते। इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से शास्त्र में कथन आता है। उसे यथार्थ जानना चाहिए। अचेतन के भी जुदे-जुदे प्रकार हैं।

शरीर, मन, वाणी आदि अचेतन हैं। पुण्य-पाप और मिथ्यात्व के जो भाव जीव के होते हैं, उन्हें भी शुद्ध चैतन्य की अपेक्षा से अचेतन कहा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १८७-१८८

जीव के ज्ञान-दर्शन के उपयोग की अपेक्षा अन्य गुणों को अचेतन कहा है; क्योंकि अन्य गुणों में जानने-देखने रूप उपयोग की शक्ति नहीं है।

परन्तु यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ दूसरी बात है। यहाँ तो मिथ्यात्व और पुण्य-पाप आदि विकारी भाव जीव की पर्याय के अस्तित्व में होते हैं, इसकारण उन्हें चेतन कहा है और उनके चेतन होने से उनका कर्ता चेतन ही है - ऐसा सिद्ध किया है।

अब कहते हैं कि अन्दर में तो वस्तु त्रिकाल एकरूप चिद्रूप है। उसे अभेददृष्टि से देखें तो वह शुद्ध चेतना मात्र ही है; परन्तु जब वह कर्म के निमित्त से परिणमित होती है, तब वह विकारी परिणामों से युक्त होती है और तभी परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव स्वयं ही होता है। ये पुण्य-पाप आदि विकारी भाव जो हुये, वे परिणाम और जीव परिणामी - ऐसी भेददृष्टि में अपने पुण्य-पापादि भावों का कर्ता जीव ही है।

अभेददृष्टि में तो कर्ता-कर्म भाव है ही नहीं। जीव वस्तु शुद्ध चेतनामात्र ही है। अभेददृष्टि में तो रागादि विकार हैं ही नहीं। ज्यों ही चिदानन्द चैतन्यस्वरूप की अभेददृष्टि हुई, त्यों ही कर्ता-कर्म भाव का अभाव हो जाता है।

इसप्रकार यथार्थ रीति से समझ लेना चाहिए कि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है। ऐसी स्वतंत्रता को स्वीकार करके अन्य द्रव्य, गुण, पर्यायों पर से दृष्टि हटाकर द्रव्यदृष्टि प्रगट करना - बस, इस कथन का यही एक तात्पर्य है।[१]''

इसप्रकार उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह ही है कि यद्यपि यह भगवान आत्मा परमशुद्धनिश्चयनय से अकर्त्ता-अभोक्ता ही है; तथापि अशुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा कर्मोदय के निमित्तानुसार होनेवाले रागादि भावकर्मों रूप भी परिणमित होता है, रागादि औपाधिकभावों का कर्त्ता-भोक्ता भी होता है।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १९०-१९१

(शार्दूलविक्रीडित)

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः॥ २०३॥

(रोला)

अरे कार्य कर्त्ता के बिना नहीं हो सकता,
भावकर्म भी एक कार्य है सब जग जाने।
और पौद्गलिक प्रकृति सदा ही रही अचेतन;
वह कैसे कर सकती चेतन भावकर्म को॥
प्रकृति-जीव दोनों ही मिलकर उसे करें यदि
तो फिर दोनों मिलकर ही फल क्यों न भोगें ?
भावकर्म तो चेतन का ही करे अनुसरण,
इसकारण यह जीव कहा है उनका कर्त्ता॥ २०३॥

भावकर्म कार्य है, इसकारण वह अकृत नहीं हो सकता, उसका कर्त्ता कोई न कोई अवश्य होना चाहिये; क्योंकि कार्य कर्त्ता के बिना नहीं होता। वह भावकर्मरूप कार्य जीव और पौद्गलिक प्रकृति - इन दोनों के द्वारा मिलकर किया हुआ कार्य भी नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा मानने पर 'जो कर्त्ता सो भोक्ता' - इस नियम के अनुसार जड़प्रकृति को भी उसके फल को भोगने का प्रसंग प्राप्त होगा। प्रकृति का अचेतनत्व तो प्रगट ही है और भावकर्म चेतन है; इसलिए वह चिद्विलासरूप भावकर्म अकेली प्रकृति का भी कार्य नहीं हो सकता। पुद्गल तो ज्ञाता नहीं है; इसलिए चेतन का अनुसरण करनेवाले भावकर्म का कर्त्ता चेतन जीव ही है और वह भावकर्म जीव का ही कर्म है।

उक्त कलश के भाव को स्पष्ट करने के लिए कविवर बनारसीदासजी ने प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया है। इसके भाव को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आठ दोहे लिखे हैं। उन आठ दोहों में आरंभ तीन दोहों में प्रश्न खड़े किये हैं और शेष पाँच दोहों में उनके उत्तर दिये हैं। अत्यन्त सरल भाषा और सुबोध शैली में किया गया उनका स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

(दोहा)

प्रश्न : शिष्य कहै प्रभु तुम कह्यौ, दुबिधि करम कौ रूप।
दरब कर्म पुद्गल मई, भावकर्म चिद्रूप॥
करता दरवित करम कौ, जीव न होइ त्रिकाल।
अब यह भावित करम तुम, कहौ कौन की चाल॥
करता याकौ कौन है, कौन करै फल भोग।
कै पुद्गल कै आतमा, कै दुहुं कौ संजोग?॥

शिष्य प्रश्न करता है कि हे प्रभु! आपने ऐसा बताया है कि कर्म दो प्रकार का होता है। उसमें द्रव्यकर्म तो पौद्गलिक है और भावकर्म चैतन्यरूप है।

उक्त दोनों कर्मों में अचेतन द्रव्यकर्मों का कर्त्ता तो जीव त्रिकाल में भी नहीं हो सकता है; पर अब आप तो यह बताइये कि इन भावकर्मों का कर्त्ता कौन है और इनके फल को भी कौन भोगता है ? इन भावकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता अचेतन पुद्गल है या चेतन जीव है या फिर दोनों का संयोग है अर्थात् दोनों मिलकर भोगते हैं ?

(दोहा)

उत्तर : क्रिया एक करता जुगल, यौं न जिनागम मांहि।
अथवा करनी और की, और करै यौं नांहि॥
करै और फल भोगवै, और बनै नहि एम।
जो करता सो भोगता, यहै जथावत जेम॥
भावकरम करतव्यता, स्वयंसिद्ध नहि होइ।
जो जग की करनी करै, जगवासी जिय सोई॥
जिय करता जिय भोगता, भावकरम जियचाल।
पुद्गल करै न भोगवै, दुविधा मिथ्याजाल॥
तातैं भावित करम कौं, करै मिथ्याती जीव।
सुख दुख आपद संपदा, भुंजै सहज सदीव॥

श्री गुरु उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह बात तो जिनागम में है ही नहीं कि एक क्रिया के कर्त्ता दो हों या दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया करें। किसी द्रव्य की क्रिया को अन्य द्रव्य करे — यह भी जिनागम को स्वीकार

नहीं है। इसीप्रकार कोई करे और कोई अन्य उसका फल भोगे — यह भी संभव नहीं है; क्योंकि यथायोग्य जो करे, वही भोगे; जिनागम को तो यही स्वीकार है।

भावकर्म भी एक कार्य है और वह स्वयंसिद्ध तो है नहीं; इसलिए जगवासी अज्ञानी जीव ही भावकर्मरूप जग का कर्त्ता है।

अधिक क्या कहें? भावकर्म जीव की परिणति है और जीव ही उसका कर्त्ता-भोक्ता है; पुद्गल उसका कर्त्ता-भोक्ता कदापि नहीं है। पुद्गल और जीव - दोनों मिलकर भावकर्मों को करते-भोगते हैं - यह बात भी मिथ्या है।

इसलिए निष्कर्ष यही है कि भावकर्म का कर्त्ता मिथ्यादृष्टि जीव ही है और वह ही तज्जन्य सुख-दुख और सम्पत्ति-विपत्ति को सदा ही भोगता है।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"ये जो पुण्य-पाप आदि भावकर्म हैं, वे कार्य हैं। जो कार्य होता है, वह अकृत नहीं होता, किसी के किये बिना नहीं होता। यह देखकर जिसप्रकार अन्य मतावलम्बी-ईश्वरवादी आदि इसे ईश्वरकृत मान लेते हैं; उसीप्रकार जैनदर्शन के अध्यात्म से अनभिज्ञ जन इन कार्यों का कर्ता जड़ कर्मों को मान लेते हैं। इसप्रकार दोनों ही विपरीत मान्यतावाले हैं। अतः यहाँ कहते हैं कि देखो, ये पुण्य-पाप आदि विकारी भाव जीव और जड़ कर्मप्रकृतियों में से किसी का भी कार्य नहीं है, दोनों का मिलकर किया हुआ भी नहीं है; क्योंकि यदि दोनों मिलकर करें तो जड़प्रकृति को भी अपने कार्य का फल भोगने का प्रसंग प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा है नहीं।[१]

यहाँ परमात्मा जिनेश्वर कहते हैं कि राग अज्ञानभाव से होता है, कर्म के कारण नहीं। राग को निज का माननेवाला पर्यायबुद्धि जीव राग को करता है। वह राग स्वयं से होता है, पर से नहीं।

जिसकी दृष्टि अपने त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर पड़ी है - ऐसा धर्मी ज्ञानी जीव राग का कर्ता नहीं है, अकर्ता ही है, ज्ञाता-दृष्टा ही है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १९२

एक ओर जीव को कर्ता कहना और दूसरी ओर उसे ही अकर्ता कहना - ये दोनों ही कथन जुदी-जुदी अपेक्षाओं से हैं। इसी का नाम तो स्याद्वाद है। अज्ञानवश जीव कर्ता है और अज्ञानता मिटते ही, ज्ञानभाव प्रगट होते ही जीव अकर्ता है।[१]''

इसप्रकार इस कलश में अनेक प्रकार की युक्तियाँ दे-देकर यह सिद्ध किया गया है कि मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता अज्ञानी आत्मा है; न तो ज्ञानी आत्मा ही इनका कर्त्ता-भोक्ता है और न पौद्गलिक कर्म ही इनको करता है।

अब आगामी गाथाओं के भाव का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते॥ २०४॥

(रोला)

कोई कर्ता मान कर्म को भावकर्म का,
आतम का कर्तृत्व उड़ाकर अरे सर्वथा।
और कथंचित् कर्त्ता आतम कहनेवाली;
स्याद्वादमय जिनवाणी को कोपित करते॥
उन्हीं मोहमोहितमतिवाले अल्पज्ञों के,
संबोधन के लिए सहेतुक स्याद्वादमय।
वस्तु का स्वरूप समझाते अरे भव्यजन,
अब आगे की गाथाओं में कुन्दकुन्द मुनि॥ २०४॥

कई लोग आत्मघाती एकान्तवादी रागादि विकारीभावों का कर्त्ता पौद्गलिककर्मों को ही मानकर आत्मा के कर्तृत्व को सर्वथा उड़ाकर 'आत्मा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १९३-१९४

रागादिभावों का कथंचित् कर्त्ता है' - ऐसा कहनेवाली श्रुति जिनवाणी को कोपित करते हैं; तीव्रमोह से मोहित बुद्धिवाले उन लोगों की बुद्धि की संशुद्धि के लिए आगामी गाथाओं में अनेकान्तमयी वस्तुस्थिति का विवेचन किया जाता है।

पाण्डे राजमलजी कलशटीका में इस कलश का अर्थ करते समय **श्रुति कोपिता** पद का अर्थ करते हुए कहते हैं कि कितने ही मिथ्यादृष्टि जीवों को ऐसा सुनने मात्र से अत्यन्त क्रोध उत्पन्न होता है।

आगामी प्रकरण की सूचना देनेवाले इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी दो छन्दों में इसप्रकार करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

केई मूढ़ विकल एकंतपच्छ गहैं कहैं,
आतमा अकरतार पूरन परम है।
तिन्हि सौं जु कोऊ कहै जीव करता है तासौं,
फेरि कहैं करम कौ करता करम है॥
ऐसै मिथ्यामगन मिथ्याती ब्रह्मघाती जीव,
जिन्हि कैं हिए अनादि मोह कौ भरम है।
तिन्हि कौं मिथ्यात दूर करिवै कौं गुरु,
स्यादवाद परवांन आतम धरम है॥

(दोहा)

चेतन करता भोगता, मिथ्या मगन अजान।
नहि करता नहिं भोगता, निहचै सम्यकवान॥

कई मूर्ख दु:खी लोग एकान्त पक्ष को ग्रहण करके कहते हैं कि आत्मा तो पूर्ण परमात्मा है और कर्मों का सर्वथा अकर्त्ता है। यदि उनसे कोई कहता है कि जीव ही कर्मों का कर्त्ता है तो उनसे वे फिर कहते हैं कि कर्मों के कर्त्ता तो कर्म ही हैं। इसप्रकार की मिथ्या मान्यताओं में मग्न ब्रह्मघाती (आत्मघाती) मिथ्यादृष्टियों का हृदय अनादि से मोहग्रस्त है, भ्रम में भूला हुआ है। उनकी मिथ्या मान्यता दूर करने के लिए यहाँ गुरुदेव कह रहे हैं कि आत्मधर्म स्याद्वादरूप है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन के अनुसार आत्मा रागादि भावकर्मों का कथंचित् कर्त्ता-भोक्ता है; और उक्त संदर्भ में स्याद्वाद ही प्रमाण है।

उक्त स्याद्वाद कथन के अनुसार मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव रागादिभावों का कर्त्ता-भोक्ता है और सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयनय से रागादिभावों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।

उक्त कलश का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं -

"कथंचित् कर्ता है - इसका अर्थ यह है कि जबतक अज्ञानी है, तबतक पुण्य-पाप आदि विकारीभावों का जीव कर्ता है, सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर आत्मज्ञान होने पर वह राग का अकर्ता है। यह स्याद्वाद है।[१]

जड़ शरीर का एवं वाणी आदि क्रियाओं का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं है। पूजा करते समय जो हाथ पसार कर अष्ट द्रव्य चढ़ाता है और मुख से स्वाहा बोलता है, प्रवचन करता है आदि सभी क्रियायें जड़ की क्रियायें हैं। उनका कर्ता तो जीव अज्ञानभाव से भी नहीं है। मात्र पर की ओर लक्ष्य जाने पर जो राग होता है, उस राग पर जिसकी दृष्टि है - ऐसा अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से उस राग का कर्ता है तथा जिसकी दृष्टि राग से हटकर अन्दर चित्स्वभाव पर चली जाती है, वह ज्ञानी जीव उस राग का कर्ता नहीं है।

देखो, अन्य मतवाले जगत का कर्ता ईश्वर को मानते हैं, जबकि कोई जैनमतवाला (जैनाभासी) राग का कर्ता जड़कर्मों को मानता है। वे दोनों एक ही जाति की मान्यतावाले मिथ्यादृष्टि हैं। वे आत्मघाती हैं; क्योंकि विपरीत मान्यता से वे निरंतर निज आत्मद्रव्य की हिंसा ही करते हैं। उन पर जिनवाणी का कोप है। जिनवाणी आत्मा को कथंचित् कर्ता कहती है और यह अज्ञानी एकान्ती आत्मा को सर्वथा अकर्ता ही मानता है। इसकारण उस पर जिनवाणी का कोप है अर्थात् वह जिनवाणी का विराधक है - ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।[२]

भाई ! यह किसी पक्ष विशेष की बात नहीं है। यह तो वस्तुस्थिति है; जो आगम से व युक्ति से निर्बाध सिद्ध है। फिर भी यदि कोई ऐसा मानता है कि आत्मा सर्वथा अकर्ता ही है तो वह मिथ्यामान्यता से ग्रस्त है। उसकी उस

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १९५
२. वही, पृष्ठ १९७-१९८

मिथ्यामान्यता के निवारणार्थ अब आचार्य भगवान आगामी गाथाओं में वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन करते हैं।[१]"

आगामी तेरह गाथाओं के सूचक इस कलश काव्य में यही कहा गया है कि जैनदर्शन स्याद्वादी दर्शन है और उसके अनुसार अज्ञानी आत्मा रागादिभावरूप भावकर्मों का कर्त्ता है और ज्ञानी आत्मा इनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। इसे नय लगाकर बात करें तो इसप्रकार भी कह सकते हैं कि अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा रागादिभावों का कर्त्ता-भोक्ता है और शुद्धनिश्चयनय से वह इनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ १९९

वस्तुस्वरूप हमारे ही पक्ष में है

द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्यस्वभाव अपरिवर्तनशील एवं पर्यायार्थिकनय का विषयभूत पर्यायस्वभाव परिवर्तनशील है। हमारी आत्मवस्तु का जो अंश (द्रव्यांश) अपरिवर्तनशील है, वह शुद्ध-बुद्ध है, अजर-अमर है, परिपूर्ण है; तथा जो अंश (पर्यायांश) परिवर्तनशील है, वह वर्तमान में अशुद्ध है, विकृत है, अपूर्ण है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि वस्तु का स्वरूप हमारे ही पक्ष में है; क्योंकि जो हमें इष्ट है, वह अपरिवर्तनशील है, शाश्वत है तथा जो अनिष्ट है, जिसे हम स्वयं बदलना चाहते हैं, वह परिवर्तनशील है, क्षणभंगुर है।

जिसप्रकार अपरिवर्तनशील शुद्ध-बुद्ध तत्त्व हमें निर्भय बनाता है, दीनता का भाव उत्पन्न नहीं होने देता; उसीप्रकार परिवर्तनशील विकार भी हमें आश्वस्त करता है कि चिन्ता की कोई बात नहीं है, क्योंकि अशुद्धता शाश्वत नहीं है। संयोगों और विकारों की क्षणभंगुरता सहज ही वैराग्योत्पादक एवं वीतरागता की पोषक होती है।

— परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ २११-२१२

समयसार गाथा ३३२-३४४

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं॥३३२॥
कम्मेहि सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव॥३३३॥
कम्मेहि भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च।
कम्मेहि चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि॥३३४॥
जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदि त्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारगा होंति आवण्णा॥३३५॥
पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी॥३३६॥
तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी दु अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणिदं॥३३७॥
जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडी।
एदेणत्थेण किर भण्णदि परघादणामेत्ति॥३३८॥
तम्हा ण को वि जीवो वघादेओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इवि भणिदं॥३३९॥
एवं संखुवएसं जे उ परूवेंति एरिसं समणा
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारगा सव्वे॥३४०॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणे कुणदि।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स॥३४१॥
अप्पा णिच्चोऽसंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि।
ण वि सो सक्कदि तत्तो हिणो अहिओ य कादुं जे॥३४२॥
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणदि दव्वं॥३४३॥
अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अच्छदे त्ति मदं।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु समयप्पणो कुणदि॥३४४॥

(हरिगीत)

कर्म अज्ञानी करे अर कर्म ही ज्ञानी करे।
जिय को सुलावे कर्म ही अर कर्म ही जागृत करे॥ ३३२॥
कर्म करते सुखी एवं दुखी करते कर्म ही।
मिथ्यात्वमय कर्महि करे अर असंयमी भी कर्म ही॥ ३३३॥
कर्म ही जिय भ्रमाते हैं उर्ध्व-अध-तिरलोक में।
जो कुछ जगत में शुभ-अशुभ वह कर्म ही करते रहें॥ ३३४॥
कर्म करते कर्म देते कर्म हरते हैं सदा।
यह सत्य है तो सिद्ध होंगे अकारक सब आतमा॥ ३३५॥
नरवेद है महिलाभिलाषी नार चाहे पुरुष को।
परम्परा आचार्यों से बात यह श्रुतपूर्व है॥ ३३६॥
अब्रह्मचारी नहीं कोई हमारे उपदेश में।
क्योंकि ऐसा कहा है कि कर्म चाहे कर्म को ३३७॥
जो मारता है अन्य को या मारा जावे अन्य से।
परघात नामक कर्म की ही प्रकृति का यह काम है॥ ३३८॥
परघात करता नहीं कोई हमारे उपदेश में।
क्योंकि ऐसा कहा है कि कर्म मारे कर्म को॥ ३३९॥
सांख्य के उपदेश सम जो श्रमण प्रतिपादन करें।
कर्ता प्रकृति उनके यहाँ पर है अकारक आतमा॥ ३४०॥
या मानते हो यह कि मेरा आत्मा निज को करे।
तो यह तुम्हारा मानना मिथ्यास्वभावी जानना॥ ३४१॥
क्योंकि आतम नित्य है एवं असंख्य-प्रदेशमय।
ना उसे इससे हीन अथवा अधिक करना शक्य है॥ ३४२॥
विस्तार से भी जीव का जीवत्व लोकप्रमाण है।
ना होय हीनाधिक कभी कैसे करे जिय द्रव्य को ३४३॥
यदी माने रहे ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव में।
तो भी आतम स्वयं अपने आतमा को ना करें॥ ३४४॥

जीव कर्मों द्वारा अज्ञानी किया जाता है और कर्मों द्वारा ही ज्ञानी भी किया जाता है, कर्मों द्वारा सुलाया जाता है और कर्मों द्वारा ही जगाया जाता है, कर्मों

द्वारा ही सुखी किया जाता है और कर्मों द्वारा ही दुखी किया जाता है; कर्म ही उसे मिथ्यात्व को प्राप्त कराते हैं और कर्म ही असंयमी बनाते हैं।

इस जीव को कर्मों द्वारा ही उर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का भ्रमण कराया जाता है। अधिक क्या कहें, जो कुछ भी शुभ और अशुभ है, वह सब कर्म ही करते हैं।

इसप्रकार कर्म ही करता है, कर्म ही देता है और कर्म ही हर लेता है; जो कुछ भी करता है, वह सब कर्म ही करता है। इसप्रकार सभी जीव सर्वथा अकारक ही सिद्ध होते हैं।

पुरुषवेदकर्म स्त्री का अभिलाषी है और स्त्रीवेदकर्म पुरुष की अभिलाषा करता है - ऐसी यह आचार्यों की परम्परागत श्रुति है। इसप्रकार हमारे उपदेश में तो कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है; क्योंकि कर्म ही कर्म की अभिलाषा करता है - ऐसा कहा है।

जो पर को मारता है और जो पर के द्वारा मारा जाता है; वह प्रकृति है, जिसे परघात नामक कर्म कहा जाता है। इसलिए हमारे उपदेश में कोई जीव उपघातक (मारनेवाला) नहीं है; क्योंकि कर्म ही कर्म को मारता है - ऐसा कहा गया है।

ऐसे सांख्यमत का उपदेश जो श्रमण (जैन मुनि) प्ररूपित करते हैं, उनके मत में प्रकृति ही करती है; आत्मा तो पूर्णत: अकारक है - ऐसा सिद्ध होता है।

अथवा यदि तुम यह मानते हो कि मेरा आत्मा अपने द्रव्यरूप आत्मा को करता है तो तुम्हारा यह मानना मिथ्या है; क्योंकि सिद्धान्त में आत्मा को नित्य और असंख्यातप्रदेशी बताया गया है, वह उससे हीन या अधिक नहीं हो सकता और विस्तार की अपेक्षा भी जीव को जीवरूप निश्चय से लोकमात्र जाने; क्या वह उससे हीन या अधिक होता है; यदि नहीं तो फिर वह द्रव्य को कैसे करता है?

अथवा ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव में स्थित रहता है - यदि ऐसा माना जाय तो इससे आत्मा स्वयं अपने आत्मा को नहीं करता - यह सिद्ध होगा।

इसप्रकार कर्तृत्व को सिद्ध करने के लिए विवक्षा बदलकर जो बात कही गई है, वह भी घटित नहीं होती।

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि यदि भावकर्म का कर्त्ता कर्म को ही माना जाय तो स्याद्वाद के साथ विरोध आता है; इसकारण आत्मा को अज्ञान अवस्था में अपने अज्ञानभावरूप भावकर्म का कर्त्ता कथंचित् स्वीकार करना ही सही है; क्योंकि इसमें स्याद्वाद का विरोध नहीं आता।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में सयुक्ति इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है; क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के बिना अज्ञान की अनुपपत्ति है। कर्म ही आत्मा को ज्ञानी करता है; क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही सुलाता है; क्योंकि निद्रा नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही जगाता है; क्योंकि निद्रा नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है।

कर्म ही सुखी करता है; क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही दु:खी करता है; क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही मिथ्यादृष्टि करता है; क्योंकि मिथ्यात्वकर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है।

कर्म ही असंयमी करता है; क्योंकि चारित्रमोह नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। कर्म ही ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में और तिर्यग्लोक में भ्रमण कराता है; क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। दूसरा भी जो कुछ जितना शुभ-अशुभ है, वह सब कर्म ही करता है; क्योंकि प्रशस्त-अप्रशस्त राग नामक कर्म के उदय के बिना उनकी अनुपपत्ति है।

इसप्रकार सबकुछ स्वतंत्रतया कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है; इसलिये हम यह निश्चय करते हैं कि सभी जीव सदा एकान्त से अकर्ता ही हैं और श्रुति (भगवान की वाणी, शास्त्र) भी इसी अर्थ को कहती है; क्योंकि (वह श्रुति) 'पुरुषवेद नामक कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है

और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है' - इस वाक्य से कर्म को ही कर्म की अभिलाषा के कर्तृत्व के समर्थन द्वारा जीव को अब्रह्मचर्य के कर्तत्व का निषेध करती है तथा 'जो पर को हनता है और जो पर के द्वारा हना जाता है; वह परघातकर्म है' - इस वाक्य से कर्म को ही कर्म के घात का कर्तृत्व होने के समर्थन द्वारा जीव के घात के कर्तृत्व का निषेध करती है और इसप्रकार (अब्रह्मचर्य के तथा घात के कर्तृत्व के निषेध द्वारा) जीव का सर्वथा ही अकर्तृत्व बतलाती है।

इसप्रकार ऐसे सांख्यमत को, अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के अपराध से सूत्र के अर्थ को न जाननेवाले कुछ श्रमणाभास प्ररूपति करते हैं; उनकी एकान्त से प्रकृति के कर्तृत्व की मान्यता से समस्त जीवों के एकान्त से अकर्तृत्व आ जाता है। इसलिये 'जीव कर्ता है' - ऐसी जो श्रुति है, उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है।

'कर्म आत्मा के पर्यायरूप अज्ञानादि सर्व भावों को करता है और आत्मा तो आत्मा को ही करता है, इसलिये जीव कर्ता है; इसप्रकार श्रुति का कोप नहीं होता' - ऐसा जो अभिप्राय है, वह भी मिथ्या ही है; क्योंकि जीव तो द्रव्यरूप से नित्य है, असंख्यात-प्रदेशी है और लोक परिमाण है। उसमें नित्य का कार्यत्व नहीं बन सकता; क्योंकि कृतकत्व और नित्यत्व के एकत्व का विरोध है।

अवस्थित असंख्य-प्रदेशवाले एक (आत्मा) को पुद्गलस्कन्ध की भाँति, प्रदेशों के प्रक्षेपण-आकर्षण द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता; क्योंकि प्रदेशों का प्रक्षेपण तथा आकर्षण हो तो उसके एकत्व का व्याघात हो जायेगा।

स्कन्ध अनेक परमाणुओं का बना हुआ है, इसलिये उसमें से परमाणु निकल जाते हैं तथा उसमें आते भी हैं; परन्तु आत्मा निश्चित असंख्यात-प्रदेशवाला एक ही द्रव्य है, इसलिये वह अपने प्रदेशों को निकाल नहीं सकता तथा अधिक प्रदेशों को ले नहीं सकता।

और सकल लोकरूपी घर के विस्तार से परिमित जिसका निश्चित निजविस्तार-संग्रह है (अर्थात् जिसका लोक जितना निश्चित माप है) उसके

(- आत्मा के) प्रदेशों के संकोच-विकास द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता; क्योंकि प्रदेशों के संकोच-विस्तार होने पर भी, सूखे-गीले चमड़े की भाँति, निश्चित निज विस्तार के कारण उसे (आत्मा को) हीनाधिक नहीं किया जा सकता। इसप्रकार आत्मा के द्रव्यरूप आत्मा का कर्तृत्व नहीं बन सकता।

और 'वस्तुस्वभाव का सर्वथा मिटना अशक्य होने से ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से ही सदा स्थित रहता है और इसप्रकार स्थित रहता हुआ, ज्ञायकत्व और कर्तृत्व के अत्यन्त विरुद्धता होने से, मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता नहीं होता; और मिथ्यात्वादि भाव तो होते हैं; इसलिये उनका कर्ता कर्म ही है।

ऐसी जो वासना (अभिप्राय-झुकाव) प्रगट की जाती है, वह भी 'आत्मा आत्मा को करता है' इस (पूर्वोक्त) मान्यता का अतिशयतापूर्वक घात करती है; क्योंकि सदा ज्ञायक मानने से आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ।

इसलिये, ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है; इसलिये उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना चाहिए अर्थात् ऐसा स्वीकार करना कि वह कथंचित् कर्ता है; वह भी तबतक कि जबतक भेदविज्ञान के प्रारम्भ से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से पूर्ण होने के कारण आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव), विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञातृत्व के कारण साक्षात् अकर्ता नहीं हो जाता।''

तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन भी इन गाथाओं का ऐसा ही अर्थ करते हैं; तथापि हिंसादि के सन्दर्भ में नयविभागपूर्वक किया गया उनका कथन बहुत ही मार्मिक है; जो यहाँ पाठकों के लाभार्थ दिया जा रहा है -

''कोई कहता है कि जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न माने तो जब जीव का विनाश नहीं होता है तो प्राणों का भी विनाश नहीं होगा -

ऐसी स्थिति में हिंसा कैसे संभव है? और यदि प्राण जीव से भिन्न हैं तो प्राणों के नाश होने पर भी जीव का तो कुछ बिगड़ता नहीं; अत: इस स्थिति में भी हिंसा नहीं हुई।

इसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि तुम्हारा यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि कायादि प्राणों के साथ जीव का कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद।

जिसप्रकार तपे हुए लोहे के गोले से अग्नि को उसीसमय पृथक् नहीं किया जा सकता; उसीप्रकार वर्तमान काल में कायादि प्राणों को जीव से पृथक् नहीं किया जा सकता; इसलिए व्यवहारनय से कायादि प्राणों का जीव से अभेद है; किन्तु मरणकाल में कायादि प्राण जीव के साथ नहीं जाते; इसकारण निश्चयनय से कायादि प्राणों के साथ जीव का भेद है।

यदि एकान्त से जीव और कायादि में भेद स्वीकार किया जाय तो जिसप्रकार दूसरे की काया के छेदने-भेदने पर अपने को दु:ख नहीं होता; उसीप्रकार अपनी काया को छिन्न-भिन्न करने पर भी दु:ख नहीं होना चाहिए; किन्तु ऐसा तो नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

प्रश्न : ऐसा होने पर भी यह हिंसा तो व्यवहार से ही हुई, निश्चय से तो नहीं हुई?

उत्तर : आप ठीक कहते हैं - यह हिंसा व्यवहार से ही होती है तथा पाप और उसके फल में नरकादि गति के दु:खों की प्राप्ति भी व्यवहार से ही होती है - यह बात हमें स्वीकार ही है।

अब यदि आपको नरकादि के दु:ख इष्ट हों तो खूब हिंसा करिये और उनसे डर लगता हो तो व्यवहार हिंसा छोड़ दीजिये।

अत: यह निश्चित ही है कि जैनमत में सांख्यमत के समान आत्मा एकान्त से अकर्त्ता नहीं है; किन्तु रागादि विकल्परहित स्वानुभूति लक्षणवाले भेदज्ञान के काल में कर्मों का कर्त्ता नहीं है, शेषकाल में कर्मों का कर्त्ता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि यह आत्मा यद्यपि परमशुद्धनिश्चयनय से सभी कर्मों का अकर्त्ता ही है; तथापि अशुद्धनिश्चयनय

से रागादि भावकर्मों का और असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों तथा नोकर्मों का कर्त्ता भी है।

व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माननेवालों को आचार्य जयसेन के उक्त संकेत पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

इन सबके भाव को भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

"कितने ही जैनमुनि भी स्याद्वाद-वाणी को भलीभाँति न समझकर सर्वथा एकान्त का अभिप्राय रखते हैं और विवक्षा को बदलकर यह कहते हैं कि 'आत्मा तो भावकर्म का अकर्ता ही है, कर्मप्रकृति का उदय ही भावकर्म को करता है; अज्ञान, ज्ञान, सोना, जागना, सुख, दु:ख, मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियों में भ्रमण - इन सबको तथा जो कुछ भी शुभ-अशुभ भाव हैं, उन सबको कर्म ही करता है; जीव तो अकर्ता है।'

और वे मुनि शास्त्र का भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि वेद के उदय से स्त्री-पुरुष का विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृति के उदय से परस्पर घात होता है। - इसप्रकार जैसे सांख्यमतावलम्बी सबकुछ प्रकृति का ही कार्य मानते हैं और पुरुष को अकर्ता मानते हैं; उसीप्रकार अपनी बुद्धि के दोष से इन मुनियों की भी ऐसी ही ऐकान्तिक मान्यता हुई।

जिनवाणी तो स्याद्वादरूप है। अत: सर्वथा एकान्त को माननेवाले उन मुनियों पर जिनवाणी का कोप अवश्य होता है।

जिनवाणी के कोप के भय से यदि वे विवक्षा को बदलकर यह कहें कि भावकर्म का कर्ता कर्म है और अपने आत्मा का कर्ता आत्मा है; इसप्रकार हम आत्मा को कथंचित् कर्ता कहते हैं, इसलिये वाणी का कोप नहीं होता; तो उनका यह कथन भी मिथ्या ही है।

आत्मा द्रव्य से नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकपरिमाण है, इसलिये उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं है; और जो भावकर्मरूप पर्यायें हैं, उनका कर्ता तो वे मुनि कर्म को ही कहते हैं। इसलिये आत्मा तो अकर्ता ही रहा। तब फिर वाणी का कोप कैसे मिट गया? इसलिये आत्मा के कर्तृत्व-अकर्तृत्व

की विवक्षा को यथार्थ मानना ही स्याद्वाद को यथार्थ मानना है।

आत्मा के कर्तृत्व-अकर्तृत्व के सम्बन्ध में सत्यार्थ स्याद्वाद-प्ररूपण इसप्रकार है -

आत्मा सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञानस्वभाव में ही स्थित है; परन्तु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान के अभाव के कारण, ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावों को आत्मा के रूप में जानता है। इसलिये इसप्रकार विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करने से कर्ता है; और जब भेदविज्ञान होने से आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है, तब विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम में ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है।''

उक्त गाथाओं और टीका के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''देखो, इन गाथाओं में यह सिद्ध कर रहे हैं कि आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है।[१]

कर्म के कारण शुभ-अशुभ भाव होते हैं, कर्म के कारण परघात होता है और कर्म के कारण अब्रह्मचर्य होता है - ऐसी एकान्त प्ररूपणा करनेवाले सब अज्ञानी सूत्रों के अर्थ को नहीं जाननेवाले श्रमणाभासी हैं। जो कर्म को ही विकार का कर्ता मानता है, वह जैनमती नहीं; बल्कि सांख्यमती है। भले, जड़कर्म निमित्त हो; परन्तु निमित्त के कारण जीव में विकार (कार्य) नहीं होता।

अहा ! आचार्य कहते हैं कि एकान्त से कर्मप्रकृति के कर्तृत्व की मान्यता से समस्त जीवों के एकान्त से अकर्तापना आ जाएगा। ऐसा होने पर 'जीव कर्ता है' - इस शास्त्र वचन की विराधना होगी।

'जीवों को कर्म ही संसार में परिभ्रमण कराता है, कर्म ही हैरान करता है, कर्म ही विकार करता है, जीव तो सर्वथा ही अकर्ता है' - ऐसा माननेवाला जिनवाणी का विराधक है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २१०

अपनी बात को सिद्ध करने के लिये अज्ञानी तर्क करता है कि मिथ्यात्व, राग-द्वेष, अज्ञान आदि जितने पर्यायरूप विकारीभाव हैं, उन्हें जड़कर्म करता है तथा आत्मा तो आत्मा के एक द्रव्यरूप को करता है। इसप्रकार आत्मा का कर्तापन भी आ जाता है, इससे आत्मा के कर्तापने व अकर्तापने - दोनों की ही सिद्धि हो जाती है। अतः श्रुत की विराधना नहीं होगी।

उससे आचार्य कहते हैं कि भाई! तेरा यह अभिप्राय मिथ्या ही है; क्योंकि त्रिकाली आत्मद्रव्य तो नित्य ध्रुव एकरूप है। इसमें करना ही क्या है? आत्मा अपने आत्मद्रव्यस्वरूप में क्या करें?

आत्मा पर्याय से अनित्य है, किन्तु द्रव्यरूप से तो अनादि-अनंत नित्य है। यहाँ अज्ञानी का कहना यह है कि अनित्य पर्याय के कर्ता जड़कर्म हैं तथा आत्मा आत्मा का द्रव्यरूप से कर्ता है; परन्तु अज्ञानी का यह कथन मिथ्या है; क्योंकि जो त्रिकाल नित्य है, उसमें करने को है ही क्या जिसे द्रव्य करेगा ? नित्य का कोई कर्ता नहीं होता। जिसमें पर्यायरूप पलटना हो, उसमें कार्य होता है; किन्तु जो नित्य (ध्रुव) है, उसमें करने जैसा कुछ भी नहीं होता। नित्य के कार्यपना बन ही नहीं सकता; क्योंकि कर्तृत्व के एवं नित्यत्व के एकपने में परस्पर विरोध है अर्थात् जो नित्य है, उसमें कर्तृत्व सम्भव नहीं है और जहाँ कर्तृत्व हो, वहाँ नित्यता संभव नहीं है। आत्मा द्रव्यरूप से नित्य है। जब अनादि अनंत ध्रुव एकरूप आत्मवस्तु स्वयं द्रव्यपने नित्य है तो उसमें कर्त्तापना कहाँ से आया, कैसे आ सकता है? वह तो द्रव्यरूप अकृतक ही है। आत्मद्रव्य किसी का किया हुआ है - यह मानना मिथ्या है।[१]

अज्ञानी की यह दलील है कि ज्ञायकभाव तो त्रिकाल ज्ञानभाव से ही स्थित है। ज्ञायकभाव के व कर्ताभाव के - परस्पर अत्यन्त विरुद्धता है। इसकारण ज्ञायक मिथ्यात्वादि भावों को करे - ऐसा संभव नहीं है तथा मिथ्यात्वादि विकार होते तो हैं ही, इससे यह स्पष्ट है कि उन मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता कर्म ही है?

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २१७-१८

इसका समाधान करते हुए आचार्य अज्ञानी से कहते हैं - भाई ! तेरी जो यह वासना है - मिथ्या धारणा है। वह धारणा - 'आत्मा आत्मा का कर्ता है' तेरे इस अभिप्राय का नाश करती है; क्योंकि ज्ञायकभाव को त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव में स्थित मानने पर आत्मा अकर्ता ही ठहरता है, किसी भी अपेक्षा कर्ता सिद्ध नहीं होता।

इसप्रकार आत्मा द्रव्य से, क्षेत्र से एवं भाव से किसी भी प्रकार कर्ता सिद्ध नहीं होता और काल से अर्थात् पर्याय से तो वह अज्ञानी स्वयं भी कर्ता नहीं मानता। पर्याय का कर्ता तो वह कर्मों को बताता है। इसलिये श्रुति के कोप से बचने के लिये आत्मा को कथंचित् कर्ता बताता है; परन्तु उसकी ये सब दलीलें मिथ्या हैं। वास्तव में पर्यायदृष्टि जीव अपनी पर्याय में हुए रागादि विकार का स्वयं ही कर्ता है तथा निज ज्ञायकभाव की दृष्टि होने पर ज्ञानस्वभाव प्रगट होने से वह राग का कर्ता नहीं, मात्र ज्ञाता है। यह वस्तुस्थिति है।[१]

देखो, आत्मा द्रव्य से नित्य है, इसकारण आत्मा आत्मा को करता है - यह मान्यता सिद्ध नहीं होती। आत्मा क्षेत्रपने त्रिकाल नियत है; इसकारण आत्मा के क्षेत्रापेक्षा कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता और आत्मा त्रिकाल ज्ञानभाव से ही स्थित है; इसकारण कालापेक्षा भी कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

ज्ञायक··· ज्ञायक··· ज्ञायक - ऐसा जो एक ज्ञायकभाव - ध्रुवस्वभाव - सामान्य ज्ञानस्वभाव से आत्मा स्थित है, उसमें पलटन नहीं है। अर्थात् ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा त्रिकालीद्रव्य द्रव्यरूप से नित्य है, क्षेत्ररूप से असंख्यात प्रदेशी नित्य है और भाव से सामान्य एक ज्ञायकभावपने नित्य है। ऐसा एकरूप नित्य रहनेवाला ज्ञायकभाव होने से उसमें कुछ भी कर्तृत्व नहीं आता।[२]

विशेष अपेक्षा से अर्थात् त्रिकाली द्रव्य-गुण-क्षेत्र तो अकर्ता है ही, उसमें तो कर्तापना है ही नहीं, वर्तमान पर्याय में भी जहाँ जीव अन्तर्मुख होकर

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २१८-२१९
२. वही, पृष्ठ २१९-२२०

ज्ञानस्वभाव से परिणमन करता है, रागरूप नहीं परिणमता; तब साक्षात् अकर्ता हो जाता है।[१]

'कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण अल्पज्ञता होती है, कर्मक्षय होने पर ही ज्ञान का विकास हो सकता है। इसप्रकार कर्म ही सबकुछ करता है' - यह मान्यता जैनदर्शन की नहीं है। यह तो अज्ञानियों की मान्यता है; परन्तु जैनदर्शन के व्याख्यानकार भी इस विषय में कहीं-कहीं चूक जाते हैं। जब वे करणानुयोग की व्याख्या करते हैं तो उसकी अपेक्षा एवं कथनपद्धति को ध्यान में न रखकर सर्वथा ऐसा ही मान लेते हैं कि वेदकर्म के उदय से स्त्री-पुरुषों को विकार होता है तथा उपघात व परघात कर्मप्रकृति के उदय से परस्पर घात होता है। इसप्रकार जिसतरह सांख्यमती सभी कुछ प्रकृति का ही कार्य मानते हैं और पुरुष को अकर्ता मानते हैं, उसीतरह अपनी बुद्धि के दोष से कथन की अपेक्षा से अनभिज्ञ जैनदर्शन के व्याख्याकारों का भी ऐसा ही एकान्त मानना हुआ।

ऐसा माननेवालों पर जिनवाणी का कोप क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा ही। जिनवाणी के कोप के भय से अर्थात् जिनवाणी की विराधना से बचने के लिये यदि वे विवक्षा पलटकर ऐसा कहें कि भावकर्मों का कर्त्ता कर्म है और अपने आत्मा का अर्थात् अपना स्वयं का कर्ता आत्मा है। इसप्रकार हम तो आत्मा को कथंचित् कर्ता कहते हैं। इससे हम पर जिनवाणी का कोप नहीं होगा।' उनसे कहते हैं कि 'भाई ! तुम्हारा यह कथन भी मिथ्या ही है।'

देखो ! शास्त्र पढ़कर भी वे ऐसा विपरीत आशय निकालते हैं कि जो पुरुष का स्त्री के साथ रमने का भाव होता है तथा स्त्री का पुरुष से रमने का भाव होता है, वह वेदकर्म का कार्य है; क्योंकि आत्मा तो अकर्ता है, निर्दोष है तथा वेदकर्म ही स्त्री-पुरुष को विकारी कराता है; परन्तु यह तो सांख्यमत है।

जिनवाणी को जो स्याद्वादरूप कहा है, सो उसमें स्याद्वाद की अपेक्षा तो यह है कि जीव के विकार भावों का अज्ञानदशा में तो जीव ही कर्ता है और

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २२१

स्वभाव के लक्ष्य से ज्ञानभाव प्रकट होने पर वह जीव विकार का कर्ता नहीं है। इसप्रकार जिनवाणी तो स्याद्वादरूप है; परन्तु ऐसा न मानकर आत्मा को सर्वथा एकान्त से अकर्ता ही माननेवाले जिनवाणी के विराधक हैं।[१]

धर्मी को दया, दान, व्रतादि का राग होता है; परन्तु उसी काल में राग से भिन्न 'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा हूँ' - ऐसा अन्तर में भेदज्ञान भी वर्तता है, इसकारण वह राग के साथ एकमेक नहीं होता; किन्तु उस राग को वह पृथक् ही जानता है, केवल उस राग का ज्ञाता ही रहता है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम से ही परिणमता हुआ केवल ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है। बस इसी का नाम समकित है, धर्म है।

इसप्रकार भेदज्ञान होने पर ज्ञानी वर्तमान पर्याय में ज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को ही करता हुआ केवल ज्ञाता ही रहने से साक्षात् अकर्ता है। यह ही सच्चा स्याद्वाद है।[२]''

इसप्रकार इन गाथाओं में विस्तार से सयुक्ति यह सिद्ध किया गया है कि जैनदर्शन में आत्मा को सांख्य के समान सर्वथा अकर्त्ता नहीं माना है। जैनदर्शन स्याद्वादी दर्शन है और वह कहता है कि आत्मा कर्मों का कथंचित् कर्त्ता भी है और कथंचित् अकर्त्ता भी है।

सांख्यमतियों के समान जो जैन श्रमण या श्रावक यह कहते हैं कि आत्मा को ज्ञानी-अज्ञानी और सुखी-दुःखी कर्म ही करते हैं; यहाँ तक कि जगाते-सुलाते भी कर्म ही हैं और चतुर्गति में परिभ्रमण भी कर्म ही कराते हैं; आत्मा में उत्पन्न होनेवाली हिंसक और कुशील की वृत्ति के जिम्मेदार भी कर्म ही हैं; उन्हें समझाते हुए यहाँ कहा गया है कि ऐसा एकान्त जैनदर्शन को स्वीकार नहीं है; क्योंकि जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। अतः यही ठीक है कि आत्मा उक्त स्थितियों का कथंचित् कर्त्ता है और कथंचित् अकर्त्ता।

इस पर वह कहता है कि जैनदर्शन अनेकान्तवादी है - यह तो हम भी मानते हैं; पर वह अनेकान्त आत्मा स्वयं का कर्त्ता है और उक्त क्रियाओं का अकर्त्ता है - इसप्रकार का है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २२५-२२६
२. वही, पृष्ठ २२७

इस पर आचार्य कहते हैं कि स्वयं का कर्त्ता का क्या आशय है ? यदि पर्यायों (उक्त क्रियाओं) को छोड़ दें तो फिर स्वयं में, आत्मवस्तु में द्रव्य (ज्ञायकभाव), क्षेत्र (प्रदेश) और भाव (गुण) ही शेष रहते हैं। ये सभी त्रिकालीध्रुव होते हैं; इसकारण इनमें कुछ करना हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में आत्मा स्वयं का कर्त्ता है - इस बात का क्या अर्थ रह जाता है ?

अब तुम्हीं बताओ आत्मा स्वयं का कर्त्ता है ? - इस कथन का क्या आशय है? कार्य तो पर्यायरूप ही होता है; अत: आत्मा कर्त्ता है - यह बात भी पर्यायों के संदर्भ में ही कही जायगी और आत्मा अकर्त्ता है - यह भी पर्यायों के सन्दर्भ में ही कहा जायगा।

अत: निष्कर्ष यही है कि आत्मा अपने शुद्ध-अशुद्ध सभी परिणमन का कथंचित् कर्त्ता है और कथंचित् अकर्त्ता है।

अब आगामी कलश में उक्त गाथाओं का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र जो मार्गदर्शन करते हैं, जो परामर्श देते हैं; वह इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीड़ित)

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हता:
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादध:।
ऊर्ध्वम् तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम्॥ २०५॥

(रोला)

अरे जैन होकर भी सांख्यों के समान ही,
इस आतम को सदा अकर्त्ता तुम मत मानो।
भेदज्ञान के पूर्व राग का कर्त्ता आतम;
भेदज्ञान होने पर सदा अकर्त्ता जानो॥ २०५॥

हे आर्हतमत के अनुयायी जैनियो! तुम भी सांख्यमतियों के समान आत्मा को अकर्त्ता मत मानो; भेदज्ञान के पूर्व उसे सदा रागादिभावों का कर्त्ता ही मानो और भेदज्ञान होने के बाद उसे सदा अचल, अकर्त्ता अर्थात् ज्ञाता ही देखो।

उक्त कलश का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"सांख्यमतावलम्बी पुरुष को सर्वथा एकान्त से अकर्ता, शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानते हैं। ऐसा मानने से पुरुष को संसार के अभाव का प्रसंग आता है; और यदि प्रकृति को संसार माना जाये तो वह भी घटित नहीं होता; क्योंकि प्रकृति जो जड़ है, उसे सुख-दुःखादि का संवेदन नहीं है, तो उसे संसार कैसा ?

ऐसे अनेक दोष एकान्त मान्यता में आते हैं। सर्वथा एकान्त वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। इसलिये सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं; और यदि जैन भी ऐसा मानें तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं।

इसलिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि सांख्यमतियों की भाँति जैन आत्मा को सर्वथा अकर्ता न मानें; जबतक स्व-पर का भेदविज्ञान न हो, तबतक तो उसे रागादि का - अपने चेतनरूप भावकर्मों का - कर्ता मानो और भेदविज्ञान होने के बाद शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्व के भाव से रहित, एक ज्ञाता ही मानो।

इसप्रकार एक ही आत्मा में कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व - ये दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं। ऐसा स्याद्वाद मत जैनों का है, और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा (स्याद्वादानुसार) मानने से पुरुष को संसार-मोक्षादि की सिद्धि होती है और सर्वथा एकान्त मानने से सर्व निश्चय-व्यवहार का लोप होता है।"

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी इसप्रकार करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

जैसैं सांख्यमती कहैं अलख अकरता है,
सर्वथा प्रकार करता न होइ कबहीं।
तैसैं जिनमती गुरुमुख एक पक्ष सुनि,
याहि भाँति मानै सौ एकंत तजौ अबहीं॥
जौलौं दुरमती तौलौं करम कौ करता है,
सुमती सदा अकरतार कह्यौ सबहीं।
जाकै घटि ग्यायक सुभाउ जग्यौ जबही सौं,
सो तौ जगजाल सौं निरालौ भयौ तबहीं॥

जिसप्रकार सांख्यमती कहते हैं कि आत्मा सर्वथा अकर्त्ता है, किसी भी अपेक्षा कर्त्ता नहीं है; उसीप्रकार यदि जैनमती भी गुरुमुख से एक पक्ष (नय) की बात सुनकर सांख्यों के समान आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मानते हों तो उन्हें अपनी उस मान्यता को तत्काल छोड़ देना चाहिए।

वस्तुस्थिति यह है कि जबतक दुर्मति है, अज्ञान है; तबतक आत्मा भावकर्मों का कर्त्ता है और जब सुमति जागृत हो जाती है, सम्यग्ज्ञान हो जाता है; तब वह सदा उन रागादिभावों का अकर्त्ता ही रहता है - यह बात सभी ज्ञानी कहते हैं।

अरे भाई ! जबसे जिसके हृदय में ज्ञायकभाव प्रगट हो जाता है; तब से वह जगलाल से निराला ही हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाने पर रागादि का कर्त्ता-भोक्ता नहीं रहता, सहज ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जब तक ऐसा भान नहीं हुआ कि विकार से भिन्न निर्मल निर्विकार शुद्ध चिदानन्दघनस्वरूप आत्मा मैं हूँ - तबतक आत्मा अपने अज्ञानभावों का - रागादि भावों का कर्ता है। तथा जब पर्याय में हुये विभाव का लक्ष्य छोड़कर अन्दर ध्रुवधाम निज चैतन्य भगवान में दृष्टि जोड़ दे तो तुरंत ही वह उस कर्तापन के भाव से रहित हो ज्ञातास्वरूप हो जाता है।[१]

प्रश्न : तो क्या समकिती को कभी राग होता ही नहीं है ?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी समकिती को राग होता है, किन्तु उस राग का वह ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद उद्धत ज्ञानधाम प्रभु आत्मा अकर्ता, अचल, एक और परमज्ञाता ही है। आत्मा जगत के किसी पदार्थ की अवस्था का कर्ता तो नहीं है, पर्याय में जो किंचित् राग होता है, ज्ञानी उसका भी कर्ता नहीं है, केवल ज्ञाता ही है। इसप्रकार राग से हटना और स्व में बसना। बस इसका नाम संवर व निर्जरा है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २३०

२. वही, पृष्ठ २३१

यद्यपि सम्यग्दृष्टि के अस्थिरता-जनित किंचित् राग होता है, किन्तु उसका उसे स्वामित्व नहीं होने से वह उस राग का भी कर्ता नहीं है, ज्ञाता ही है।

इसप्रकार एक ही आत्मा में कर्तापना व अकर्तापना - दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं। अज्ञानपने में तो विकार का कर्ता तथा भेदज्ञान होने पर अकर्ता सिद्ध होता है। ऐसा स्याद्वाद मत जैनों में है और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है।

ऐसे स्याद्वाद के अनुसार वस्तुस्वरूप मानने से पुरुष को संसार व मोक्ष सिद्ध होते हैं।

अज्ञानभाव से विकार का कर्ता मानने से अज्ञानी जीव को संसार की सिद्धि होती है तथा ज्ञानभाव से अकर्ता होने से केवल ज्ञातापना व मोक्षदशा सिद्ध होती है। अज्ञानपने भी जीव को यदि अकर्ता माने और कर्म को कर्ता माने तो संसार व मोक्ष - कुछ भी सिद्ध नहीं होगा तथा निश्चय-व्यवहार भी सिद्ध नहीं होगा।[१]"

इसप्रकार तेरह गाथाओं के सार को अपने में समेट लेनेवाले इस कलश में यही कहा गया है कि हे अरिहंतों के अनुयायी जैनी भाइयो! सांख्यों के समान तुम भी आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मत मानो। अज्ञान अवस्था में आत्मा को रागादिभावों का कर्त्ता और भेदज्ञान होने पर, सम्यग्ज्ञान होने पर उसे रागादिभावों का अकर्त्ता सहज ज्ञाता-दृष्टा स्वीकार करो।

उक्त तेरह गाथाओं में सांख्यमत के समान रागादिभावों का सर्वथा अकर्त्ता माननेवाले जैनियों का अज्ञान दूर किया और अब आगामी चार गाथाओं में बौद्धमत के समान आत्मा को क्षणिक पर्याय जितना माननेवालों को समझावेंगे। आत्मा को सर्वथा अनित्य मानने से **'जो कर्त्ता सो भोक्ता'** वाली बात घटित नहीं होती **'करे अन्य और भोगे अन्य'** जैसी समस्या खड़ी हो जाती है। अरे भाई! करे कोई और भोगे कोई दूसरा - यह तो सरासर अन्याय है। ऐसा न होता ही है और न होना ही चाहिए।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २३३

आगामी चार गाथाओं की विषयवस्तु की सूचना देने के लिए आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने दो कलश लिखे हैं; जो इसप्रकार हैं-

(मालिनी)

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं।
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिंचंश्चिच्चमत्कार एव॥ २०६॥

(अनुष्टुप्)

वृत्तयंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा॥ २०७॥

(रोला)

जो कर्त्ता वह नहीं भोगता इस जगती में,
ऐसा कहते कोई आतमा क्षणिक मानकर।
नित्यरूप से सदा प्रकाशित स्वयं आतमा
मानो उनका मोह निवारण स्वयं कर रहा॥ २०६॥

(सोरठा)

वृत्तिमान हो नष्ट, वृत्त्यंशों के भेद से।
कर्त्ता भोक्ता भिन्न; इस भय से मानो नहीं॥ २०७॥

इस जगत में कोई क्षणिकवादी आत्मतत्त्व को क्षणिक मानकर अपने मन में कर्त्ता और भोक्ता का भेद करते हैं। अर्थात् ऐसा मानते हैं कि कर्त्ता अन्य है और भोक्ता अन्य। उनके मोह (अज्ञान) को यह चैतन्यचमत्कार आत्मा स्वयं ही नित्यतारूप अमृत के समूह से सींचता हुआ दूर करता है।

वृत्त्यंशों अर्थात् पर्यायों के भेद से वृत्तिमान द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है - ऐसी कल्पना करके अन्य कर्त्ता और अन्य भोक्ता - ऐसा एकान्त प्रकाशित मत करो।

उक्त कलशों का भाव पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"क्षणिकवादी कर्ता-भोक्ता में भेद मानते हैं अर्थात् वे यह मानते हैं कि प्रथम क्षण में जो आत्मा था, वह दूसरे क्षण में नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम उसे क्या समझायें ? यह चैतन्य ही उसका अज्ञान दूर कर देगा कि जो (चैतन्य) अनुभवगोचर नित्य है। प्रथम क्षण में जो आत्मा था, वही द्वितीय क्षण में कहता है कि 'मैं जो पहले था वही हूँ'; इसप्रकार का स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान आत्मा की नित्यता बतलाता है।

यहाँ बौद्धमती कहता है कि 'जो प्रथम क्षण में था, वही मैं दूसरे क्षण में हूँ' - ऐसा मानना वह तो अनादिकालीन अविद्या से भ्रम है; यह भ्रम दूर हो तो तत्त्व सिद्ध हो और समस्त क्लेश मिटें।

उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'हे बौद्ध ! तू यह जो तर्क करता है, उस सम्पूर्ण तर्क को करनेवाला एक ही आत्मा है या अनेक आत्मा हैं ? और तेरे सम्पूर्ण तर्क को एक ही आत्मा सुनता है - ऐसा मानकर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होने तक अनेक आत्मा बदल जाते हैं - ऐसा मानकर तर्क करता है?

यदि अनेक आत्मा बदल जाते हों तो तेरे सम्पूर्ण तर्क को कोई आत्मा सुनता नहीं है; तब फिर तर्क करने का क्या प्रयोजन है ?

यों अनेकप्रकार से विचार करने पर तुझे ज्ञात होगा कि आत्मा को क्षणिक मानकर प्रत्यभिज्ञान को भ्रम कह देना वह यथार्थ नहीं है। इसलिये यह समझना चाहिये कि आत्मा को एकान्ततः नित्य या एकान्ततः अनित्य मानना वह दोनों भ्रम हैं, वस्तुस्वरूप नहीं; हम (जैन) कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहते हैं, वही सत्यार्थ है।

द्रव्य की पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं। इसलिये बौद्ध यह मानते हैं कि 'द्रव्य ही सर्वथा नष्ट होता है'। ऐसी एकान्त मान्यता मिथ्या है। यदि पर्यायवान पदार्थ का ही नाश हो जाये तो पर्याय किसके आश्रय से होगी? इसप्रकार दोनों के नाश का प्रसंग आने से शून्य का प्रसंग आता है।"

उक्त कलशों में से २०६ का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी प्रश्नोत्तर के रूप में अनेक छन्दों में करते हैं; जो इसप्रकार हैं -

(दोहा)

प्रश्न : बौध छिनकवादी, कहै, छिनभंगुर तन मांहि।
प्रथम समय जो जीव है, दुतिय समय सो नांहि॥
तातैं मेरे मतविषैं, करै करम जो कोइ।
सो न भोगवै सरवथा, और भोगता होइ॥

क्षणिकवादी बौद्ध कहते हैं कि इस क्षणभगुंर शरीर में जो जीव प्रथम समय में रहता है, वह जीव दूसरे समय नहीं रहता। इसलिए मेरे मत में जो कर्म करता है, वह भोगता नहीं, भोगता कोई और ही है - यह बात सर्वथा सत्य है।

(दोहा)

उत्तर : यह एकंत मिथ्यात पख, दूर करन कै काज।
चिद्विलास अविचल कथा, भाषै श्रीजिनराज॥
बालापन काहू पुरुष, देख्यौ पुर एक कोइ।
तरुन भए फिरिकैं लख्यौ, कहै नगर यह सोइ॥
जो दुहुपन मैं एक थौ, तौ तिनि सुमिरन कीय।
और पुरुष कौ अनुभव्यौ, और न जानैं जीय॥
जब यह वचन प्रगट सुन्यौ, सुन्यौ जैनमत सुद्ध।
तब इकंतवादी पुरुष, जैन भयौ प्रतिबुद्ध॥

इस एकान्तवादी के मिथ्या पक्ष को दूर करने के लिए जिनेन्द्र भगवान चैतन्य आत्मा की नित्यता बतानेवाली बात कहते हैं।

किसी पुरुष ने बचपन में किसी नगर को देखा था और फिर जवानी में उसी नगर को देखा तो वह यही कहता है कि यह नगर वही नगर है, जिसे मैंने बचपन में देखा था।

दोनों अवस्थाओं में वह पुरुष एक ही था, तभी तो उसने इसप्रकार का स्मरण किया है; क्योंकि किसी अन्य पुरुष के अनुभव को कोई अन्य पुरुष कैसे व्यक्त कर सकता है?

उक्त कथन से जैनमत की सच्चाई उस एकान्तवादी के ध्यान में आ गई और वह भी प्रतिबुद्ध हो गया, उसे भी जैनमत स्वीकृत हो गया।

बचपन और जवानी में किसी नगर को देखकर प्रत्यभिज्ञान होने का उदाहरण पाण्डे राजमलजी ने आत्मा की नित्यता समझाने के लिए कलश टीका में दिया है। उन्हीं के अनुकरण पर कविवर बनारसीदासजी ने भी यहाँ उसी उदाहरण का प्रयोग किया है।

कविवर बनारसीदासजी २०७ वें कलश का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

एक परजाइ एक समै मैं विनसि जाइ,
दूजी परजाइ दूजै समै उपजति है।
ताकौ छल पकरि कैं बौध कहै समै समै,
नवौ जीव उपजै पुरातन की छति है॥
तातै मानै करम कौ करता है और जीव,
भोगता है और वाकै हिए ऐसी मति है।
परजौ प्रवांन कौं सरवथा दरब जानैं,
ऐसे दुरबुद्धि कौं अवसि दुरगति है॥

एक पर्याय एक समय में नष्ट हो जाती है और दूसरी पर्याय दूसरे समय में उत्पन्न होती है। - इसके आधार पर बौद्ध कहते हैं कि प्रतिसमय नया जीव उत्पन्न होता है और पुराना नष्ट हो जाता है। इसी आधार पर वे कहते हैं कि कर्मों का कर्त्ता अन्य जीव है और कर्मों का भोक्ता अन्य जीव है। उनके हृदय में यही बात जमी हुई है; वे द्रव्य को पर्यायप्रमाण ही मानते हैं, पर्याय जितना ही मानते हैं। ऐसी दुर्बुद्धि जिनकी है, वे अवश्य दुर्गति को प्राप्त होंगे।

यहाँ एक **प्रश्न** संभव है कि यदि आप को किसी की बात नहीं जमती है तो न मानें; पर किसी को दुर्बुद्धि कहना, दुर्गति में जानेवाला बताना तो अच्छी बात नहीं है।

अरे भाई ! यहाँ किसी व्यक्ति को द्वेष के कारण दुर्बुद्धि नहीं कहा जा रहा है; अपितु यह तो उस तथ्य का उद्घाटन है, जिसके कारण सर्वथा क्षणिक माननेवाला दुर्गति को प्राप्त होता है।

प्रश्न : वह कौन सा तथ्य है, वह कौन सी दुर्बुद्धि है कि जिसके कारण क्षणिकवादी को दुर्गति प्राप्त होती है?

उत्तर : उसकी मान्यता के अनुसार प्रत्येक आत्मा प्रतिपल नष्ट हो जाने के कारण उसे यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि जो करता है, उसे भोगना नहीं पड़ता; क्योंकि वह तो करने के साथ स्वयं नाश को प्राप्त हो जाता है।

ऐसी स्थिति में कोई भी व्यक्ति पापकार्यों के करने से क्यों डरेगा; क्योंकि उसे उसका फल तो मिलनेवाला नहीं है। इसीप्रकार पुण्यकार्यों में भी उत्साहित क्यों होगा; क्योंकि उनका लाभ भी तो उसे नहीं मिलना है।

इसप्रकार वह निरन्तर भोगों में ही मस्त रहेगा, पापकार्यों में ही लगा रहेगा और इसीकारण दुर्गति को भी प्राप्त होगा।

उसके दुर्गतिगमन की बात कहकर कविवर बनारसीदासजी ने हमारा ध्यान इसी तथ्य की ओर आकर्षित किया है।

इसके बाद बनारसीदासजी दुर्बुद्धि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए दो दोहे और दो इकतीसा सवैया - ऐसे कुल चार छन्द और भी लिखते हैं; जो मूलतः पठनीय हैं। यहाँ इसलिए नहीं दिये जा रहे हैं; क्योंकि इसप्रकार के भाव के पोषक कोई भी छन्द आत्मख्याति में नहीं हैं।

इन कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"देखो, अज्ञानी को अपने त्रिकाली स्वरूप की खबर नहीं है। इसकारण वह वर्तमान पर्याय को ही आत्मा मानता है। क्षण-क्षण में जो पर्याय पलटती है, उसे ही वह आत्मा मानता है। वर्तमान में जो आत्मा है, वह अगले क्षण में नहीं रहता है। प्रत्येक क्षण में नवीन-नवीन आत्मा का जन्म माननेवाला बौद्धमती कर्ता-भोक्ता में भेद मानता है। जो जीव कर्म करता है, वह उसको भोगने के समय रहता ही नहीं है। इसलिए कर्ता कोई और है तथा भोक्ता कोई और ही है।

आचार्य कहते हैं - उसे कौन समझाये ? नित्य अनुभवगोचर चेतन आत्मा ही उसके भ्रम को दूर कर सकता है। प्रतिसमय पलटता हुआ भी चैतन्य अपने स्वानुभव में नित्य आता है। वह अनुभव ही इस अज्ञान को मिटा सकता है। अज्ञानी को वस्तु के नित्य व अनित्य विभाग की खबर नहीं है। इसकारण भ्रांति है। निरंतर अनुभव में आता हुआ चैतन्य ही उसके इस अज्ञान को दूर करेगा।

कल की बात आज याद आती है न ? इसी से सिद्ध है कि याद करनेवाला आत्मद्रव्य नित्य है। भाई, त्रिकाली द्रव्य की सिद्धि दृष्टि बिना नहीं होती। स्मरणपूर्वक हुआ प्रत्यभिज्ञान आत्मा की नित्यता सिद्ध करता है।[१]

पूर्व में बालक अवस्था थी, वर्तमान में यौवन है तथा भविष्य में वृद्ध अवस्था होगी। इन तीनों अवस्थाओं का ज्ञान त्रिकाली एक आत्मद्रव्य को होता है। इस त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि करने पर सम्यग्दर्शन होता है। त्रिकाली की दृष्टि करनेवाली तो पर्याय है, परन्तु उस दृष्टि की पर्याय का विषय त्रिकाली नित्य प्रभु आत्मा है।[२]

तथा तू यदि यह कहेगा कि आत्मा तो नष्ट हो जाता है, पर वह अपने संस्कार छोड़ जाता है तो वह भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि यदि आत्मा नष्ट हो गया तो आधार बिना संस्कार कैसे/ कहाँ रहते हैं ? एक आत्मा जो संस्कार छोड़े, वे संस्कार दूसरे आत्मा में पड़ते जायें, यह कैसे संभव है? यह बात कुछ जमती नहीं है, न्यायसंगत भी नहीं है।

बापू ! तू आत्मा को पर्यायमात्र क्षणिक मानता है; परन्तु जैनमत में तो ऐसी मान्यतावाले को पर्यायमूढ़ कहा है। एक समय की दशा के पीछे जो त्रिकाली सम्पूर्ण नित्यानंद-चिदानंद प्रभु आत्मा रह रहा है, उसकी दृष्टि किये बिना जो पर्याय की रुचि में पड़ा है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। जो मात्र वर्तमानज्ञान की दशा में रुचि करके रहता है, वह पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है।[३]

इसप्रकार आत्मा को एकान्त से नित्य ही या अनित्य ही मानना मिथ्याभ्रम है। अहा ! स्वयं त्रिकाली ध्रुव चित्चमत्कार रूप नित्य द्रव्य है और इसकी पलटती अवस्था अनित्य पर्याय है। इसलिये द्रव्यस्वरूप से नित्य व पर्यायस्वरूप से अनित्य ऐसा कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप को जानकर नित्य में दृष्टि करके समकितवंत होना।[४]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २३६-२३७
२. वही, पृष्ठ २३७
३. वही, पृष्ठ २३७-२३८
४. वही, पृष्ठ २३८

वृत्ति अंश अर्थात् पर्याय का भेद, जैसे कि स्वर्ण का कड़ा, कुंडल रूप पर्यायें। उसीतरह आत्मा एक नित्य द्रव्य है; ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि उसके गुण हैं; ये गुण भी नित्य हैं, इनकी पलटती अवस्थायें पर्यायें हैं। इनमें बौद्धमती एकांत से मात्र पर्यायों को ही आत्मा कहता है। अज्ञानी की भी अनादिकाल से पर्यायों पर ही दृष्टि है। इसकारण बौद्धमती की भाँति ऐसे जैनमती भी मूढ़ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं।[१]

जो जीव वर्तमान पर्याय में राग-द्वेष करते हैं, वे ही जीव भविष्य में उसका फल भोगते हैं। पाप का परिणाम करनेवाली एक अवस्था है और उस पाप का फल भोगनेवाली दूसरी अवस्था है; परन्तु उन दोनों ही पर्यायों में विद्यमान द्रव्य (आत्मा) तो वह का वही है। पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु द्रव्य तो एक ही है। भाई ! वृत्तिमान द्रव्य तो त्रिकाली नित्य है। इसकारण आत्मा जो वर्तमान पर्याय में पाप करता है; वही आगामी पर्याय में उसका फल भोगता है।[२]

तात्पर्य यह है कि पर्याय का नाश होने पर आत्मद्रव्य का ही नाश मानना तो बौद्धमत की मिथ्या कल्पना है; क्योंकि यदि अवस्थावान द्रव्य का नाश हो जाता है तो फिर अवस्था किसके आश्रय से हो? जो क्षण-क्षण में नवीन अवस्थायें होती हैं, उनका आधार तो नित्य द्रव्य ही है। अतः ऐसी मान्यता से तो द्रव्य के ही नाश का प्रसंग प्राप्त होगा। शून्यता का प्रसंग आ जायेगा। अतः ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है।[३]''

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि हे जैनियों ! बौद्धों के समान आत्मा को क्षणिक पर्याय जितना ही मानकर और **'करे अन्य और भोगे अन्य'** की मान्यता से ग्रस्त होकर स्वछन्दता से अनर्गल प्रवर्तन मत करो, अन्यथा चार गति और चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करना पड़ेगा। साथ में यह भी कहा गया है कि नित्य आत्मा का अनुभव अथवा आत्मा की नित्यता का अनुभव ही उक्त मान्यता को समाप्त करेगा। अतः प्रत्यभिज्ञान की हेतुभूत आत्मा की नित्यता का नित्य अनुभव करो। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २३९
२. वही, पृष्ठ २४०
३. वही, पृष्ठ २४१

समयसार गाथा ३४५-३४८

जो बात विगत दो कलशों में कही गई है, अब उसी बात को आगामी चार गाथाओं में कहते हैं; जो इसप्रकार हैं -

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो॥ ३४५॥
केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो॥ ३४६॥
जो चेव कुणदि सो चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥ ३४७॥
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥ ३४८॥

(हरिगीत)

यह आत्मा हो नष्ट कुछ पर्याय से कुछ से नहीं।
जो भोगता वह करे अथवा अन्य यह एकान्त ना॥ ३४५॥
यह आतमा हो नष्ट कुछ पर्याय से कुछ से नहीं।
जो करे भोगे वही अथवा अन्य यह एकान्त ना॥ ३४६॥
जो करे, भोगे नहीं वह; सिद्धान्त यह जिस जीव का।
वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना॥ ३४७॥
कोई करे कोई भरे यह मान्यता जिस जीव की।
वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना॥ ३४८॥

क्योंकि जीव कितनी ही पर्यायों से नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नष्ट नहीं होता है; इसलिए जो भोगता है, वही करता है या अन्य ही करता है - ऐसा एकान्त नहीं है।

क्योंकि जीव कितनी ही पर्यायों से नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नष्ट नहीं होता है; इसलिए जो करता है, वही भोगता है अथवा अन्य ही भोगता है - ऐसा एकान्त नहीं है।

जो करता है, वह नहीं भोगता - ऐसा जिसका सिद्धान्त है; वह जीव मिथ्यादृष्टि है और अरिहंत के मत के बाहर है, अनार्हतमतवाला है। - ऐसा जानना चाहिए।

अन्य करता है और उससे अन्य भोगता है - ऐसा जिसका सिद्धान्त है; वह जीव मिथ्यादृष्टि है और अरिहंत के मत के बाहर है, अनार्हतमतवाला है। - ऐसा जानना चाहिए।

उक्त चारों गाथाओं का तात्पर्य यह है कि जो करता है; वही भोगता है - ऐसा एकान्त भी नहीं है और जो करता है; वह नहीं भोगता, अन्य ही भोगता है - ऐसा एकान्त भी नहीं है। इसीप्रकार जो भोगता है; वही करता है - ऐसा एकान्त भी नहीं है और जो भोगता है; वह नहीं करता, अन्य ही करता है - ऐसा एकान्त भी नहीं है।

इसप्रकार इन गाथाओं में चारों प्रकार के एकान्तों का निषेध कर कर्त्ता-भोक्ता संबंधी अनेकान्त की स्थापना की गई है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"प्रतिसमय होनेवाले अगुरुलघुत्वगुण के परिणमन द्वारा क्षणिक होने से और अचलित चैतन्य के अन्वयगुण द्वारा नित्य होने से जीव कितनी ही पर्यायों द्वारा नष्ट होता है और कितनी पर्यायों द्वारा नष्ट नहीं होता है। इसप्रकार जीव दो स्वभाववाला है। इसलिए जो करता है, वही भोगता है अथवा दूसरा ही भोगता है तथा जो भोगता है, वही करता है अथवा दूसरा ही करता है - ऐसा एकान्त नहीं है।

ऐसा अनेकान्त होने पर भी जो पर्याय उस समय है, वही परमार्थ वस्तु है; इसप्रकार वस्तु के अंश में पूर्ण की मान्यता करके शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकान्त में रहकर जो यह मानता है कि जो करता है, वह नहीं भोगता; दूसरा करता है और दूसरा भोगता है; उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिए; क्योंकि पर्यायों का क्षणिकत्व होने पर भी पर्यायी आत्मा अंतरंग में नित्य ही भासित होता है।"

प्रश्न : पर्यायें तो प्रतिसमय नष्ट ही होती हैं। यहाँ यह कैसे कहा जा रहा है कि कितनी ही पर्यायों से नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नष्ट नहीं होता?

उत्तर : अरे भाई ! पर्यायें दो प्रकार की होती हैं — (१) सहभावी पर्याय और (२) क्रमभावी पर्याय। गुणों को सहभावी पर्याय कहते हैं और उनमें होनेवाले परिणमन को क्रमभावी पर्याय कहते हैं। उक्त कथन में जो नष्ट नहीं होने की बात कही गई है, वह सहभावी पर्यायों अर्थात् गुणों के अर्थ में कही गई है। तात्पर्य यह है कि परिणमन की दृष्टि से देखें तो द्रव्य प्रतिसमय नष्ट होता है और अनादि-अनन्त त्रिकाली गुणों की दृष्टि से देखें तो नष्ट नहीं होता है।

कितनी ही पर्यायों से नष्ट होता है का आशय - पर्यायदृष्टि से देखने पर नष्ट होता है - ऐसा है और कितनी पर्यायों से नष्ट नहीं होता का आशय द्रव्यदृष्टि से देखने पर नष्ट नहीं होता - ऐसा है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के भाव को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय लगाकर देवादि पर्यायों पर घटित करके स्पष्ट करते हैं।

आरंभिक दो गाथाओं का शाब्दिक स्वरूप स्पष्ट करने के बाद **किंच** कहकर वे निष्कर्ष को इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं —

"द्रव्यार्थिकनय से जो जीव मनुष्यभव में शुभाशुभ कर्म करता है, वही जीव स्वर्ग में अथवा नरक में उस कर्म का फल भोगता है और पर्यायार्थिकनय से उस ही भव की अपेक्षा से बालकाल में किए गये कर्म का फल यौवनादि अन्य पर्याय में भोगता है। अति संक्षेप में कहें तो अन्तर्मुहूर्त के बाद भोगता है। भवान्तर की अपेक्षा मनुष्यपर्याय में किया गया कर्म देवपर्याय में भोगता है।"

वस्तुत: बात यह है कि एक जीव मरकर स्वर्ग में गया। उसने जो पुण्यकर्म यहाँ किये थे, उनका फल वह स्वर्ग में भोग रहा है। द्रव्यार्थिकनय से जो जीव मनुष्य था, वही अब देव है; अत: जिसने किया था, वही भोग रहा है — यह ठीक ही है। इसी बात को पर्यायार्थिकनय से देखें तो मनुष्य और देव पर्याय भिन्न-भिन्न होने से किया मनुष्य ने और भोग रहा है देव; इसप्रकार किया किसी ने और भोग रहा है कोई और। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि द्रव्यार्थिकनय

से जो करता है, वही भोगता है और पर्यायार्थिकनय से अन्य करता और उससे अन्य कोई भोगता है।

इस विषय को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"वस्तु का स्वभाव जिनवाणी में द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है; इसलिये स्याद्वाद से ऐसा अनेकान्त सिद्ध होता है कि पर्याय-अपेक्षा से तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य-अपेक्षा से नित्य है। जीव भी वस्तु होने से द्रव्यपर्यायस्वरूप है। इसलिये पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो कार्य को करती है एक पर्याय और भोगती है दूसरी पर्याय। जैसे मनुष्यपर्याय ने शुभाशुभ कर्म किये और उनका फल देवादिपर्याय ने भोगा। यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो जो करता है, वही भोगता है; जैसे कि मनुष्यपर्याय में जिस जीवद्रव्य ने शुभाशुभ कर्म किये, उसी जीवद्रव्य ने देवादि पर्याय में स्वयं किये गये कर्म के फल को भोगा।

इसप्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकान्तरूप सिद्ध होने पर भी, जो जीव शुद्धनय को समझे बिना शुद्धनय के लोभ से वस्तु के एक अंश को (वर्तमानकाल में वर्तती पर्याय को) ही वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनय के विषय का एकान्त पकड़कर यह मानता है कि जो करता है, वही नहीं भोगता - अन्य भोगता है और जो भोगता है, वही नहीं करता — अन्य करता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अरहन्त के मत का नहीं है; क्योंकि पर्यायों का क्षणिकत्व होने पर भी, द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है; प्रत्यभिज्ञान से ज्ञात होता है कि 'जो मैं बालक अवस्था में था, वही मैं तरुण अवस्था में था और वहीं मैं वृद्ध अवस्था में हूँ।' इसप्रकार जो कथंचित् नित्यरूप से अनुभवगोचर है - स्वसंवेदन में आता है और जिसे जिनवाणी भी ऐसा ही कहती है, उसे जो नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है - ऐसा समझना चाहिए।"

इन गाथाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"पर्याय अपेक्षा देखें तो कार्य करे एक पर्याय और भोगती है अन्य पर्याय तथा द्रव्य अपेक्षा से जो द्रव्य करता है, वही भोगता है। — ऐसा अनेकान्त है।

जो भोगता है, वही करता है - ऐसा भी एकान्त नहीं है अथवा अन्य ही करता है - ऐसा भी एकान्त नहीं है; क्योंकि भोगती है अन्य पर्याय और करती है अन्य पर्याय। तथा द्रव्य अपेक्षा से जो द्रव्य भोगता है, वही करता है - ऐसा अनेकान्त है।[१]

शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकांत में रहकर जो ऐसा मानता है कि जो करता है, वही नहीं भोगता। करता कोई और है और भोगता कोई और ही है, वह जीव मिथ्यादृष्टि ही है। एक समय की अवस्था यदि दूसरे समय में रहे तो शुद्धनय का नाश हो जाये। उसमें काल की उपाधि लगते ही अशुद्धि आ जाय — ऐसा मानकर जो एक समय के अंश में ही सम्पूर्ण वस्तु (द्रव्य) मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है।[२]

यद्यपि करनेवाली पर्यायें और भोगनेवाली पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं, अन्य-अन्य हैं; तथापि द्रव्य तो दोनों का एक ही है, द्रव्य तो अन्य-अन्य नहीं है। वर्तमान पर्याय में जिस आत्मद्रव्य ने राग किया, आगामी पर्याय में वही आत्मद्रव्य उसका फल भोगता है। इसलिए 'अन्य करता है व अन्य भोगता है' - ऐसी एकान्त मान्यता मिथ्या है।

भाई ! सम्यग्दर्शन की पर्याय यद्यपि एकसमय की है, क्षणिक है; परन्तु उसका विषय त्रिकाली ध्रुव नित्यानन्द प्रभु है। जो ऐसे नित्य ध्रुव चैतन्यतत्त्व को नहीं स्वीकारता, उसे समकित कैसे हो सकता है ?

अरे भाई ! तेरी अवस्था में जो क्षण-क्षण में बदलाव आता है, वह भी तू नहीं है। तू तो त्रिकाली आनन्द का नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है। अपने उस स्वरूप को दृष्टि में ले, उसी में लीन हो जा, ऐसा करने से जो शान्ति व आनन्द प्रगट होगा, वही सद् आचरण है। अन्दर में सत्-त्रिकाली प्रभु है, उस रूप आचरण, वही सदाचरण है। बाकी तो सब संसार के ही हेतु हैं।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २४६-२४७
२. वही, पृष्ठ २४७
३. वही, पृष्ठ २४८

एक बड़ा राजा है, उसने अधिकार के-सत्ता के नशे में अनेक घोर पाप कर डाले और वह उसके फल में मरकर नरक गया; वहाँ असीम दु:ख भोगे। उसने मनुष्य पर्याय के पापों का फल नरक में जाकर भोगा। तथा किसी दयालु तत्त्वज्ञानी पुरुष ने दया, दान, भक्ति आदि के भावों से पुण्य बंध किया। वह मरण कर स्वर्ग में गया, वहाँ उसने मनुष्य पर्याय में किये पुण्य का फल देवगति में भोगा।

इसप्रकार मनुष्य पर्याय में किये पुण्य-पाप को स्वर्ग व नरक में भोगता है। इसतरह पर्याय दृष्टि से देखें तो कार्य को करे एक पर्याय और भोगे दूसरी पर्याय।

परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखें तो जो करता है वही भोगता है। मनुष्य पर्याय में जो जीवद्रव्य शुभ या अशुभ कार्य करता है, उसका फल भी वही जीव स्वर्ग या नरक में जाकर सुख-दुख रूप भोगता है। इसतरह द्रव्य की अपेक्षा जो कर्ता है, वही भोक्ता है। पर्याय अपेक्षा अन्य-अन्य पर्यायें कर्ता व भोक्ता हैं - ऐसा अनेकान्त है।[१]

प्रश्न : उस फल को द्रव्य तो नहीं भोगता है न ?

उत्तर : यहाँ यह बात नहीं है कि द्रव्य कर्ता-भोक्ता है या नहीं। यहाँ तो पर्यायों में द्रव्य अन्वय रूप रहता है - इसप्रकार द्रव्य व पर्याय को सिद्ध करना है। इससे ऐसा कहा है कि पर्याय अपेक्षा जो पर्याय करती है, वही पर्याय भोगती नहीं है। तत्पश्चात् होनेवाली अन्य पर्याय ही उसे भोगती है। तथापि द्रव्य अपेक्षा से तो जो करता है, वही भोगता है। यहाँ तो एक पर्याय में ही सम्पूर्ण आत्मा माननेवाले को उस पर्याय से अधिक आत्मद्रव्य का भान कराने की बात है। आत्मद्रव्य त्रिकालस्वरूप से नित्य रहनेवाला द्रव्य है। यहाँ पर्याय जितना ही आत्मा को माननेवाले अज्ञानी की पर्यायबुद्धि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि करायी गई है।[२]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २४६-२४९

२. वही, पृष्ठ २५०

पहले सांख्यों के समान आत्मा को सर्वथा नित्य और सर्वथा अकर्त्ता माननेवाले जैनों का निराकरण किया गया था और अब इन गाथाओं में बौद्धों के समान आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानकर 'करे अन्य और भोगे अन्य' माननेवाले जैनों को समझाया है।

अंतत: यह सिद्ध किया है कि यह आत्मा नित्यानित्यात्मक है और नित्यद्रव्य की दृष्टि से देखने पर जो करता है, वही भोगता है तथा अनित्यपर्याय की दृष्टि से देखने पर करता कोई और है व भोगता कोई और ही है। - ऐसा अनेकान्त है।

इसप्रकार यहाँ नित्यानित्य और कर्त्ता-भोक्ता सम्बन्धी अनेकान्त सिद्ध किया गया है।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीड़ित)

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्ति प्रपद्यान्धकै:
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परै:।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य प्रथुकै: शुद्धर्जुसूत्रे रतै -
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो नि:सूत्रमुक्तेक्षिभि: ॥२०८॥

(रोला)

यह आतम है क्षणिक क्योंकि यह परमशुद्ध है।
जहाँ काल की भी उपाधि की नहीं अशुद्धि॥
इसी धारणा से छूटा त्यों नित्य आतमा।
ज्यों डोरे बिन मुक्तामणि से हार न बनता॥ २०८॥

आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध चाहनेवाले किन्हीं अन्धों ने — अज्ञानियों ने काल की उपाधि के कारण भी आत्मा में अधिक अशुद्धि मानकर अतिव्याप्ति को प्राप्त होकर शुद्धऋजुसूत्र में रत होते हुए चैतन्य को क्षणिक कल्पित करके इस आत्मा को उसीप्रकार छोड़ दिया कि जिसप्रकार हार के डोरे को न देखकर मात्र मोतियों को ही देखनेवाले हार को छोड़ देते हैं।

जिसप्रकार डोरे में सुव्यवस्थित क्रम से अवस्थित मोतियों को ही हार कहा जाता है; उसीप्रकार नित्यध्रुवांश में क्रम से अवस्थित अनित्यपर्यायों को ही

द्रव्य कहते हैं। आत्मा भी द्रव्य है। इसलिए वह भी नित्य द्रव्य, गुण और अनित्य पर्यायों के समुदायरूप ही है।

जिसप्रकार डोरे की उपेक्षा करके मोतियों पर दृष्टि केन्द्रित करनेवाले हार को प्राप्त नहीं कर सकते; उसीप्रकार नित्यता की उपेक्षा करनेवाले लोग भी क्षणिकपर्यायों में मुग्ध होकर आत्मवस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते।

कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि नित्यता में कालभेद पड़ने से अशुद्धि आ जाती है और एक क्षणवर्ती पर्याय को वस्तु मानने में कालभेद नहीं पड़ता; अत: वह पूर्णत: शुद्ध ही होती है। शुद्धऋजुसूत्रनय एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है। इसकारण यहाँ यह कहा गया है कि शुद्धता के लोभ में ऋजुसूत्रनय के विषय को ही वस्तु मानकर जो लोग सन्तुष्ट हैं; उन्हें उसीप्रकार आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, जिसप्रकार डोरे की उपेक्षा करनेवाले मोती के लोभियों को मोतियों का हार नहीं मिलता।

उक्त कलश के भाव को भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

''आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध मानने के इच्छुक बौद्धों ने विचार किया कि 'यदि आत्मा को नित्य माना जाये तो नित्य में काल की अपेक्षा होती है; इसलिये उपाधि लग जायेगी। इसप्रकार काल की उपाधि लगने से आत्मा को बहुत बड़ी अशुद्धि आ जायेगी और इससे अतिव्याप्ति दोष लगेगा।'

इस दोष के भय से उन्होंने शुद्धऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान समय है, उतना मात्र (- क्षणिक ही) आत्मा को माना और उसे (आत्मा को) नित्यानित्यस्वरूप नहीं माना। इसप्रकार आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने से उन्हें नित्यानित्यस्वरूप - द्रव्यपर्यायस्वरूप सत्यार्थ आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई; मात्र क्षणिक पर्याय में आत्मा की कल्पना हुई; किन्तु वह आत्मा सत्यार्थ नहीं है।

मोतियों के हार में, डोरे में अनेक मोती पिराये होते हैं; जो मनुष्य उस हार नामक वस्तु को मोतियों तथा डोरे सहित नहीं देखता - मात्र मोतियों को ही देखता है, वह पृथक्-पृथक् मोतियों को ही ग्रहण करता है, हार को छोड़ देता है; अर्थात् उसे हार की प्राप्ति नहीं होती।

इसीप्रकार जो जीव आत्मा के एक चैतन्यभाव को ग्रहण नहीं करते और समय-समय पर वर्तनापरिणामरूप उपयोग की प्रवृत्ति को देखकर आत्मा को अनित्य कल्पित करके, ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान - समय मात्र क्षणिकत्व है, उतना मात्र ही आत्मा को मानते हैं (अर्थात् जो जीव आत्मा को द्रव्यपर्यायस्वरूप नहीं मानते - मात्र क्षणिक पर्यायरूप ही मानते हैं), वे आत्मा को छोड़ देते हैं; अर्थात् उन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।''

कलश टीकाकार सूत्र का अर्थ द्राष्टान्त में स्याद्वाद करते हैं। वे कहते हैं कि जिसप्रकार सूत्र के बिना मोती नहीं सधता, हार नहीं बनता; उसीप्रकार स्याद्वाद सूत्र के बिना एकान्तवादों द्वारा आत्मा का स्वरूप नहीं सधता, आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।

उक्त कथन का आधार लेकर बनारसीदासजी ने दो छन्द बनाये हैं, जो इसप्रकार हैं -

(सवैया तेइसा)

केई कहैं जीव क्षनभंगुर, केई कहैं करम करतार।
केई करमरहित नित जंपहिं, नय अनंत नाना परकार॥
जे एकांत गहैं ते मूरख, पंडित अनेकांत पख धार।
जैसैं भिन्न भिन्न मुकताहल, गुनसौं गहत कहावै हार॥

(दोहा)

यथा सूत संग्रह बिना, मुकत माल नहि होइ।
तथा स्यादवादी बिना, मोख न साधै कोइ॥

कोई कहता है कि जीव क्षणभंगुर है, कोई कहता है कि कर्मों का कर्त्ता है और कोई उसे कर्मों से रहित बताते रहते हैं। नय तो अनंत हैं और अनेक प्रकार के हैं। उन नयों के एकान्त को पकड़कर बैठ जानेवाले मूर्ख हैं और अनेकान्त का पक्ष रखनेवाले पण्डित हैं, समझदार हैं, ज्ञानी हैं। जिसप्रकार अलग-अलग मोती जब डोरे में गुंथ जाते हैं तो हार कहलाने लगते हैं; उसीप्रकार नित्य गुण और अनित्य पर्यायों का समुदाय ही द्रव्य है।

जिसप्रकार जबतक सूत मोतियों को संग्रहित नहीं करता; तबतक मोतियों की माला नहीं बनती; उसीप्रकार स्याद्वाद के बिना कोई भी व्यक्ति मुक्ति को नहीं साध सकता, मुक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता।

इसके बाद बनारसीदासजी पंचसमवाय संबंधी एक दोहा लिखते हैं, जिसमें वे स्पष्ट करते हैं कि मुक्तिमार्ग की प्राप्ति तो पाँच समवायपूर्वक ही होती है। इसके बाद षट्दर्शन की मान्यता को दिखाते हुए वे जैनदर्शन की स्थापना तीन छन्दों में करते हैं। अन्त में लिखते हैं कि **खोजी जीवे वादी मरे ऐसी साँची कहवति है**। तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वरूप की खोज करने वाला जीवित रहता है, तत्त्व को प्राप्त कर लेता है और वाद-विवाद में उलझने वाला मृत्यु को प्राप्त होता है, उसे तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण मूलत: पठनीय है।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जिसप्रकार हार में प्रत्येक मोती के साथ रहनेवाला डोरा ही स्थाई है; परन्तु उस डोरा को नहीं देखनेवाला तथा केवल मोती को ही देखनेवाला सम्पूर्ण हार को छोड़ देता है अर्थात् उसको हार की उपलब्धि नहीं होती। उसीप्रकार एक क्षण की पर्याय को ही आत्मा माननेवाला और आद्योपांत संलग्न डोरा के समान नित्य ध्रुव चैतन्य प्रभु को नहीं देखनेवाला अज्ञानी सम्पूर्ण आत्मा को छोड़ देता है अर्थात् उसे आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।[१]"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि आत्मा को सर्वथा क्षणिक माननेवाले लोगों को आत्मा की प्राप्ति उसीप्रकार नहीं होती, जिसप्रकार डोरे की उपेक्षा करनेवाले मोतियों की माला से वंचित रहते हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २५५

अब सब विकल्पों से पार आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देनेवाला कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्त्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सचिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः॥ २०९॥

(रोला)

कर्त्ता-भोक्ता में अभेद हो युक्तिवश से,
भले भेद हो अथवा दोनों ही न होवें।
ज्यों मणियों की माला भेदी नहीं जा सके
त्यों अभेद्य आतम का अनुभव हमें सदा हो॥ २०९॥

कर्त्ता और भोक्ता का युक्तिवश से भेद हो या अभेद अथवा कर्त्ता-भोक्ता - दोनों ही न हों, जो भी हो; तुम तो एक वस्तु का ही अनुभव करो।

जिसप्रकार व्यक्तियों द्वारा डोरे में पिरोई गई मणियों की माला भेदी नहीं जा सकती; उसीप्रकार आत्मा में पिरोई गई चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला भी कभी किसी से भेदी नहीं जा सकती। ऐसी यह आत्मारूपी माला एक ही हमें सम्पूर्ण प्रकाशमान हो।

तात्पर्य यह है कि नित्यत्व-अनित्यत्व आदि के विकल्पों का शमन होकर हमें आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो।

इस कलश की टीका करते हुए कलश टीकाकार लिखते हैं कि अन्य करता है, अन्य भोगता है - ऐसा विकल्प अथवा जीव कर्त्ता है, भोक्ता है - ऐसा विकल्प अथवा जीव कर्त्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है - ऐसा विकल्प; इत्यादि अनंत विकल्प हैं तो भी उनमें से कोई विकल्प कभी भी शुद्धस्वरूप का अनुभव कराने में समर्थ नहीं है।

भावार्थ इसप्रकार है कि निर्विकल्प मात्र का अनुभव उपादेय है, अन्य समस्त विकल्प हेय हैं।

उक्त सम्पूर्ण कथन को आधार बनाकर कविवर बनारसीदासजी ने तीन छन्द लिखे हैं; जो इसप्रकार हैं -

(सवैया इकतीसा)

एक मैं अनेक है अनेक ही मैं एक है सो,
एक न अनेक कछु कह्यौ न परतु है।
करता अकरता है भोगता अभोगता है,
उपजै न उपजत मूएं न मरतु है॥
बोलत विचारत न बोलै न विचारै कछु,
भेख कौ न भाजन पै भेख सौ धरतु है।
ऐसौ प्रभु चेतन अचेतन की संगति सौं,
उलट पलट नटबाजी सी करतु है॥

(दोहा)

नटबाजी विकलप दसा, नांही अनुभौ जोग।
केवल अनुभौ करन कौ, निरविकलप उपजोग॥

एक जीववस्तु में अनेक पर्यायें हैं और उन अनेक पर्यायों में एक जीववस्तु ही प्रकाशमान है। इसप्रकार एक है, अनेक है; न एक है न अनेक है; क्या है कुछ कहते नहीं बनता अर्थात् वस्तु अनिर्वचनीय है।

इसीप्रकार जीव कर्त्ता है, अकर्त्ता है, भोक्ता है, अभोक्ता है; उपजता है, नहीं उपजता है; मरता है, नहीं मरता है; बोलता है, नहीं बोलता है; विचारता है, नहीं विचारता है; भेष धारण करता है, भेष धारण नहीं करता है। ऐसा यह चेतन भगवान आत्मा अचेतन की संगति में पड़कर नटबाजी सी करता हुआ उलट-पलट हो रहा है।

यह नटबाजी, नटों के समान उलट-पलट दशा सविकल्प अवस्था है; इसमें अनुभव नहीं होता। अनुभव तो एकमात्र निर्विकल्प उपयोग में ही होता है।

इसी बात को आगे बढ़ाते हुए वे तीसरा छन्द इसप्रकार लिखते हैं -

(सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू चतुर संवारी है मुकत माल,
माला की क्रिया मैं नाना भांति कौ विग्यान है।
क्रिया कौ विकलप न देखै पहिरनवारौ,
मोतिन की सोभा मैं मगन सुखवान है॥
तैसैं न करै न भुंजै अथवा करै सो भुंजै,
और करै और भुंजै सब नय प्रवांन है।
जदपि तथापि विकलप विधि त्याग जोग,
निरविकलप अनुभौ अमृत पान है॥

जिसप्रकार किसी चतुर व्यक्ति ने मोतियों की माला बनाई। उस माला के बनाने में उसने अपनी चतुराई का भरपूर उपयोग किया; किन्तु पहननेवाला मोतियों की शोभा में ही मग्न रहता है, बनाने की क्रिया के संबंध में कोई विकल्प नहीं करता।

उसीप्रकार आत्मा करता है, भोगता है; नहीं करता है, नहीं भोगता है आदि बातें नयों के अनुसार कही जाती है। निर्णय के काल में ये सब विकल्प चलते हैं; किन्तु निर्विकल्प अनुभव के अमृतपान के समय ये सभी विकल्प त्यागने योग्य हैं।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"भाई! बात कुछ सूक्ष्म है। कहते हैं कि 'कर्त्ता-भोक्ता दोनों न हो' इसका अर्थ यह है कि परमार्थ से भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु है; वह राग को करे या भोगे - ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। शुद्ध चैतन्य द्रव्य में राग का करना व भोगना है ही नहीं। पर्याय अपेक्षा आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता कहते हैं - यह जुदी बात है, वास्तव में आत्मा को - शुद्ध चैतन्यद्रव्य को राग का कर्त्ता-भोक्तापना नहीं है। किसी अपेक्षा से या युक्ति से कर्त्ता व भोक्ता का भेद भले हो या न हो, अथवा दोनों न हों, ये सब तो कथन की अपेक्षायें हैं, मूल वस्तु तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति अनादि-अनन्त एकरूप है। उसी का अनुभव करो। उस चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मद्रव्य के अनुभव से ही धर्म होता है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २५८

अहा! कर्त्ता-भोक्ता के विकल्प कोई प्रयोजनभूत वस्तु नहीं हैं। ये विकल्प तो रागरूप हैं, दु:खरूप हैं। आचार्य आदेश देकर कहते हैं कि तुम तो एक आत्मवस्तु का ही अनुभव करो! यदि तुम्हें धर्म का ही एकमात्र प्रयोजन है तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप वस्तु, जो नित्य शाश्वत है, उसका ही अनुभव करो! तथा आचार्य स्वयं के लिये भी यही भावना भाते हैं कि हमें समस्तपने एक आत्मा ही प्रकाशमान हो।

जिसतरह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के विकल्प राग हैं; उसीतरह कर्त्ता-भोक्ता के विकल्प भी राग हैं तथा राग हिंसा है, आत्मा का घातक है। इससे कहते हैं कि कर्त्ता-भोक्ता आत्मा हो या न हो - इन विकल्पों से हमारा क्या काम ? हमें तो अनन्त गुण-स्वभाव के रस से भरा चैतन्यचिन्तामणि भगवान आत्मा का ही अनुभव हो। वह एक ही हमें प्रकाशमान हो; क्योंकि जन्म-मरण के अन्त का यह एक ही उपाय है।[१]

यहाँ आत्मद्रव्य को चैतन्यचिन्तामणि माला कहा है। उसके चैतन्य स्वभावमय गुण को डोरा के समान कहा है, जो कि स्वयं नित्य कायम रहकर सम्पूर्ण द्रव्य को अपने में पिरोये रहता है तथा उन समस्त गुणों को धारण करनेवाले गुणी आत्मा का समस्त विकल्प मिटाकर एवं अन्तर्मुख होकर अनुभव करना पर्याय है। उस निर्मल पर्याय को मोक्ष का मार्ग कहा है।[२]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि कर्त्ता-भोक्ता आदि के सन्दर्भ में जिनागम में अनेक अपेक्षायें आती हैं। वस्तुस्थिति समझने के लिए समझते समय उनका भरपूर उपयोग होता है और होना भी चाहिए; किन्तु भगवान आत्मा तो उक्त समस्त विकल्पों से पार है; अत: अनुभव के काल में सभी विकल्प तिरोहित हो जाते हैं, हो जाना चाहिए। अत: हमारी भावना तो यही है कि हमें तो उक्त सभी विकल्पों से पार आत्मा का अनुभव हो।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य कहते हैं; जो इसप्रकार है -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २५९
२. वही, पृष्ठ २६०

(रथोद्धता)

व्यावहारिकदृशैव केवलं, कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते, कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते॥ २१०॥

(दोहा)

अरे मात्र व्यवहार से कर्मरु कर्त्ता भिन्न।
निश्चयनय से देखिये दोनों सदा अभिन्न॥ २१०॥

केवल व्यवहारदृष्टि से ही कर्त्ता और कर्म भिन्न-भिन्न माने जाते हैं; यदि निश्चयनय की दृष्टि से विचार किया जाये तो कर्त्ता और कर्म सदा एक ही माने जाते हैं।

इस कलश का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है; इसमें कहने के लिए कुछ विशेष है ही नहीं।

कविवर बनारसीदासजी इसका भावानुवाद इसप्रकार करते हैं -

(दोहा)

दरब करम करता अलख, यह विवहार कहाउ।
निहचै जो जैसौ दरब, तैसौ ताकौ भाउ॥

'द्रव्यकर्म का कर्त्ता आत्मा है' - यह व्यवहारनय से कहा जाता है; निश्चयनय से तो जो द्रव्य जैसा है, उसका भाव भी वैसा ही होता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय से तो चेतनभाव का कर्त्ता चेतन है और अचेतन का कर्त्ता अचेतन है।

यही एक मार्ग है

भव का अन्त लाना हो तो निमित्ताधीन दृष्टि छोड़कर त्रिकाली उपादानरूप निज स्वभाव का आश्रय लो और उसका स्वरूप समझानेवाले, उसी में जम जाने और रम जाने की प्रेरणा देनेवाले सत्पुरुष की संगति करो, समागम करो, शरण में जावो; यही एक मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं। — **निमित्तोपादान,** पृष्ठ ३४

समयसार गाथा ३४९-३५५

जो बात उत्थानिका के कलश में कही गई है; अब उसी बात को इन गाथाओं में विस्तार से स्पष्ट करते हैं -

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि॥३४९॥
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि॥३५०॥
जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य तम्मओ होदि॥३५१॥
जह सिप्पि दु कम्मफलं भुंजदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य तम्मओ होदि॥३५२॥
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि॥३५३॥
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुवदि हवदि य अणण्णो से॥३५४॥
जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होदि।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो॥३५५॥

(हरिगीत)

ज्यों शिल्पि कर्म करे परन्तु कर्ममय वह ना बने।
त्यों जीव कर्म करे परन्तु कर्ममय वह ना बने॥ ३४९॥
ज्यों शिल्पि करणों से करे पर करणमय वह ना बने।
त्यों जीव करणों से करे पर करणमय वह ना बने॥ ३५०॥
ज्यों शिल्पि करणों को ग्रहे पर करणमय वह ना बने।
त्यों जीव करणों को ग्रहे पर करणमय वह ना बने॥ ३५१॥
ज्यों शिल्पि भोगे कर्मफल तन्मय परन्तु होय ना।
त्यों जीव भोगे कर्मफल तन्मय परन्तु होय ना॥ ३५२॥

संक्षेप में व्यवहार का यह कथन दर्शाया गया।
अब सुनो परिणाम विषयक कथन जो परमार्थ का॥ ३५३॥
शिल्पी करे जो चेष्टा उससे अनन्य रहे सदा।
जीव भी जो करे वह उससे अनन्य रहे सदा॥ ३५४॥
चेष्टा में मगन शिल्पी नित्य ज्यों दुःख भोगता।
यह चेष्टा रत जीव भी त्यों नित्य ही दुःख भोगता॥ ३५५॥

जिसप्रकार शिल्पी (कलाकार-सुनार) कुण्डल आदि कार्य (कर्म) करता है; किन्तु कुण्डलादि को बनाते समय वह उनसे तन्मय नहीं होता, उनरूप नहीं होता; उसीप्रकार जीव भी पुण्य-पापादि पुद्गल कर्मों को कर्त्ता है; परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता, उनरूप नहीं होता।

जिसप्रकार शिल्पी हथौड़ा आदि करणों (साधनों) से कर्म करता है; परन्तु वह उससे तन्मय नहीं होता; उसीप्रकार जीव मन-वचन-कायरूप करणों से कर्म करता है; परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता।

जिसप्रकार शिल्पी करणों को ग्रहण करता है, परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता; उसीप्रकार जीव करणों को ग्रहण करता है, पर उनसे तन्मय (करणमय) नहीं होता।

जिसप्रकार शिल्पी कुण्डल आदि कर्म के फल को भोगता है; परन्तु वह उससे तन्मय नहीं होता; उसीप्रकार जीव भी पुण्य-पापादि पुद्गलकर्म के फल को भोगता है; परन्तु तन्मय (पुद्गलपरिणामरूप सुख-दुःखादिमय) नहीं होता।

इसप्रकार व्यवहार का मत संक्षेप में दर्शाया। अब परिणाम विषयक निश्चय का मत (मान्यता) सुनो।

जिसप्रकार शिल्पी चेष्टारूप कर्म करता है और वह उससे अनन्य है; उसीप्रकार जीव भी अपने परिणामरूप कर्म को करता है और वह जीव उस अपने परिणामरूप कर्म से अनन्य है।

जिसप्रकार चेष्टारूप कर्म करता हुआ शिल्पी नित्य दुःखी होता है; उसीप्रकार अपने परिणामरूप चेष्टा को करता हुआ जीव भी दुःखी होता है, दुःख से अनन्य है।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जिसप्रकार शिल्पी कुण्डल आदि परद्रव्यपरिणामात्मक कर्म को हथौड़ा आदि परद्रव्यपरिणामात्मक करणों द्वारा करता है; हथौड़ा अदि परद्रव्य परिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है और कुण्डल आदि कर्मफल को परद्रव्यात्मक ग्रामादि (गाँव के लोग) भोगता है; किन्तु अनेकद्रव्यत्व के कारण वह शिल्पी कर्म, करण आदि भिन्न होने से उनसे तन्मय (कर्मकरणादिमय) नहीं होता; इसलिए वहाँ कर्तृ-कर्मत्व और भोक्ता-भोक्तृत्व का व्यवहार मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव से ही है।

उसीप्रकार आत्मा भी पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक पुण्य-पापादि कर्म को मन-वचन-कायरूप पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक करणों के द्वारा करता है; मन-वचन-कायरूप पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है और पुद्गलपरिणामात्मक पुण्य-पापादि कर्म के सुख-दुःखादि फल को भोगता है; परन्तु अनेकद्रव्यत्व के कारण उनसे अन्य होने से तन्मय नहीं होता; इसलिए वहाँ कर्तृ-कर्मत्व और भोक्ता-भोक्तृत्व का व्यवहार मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव से है।

जिसप्रकार वही शिल्पी करने का इच्छुक होता हुआ चेष्टारूप अर्थात् कुण्डलादि करने के अपने परिणामरूप और हस्तादि के व्यापाररूप जो स्वपरिणामात्मक कर्म करता है तथा चेष्टारूप दुःखस्वरूप कर्म के स्वपरिणामात्मक फल को भोगता है और एकद्रव्यत्व के कारण कर्म और कर्मफल से अनन्य होने से तन्मय (कर्ममय और कर्मफलमय) है; इसलिए परिणाम-परिणामीभाव से कर्त्ता-कर्मपने और भोक्ता-भोग्यपने का निश्चय है।

उसीप्रकार आत्मा भी करने का इच्छुक होता हुआ चेष्टारूप अर्थात् रागादि परिणामरूप और प्रदेशों के व्यापाररूप जो आत्मपरिणामात्मक कर्म करता है, चेष्टारूप कर्म के आत्मपरिणामात्मक दुःखरूप फल को भोगता है और एकद्रव्यत्व के कारण उनसे अनन्य होने से तन्मय है; इसलिए परिणाम-परिणामीभाव से वही कर्त्ता-कर्मपन और भोक्ता-भोग्यपन का निश्चय है।"

उक्त गाथाओं में कर्त्ता-कर्म तथा भोक्ता-भोग्य संबंधी निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण किया गया है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का भाव इसीप्रकार व्यक्त करते हुए नयविभाग स्पष्ट कर देते हैं कि व्यवहारनय से आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है और अशुद्धनिश्चयनय से भावकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है।

उक्त गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"तात्पर्य यह है कि -

१. अज्ञानी जीव पर में हर्ष-शोक के भाव करता है तथा उन्हें भोगता है; परन्तु परद्रव्य को अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि का न तो कर्त्ता है और न भोक्ता ही है।

२. ज्ञानी जीव को अन्तरंग में स्वभाव का अर्थात् शुद्ध एक ज्ञायकभाव का भान हुआ है; इसकारण वह स्वभावदृष्टि से रागादिभावों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता।

३. तथापि ज्ञानी के जितना रागरूप परिणमन है, उतने परिणमन की अपेक्षा से उसे भी कर्त्तापना तथा भोक्तापना है। ज्ञानी स्वभाव की दृष्टि से राग का कर्त्ता नहीं है, दु:ख का भोक्ता नहीं है; परन्तु इससे कोई एकान्त पकड़ कर ऐसा माने कि ज्ञानी के सर्वथा दु:ख होता ही नहीं है तो यह बात नहीं है। ज्ञानी के जितना किंचित् राग है, उतना उस समय दु:ख है और वह उसका उतनी मात्रा में कर्त्ता एवं भोक्ता भी है।

यहाँ तो इस समय अज्ञानी की बात चलती है कि अज्ञानी जीव स्व-परिणामात्मक राग के परिणाम का कर्त्ता है तथा उसके फलस्वरूप जो हर्ष-विषाद होता है, उसका भोक्ता है; किन्तु परद्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता तो अज्ञानी भी नहीं है।[१]

भाई! सारा जगत जो माने बैठा है, उस सबसे यह जुदी बात है। स्वर्णकार जो हार आदि जेवर बनाता है, वह वस्तुत: स्वर्णकार का कार्य नहीं है। कुंभकार

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २७०-२७१

जो घड़ा बनाता है, वह वस्तुतः कुंभकार का कार्य नहीं है। दर्जी जो कपड़े सिलता है, वह दर्जी का कार्य नहीं है। भाई! सोनी, दर्जी, कुम्हार आदि कारीगर अज्ञानभाव से अपने उस काम करने के राग व विकल्प के कर्त्ता तो हैं; परन्तु वे परद्रव्य के परिणाम के कर्त्ता तो कदापि नहीं हैं; क्योंकि परिणाम-परिणामी से अभिन्न होता है तथा जहाँ दोनों अभिन्न होते हैं, वहीं कर्त्ता-कर्मपना संभव है।[१]

अहो! जिसप्रकार चन्द्रमा की चाँदनी का उज्ज्वल प्रकाश है, उसीप्रकार भगवान आत्मा का परमशुद्ध एक ज्ञानप्रकाश है। बस 'जानना' आत्मा का कार्य है। पर का कुछ करना या करने संबंधी राग करना भी आत्मा का कार्य नहीं है। पर का कार्य मैं करता हूँ या कर सकता हूँ - ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है। जीव को राग का कर्त्ता जो कहा जाता है, वह तो अज्ञानी जीव की अपेक्षा कहा जाता है, यहाँ भी कहा है कि अज्ञानभाव से जीव राग का कर्त्ता भले हो; परन्तु पर के कार्य का कर्त्ता जीव हो, यह तो त्रिकाल संभव ही नहीं है, सत्य नहीं है।[२]''

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि परद्रव्यों के साथ तन्मय नहीं होने से, एकाकार नहीं होने से यह आत्मा उनका कर्त्ता-भोक्ता मात्र व्यवहार से ही कहा जाता है; परमार्थ से वह उनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं है; तथापि उनको करने-भोगनेरूप अपने भावों का, तत्संबंधी योग और उपयोग का कर्त्ता-भोक्ता अवश्य है।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(नर्दटक)

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः॥ २११॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २७२
२. वही, पृष्ठ २७३

(दोहा)

अरे कभी होता नहीं कर्त्ता के बिन कर्म।
निश्चय से परिणाम ही परिणामी का कर्म॥
सदा बदलता ही रहे यह परिणामी द्रव्य।
एकरूप रहती नहीं वस्तु की थिति नित्य॥ २११॥

वस्तुतः परिणाम ही निश्चय से कर्म है और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं तथा कर्म कर्त्ता के बिना नहीं होता एवं वस्तु की स्थिति सदा एक सी नहीं रहती; इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्त्ता है।

इस कलश का अर्थ पाण्डे राजमलजी की कलशटीका में उपलब्ध नहीं है। यह कैसे हुआ, इस संबंध में कुछ भी कहना संभव नहीं है। यद्यपि प्रकाशकों ने उक्त छन्द का भी अर्थ लिखा है; तथापि वह अर्थ पाण्डे राजमलजी कृत नहीं है।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि कविवर बनारसीदासजी पाण्डे राजमलजी की कलशटीका पर इतने निर्भर हैं कि उन्होंने भी इस छन्द का भावानुवाद नहीं किया। यही कारण है कि नाटक समयसार में इस भाव का पोषक कोई भी छन्द नहीं है।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यहाँ इस कलश में यह कहा जा रहा है कि राग-द्वेष-मोह के परिणाम निश्चय से जीव के कर्म हैं; क्योंकि परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के ही होते हैं, अन्य के नहीं। शरीर का हलन-चलन, भाषा आदि के परिणाम निश्चय से पुद्गल परमाणुओं का कार्य हैं। वे जीव के कार्य नहीं हैं; क्योंकि जीव के आश्रयभूत नहीं हैं, जीव से हुए नहीं हैं।[१]

कहते हैं कि परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं। राग-द्वेष आदि परिणाम जो होते हैं, वे अपने आश्रयभूत परिणामी (आत्मद्रव्य) के ही परिणाम हैं, अन्य के नहीं।[२]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २७७
२. वही, पृष्ठ २७७

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि परिणाम आत्मा में आत्मा से ही होता है। परिणाम अर्थात् वर्तमान पर्याय परिणामी द्रव्य के आश्रय से ही होती है। परिणाम का आश्रय परिणामी ही है, अन्य नहीं। किसी भी परिणाम को कोई अन्य द्रव्य नहीं करता।

अहो! यहाँ अज्ञानी की यह मिथ्या मान्यता मिटाना चाहते हैं कि 'मैं पर का कार्य कर सकता हूँ, करता हूँ।[1]

अब कहते हैं कि कर्म कर्त्ता के बिना नहीं होता तथा वस्तु की सदा एकरूप स्थिति नहीं रहती अर्थात् द्रव्य कूटस्थ नहीं है; क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप होने से सर्वथा नित्य नहीं हो सकती। इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्त्ता है।

देखो, इस कलश में पाँच सिद्धान्त गुथे हुये हैं -

१. वस्तुतः परिणाम ही निश्चय से कर्म है।

२. परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं।

३. कर्म कर्त्ता बिना नहीं होता।

४. वस्तु की सदा एकरूप स्थिति नहीं रहती।

५. वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्त्ता है। यह निश्चय सिद्धान्त है।

भाई! यह सिद्धान्त 'अहं करोमि' के कर्तृत्व का मूल से ही नाश कर देता है।

वस्तु सहज ही द्रव्य-पर्याय स्वरूप है, उसमें द्रव्य तो नित्य एकरूप है; परन्तु पर्याय तो क्षण-क्षण में पलटती है। प्रत्येक समय एक अवस्था बदल कर दूसरी होती है। यह वस्तु का स्वभाव है। वस्तु की अवस्थायें जो अन्य-अन्य होती हैं, विलक्षण होती हैं, वे निमित्तों की विविधता या विचित्रता के कारण नहीं होतीं, बल्कि अवस्थाओं का उसरूप पलटना वस्तु का सहज स्वभाव है। वे वस्तु की ही कार्यभूत हैं। वही वस्तु उन-उन अवस्थाओं की कर्त्ता है।[2]"

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २७८
२. वही, पृष्ठ २७८-२७९

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि वस्तु की स्थिति सदा एक सी नहीं रहती, वह निरंतर पलटती रहती है। निश्चय से परिणाम परिणामी का ही होता है और कर्त्ता कर्म के बिना नहीं होता। इसलिए प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने परिणाम की कर्त्ता है।

इसके बाद आत्मख्याति में आगामी गाथाओं की विषयवस्तु की उत्थानिका रूप तीन काव्य लिखे गये हैं; जो इसप्रकार हैं -

(पृथ्वी)

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनंतशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम्।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते॥ २१२॥

(रथोद्धता)

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चतोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि॥ २१३॥
यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः, किंचनापि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं, नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात्॥ २१४॥

(रोला)

यद्यपि आतमराम शक्तियों से है शोभित।
और लोटता बाहर-बाहर परद्रव्यों के॥
पर प्रवेश पा नहीं सकेगा उन द्रव्यों में।
फिर भी आकुल-व्याकुल होकर क्लेश पा रहा॥ २१२॥
एक वस्तु हो नहीं कभी भी अन्य वस्तु की।
वस्तु वस्तु की ही है - ऐसा निश्चित जानो॥
ऐसा है तो अन्य वस्तु यदि बाहर लोटे।
तो भी वह क्या कर सकती है अन्य वस्तु का॥ २१३॥
स्वयं परिणमित एक वस्तु यदि परवस्तु का।
कुछ करती है - ऐसा जो माना जाता है॥
वह केवल व्यवहारकथन है निश्चय से तो।
एक दूसरे का कुछ करना - शक्य नहीं है॥ २१४॥

जिसको स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है, ऐसी वस्तु यद्यपि अन्य वस्तु के बाहर लोटती है; तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तु के भीतर प्रवेश नहीं करती; क्योंकि समस्त वस्तुयें अपने-अपने स्वभाव में निश्चित हैं - ऐसा माना जाता है। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा होने पर भी मोहित जीव अपने स्वभाव से चलित होकर आकुल होता हुआ क्यों क्लेश पाता है?

तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वभाव का नियम तो ऐसा है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु में नहीं मिलती; फिर भी यह मोही प्राणी परज्ञेयों के साथ पारमार्थिक सम्बन्ध स्वीकार कर क्लेश पाता है। - यह उसके अज्ञान की महिमा जानो।

इस लोक में एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है; इसलिए वस्तुतः तो वस्तु वस्तु ही है - यह निश्चय है। ऐसा होने से कोई अन्य वस्तु अन्य वस्तु के बाहर लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है?

स्वयं परिणमती वस्तु का अन्य वस्तु कुछ कर सकती है - ऐसा जो माना जाता है; वह व्यवहार से माना जाता है; निश्चय से तो अन्य वस्तु का अन्य वस्तु से कुछ भी संबंध नहीं है।

इन कलशों का भाव स्पष्ट करते हुये कलश टीकाकार लिखते हैं -

"जीव का स्वभाव ऐसा है कि सकल ज्ञेय को जानता है। कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा जानेगा कि ज्ञेयवस्तु को जानते हुए जीव के अशुद्धपना घटित होता है। उसका समाधान ऐसा है कि अशुद्धपना घटित नहीं होता है, जीववस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, जो समस्त ज्ञेयवस्तु को जानता है।

भावार्थ इसप्रकार है कि जीवद्रव्य समस्त ज्ञेयवस्तु को जानता है - ऐसा तो स्वभाव है; परन्तु ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता है, ज्ञेय भी ज्ञानद्रव्यरूप नहीं परिणमता है - ऐसी वस्तु की मर्यादा है।

भावार्थ इसप्रकार है कि वस्तुस्वरूप की मर्यादा तो ऐसी है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्य के साथ एकरूप नहीं होता है। इसके उपरान्त भी **जीव का स्वभाव ज्ञेय वस्तु को जाने - ऐसा है तो रहो तो भी धोखा तो कुछ नहीं है। जीवद्रव्य ज्ञेय को जानता हुआ अपने स्वरूप है।**

कोई आशंका करता है कि जैन सिद्धान्त में भी ऐसा कहा है कि जीव ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म को करता है, भोगता है। उसका समाधान इसप्रकार है कि झूठे व्यवहार से कहने को है। द्रव्य के स्वरूप का विचार करने पर परद्रव्य का कर्त्ता जीव नहीं है।''

उक्त तीन कलशों का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी इसप्रकार करते हैं-

(सवैया इकतीसा)

ग्यान कौ सहज ज्ञेयाकार रूप परिणवै,
यद्यपि तथापि ग्यान ग्यानरूप कह्यौ है।
ज्ञेय ज्ञेयरूप यौं अनादि ही की मरजाद,
काहू वस्तु काहू कौ सुभाव नहि गह्यौ है॥
एते पर कोऊ मिथ्यामती कहै ज्ञेयाकार,
प्रतिभासन सौं ग्यान असुद्ध ह्वै रह्यौ है।
याही दुरबुद्धि सौं विकल भयौ डोलत है,
समुझै न धरम यौं भरम मांहि बह्यौ है॥

(चौपाई)

सकल वस्तु जग मैं असहाई। वस्तु वस्तु सौं मिलै न काई।
जीव वस्तु जानै जग जेती। सोऊ भिन्न रहै सब सेती॥

(दोहा)

करम करै फल भोगवै, जीव अग्यानी कोइ।
यह कथनी विवहार की, वस्तुस्वरूप न होइ॥

यद्यपि ज्ञान का सहज स्वभाव ज्ञेयाकाररूप परिणमन करने का है; तथा ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेयरूप ही रहता है - ऐसी अनादिकालीन मर्यादा है; क्योंकि कोई वस्तु किसी के स्वभाव को ग्रहण नहीं करती। - ऐसा होने पर भी **वैशेषिकों के समान कोई मिथ्यादृष्टि जैनी कहते हैं कि ज्ञान में ज्ञेयाकारों के प्रतिभासन से ज्ञान अशुद्ध हो रहा है।** वह इसी अज्ञान के कारण दु:खी हो रहा है, संसार में भ्रमण कर रहा है, धर्म के मर्म को समझता नहीं है और भ्रम में बह रहा है।

इस जगत में समस्त वस्तुयें पूर्णत: असहाय हैं, स्वाधीन हैं; कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु से मिलती नहीं है। जगत में जितनी वस्तुयें हैं; यद्यपि जीव उन्हें जानता है; तथापि वह उन सबसे भिन्न ही रहता है।

कोई अज्ञानी जीव कर्म करता है और उन कर्मों का फल भोगता है। - यह कथन व्यवहारनय का है, वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

जो लोग परवस्तु को जानना मात्र अशुद्धता है, बंध का कारण है; - ऐसा मानते हों; उन्हें कलशटीका और नाटक समयसार के उक्त कथनों का गहराई से मंथन करना चाहिये।

उक्त कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"आचार्य कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु (आत्मा और परमाणु) अपनी-अपनी अनन्त शक्तियों से प्रकाशमान हैं। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु से बाहर-बाहर ही लोटती है, एक-दूसरे में प्रविष्ट नहीं होती। द्रव्य में या वस्तु में यद्यपि अनंत शक्तियाँ हैं; तथापि उनमें एक भी शक्ति ऐसी नहीं है, जो परवस्तु में प्रवेश करके उसका कुछ करे या उसमें कुछ परिवर्तन कर सके।[१]

वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है। उसकी पर्याय स्वत: अपनी योग्यतानुसार बदलकर प्रतिक्षण अन्य-अन्य होती है। वहाँ संयोगी अन्य वस्तु (निमित्त) उस अवस्था को विलक्षणपने नहीं बदल सकती; क्योंकि निमित्तरूप अन्य वस्तु तो उसके बाहर-बाहर ही लोटती है, वस्तु में प्रवेश करती ही नहीं है। तथा अन्य-अन्य अवस्थारूप पलटना तो वस्तु का सहज ही स्वभाव है, उसे पलटने के लिए अन्य द्रव्य की अपेक्षा ही नहीं है।

अहा! जैन परमेश्वर के द्वारा कहा गया तत्त्व, वस्तुस्वरूप बहुत सूक्ष्म एवं गंभीर है। पूर्वाग्रह से ग्रस्त जीवों की समझ में आना कठिन पड़ता है। पर करें क्या ?[२]

वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि अन्य वस्तु अन्य वस्तु में प्रवेश नहीं करती, अग्नि पानी में प्रवेश नहीं करती। वस्तुत: बात यह है कि पानी की शीतल

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २८१
२. वही, पृष्ठ २८१

अवस्था हो या उष्ण, दोनों ही अवस्थाओं में पानी के परमाणु ही उस-उसरूप से परिणमते हैं। बाह्य वस्तु तो उसमें निमित्तमात्र ही है, अनुकूल मात्र ही है। अग्नि के कारण पानी उष्ण होता ही नहीं है। पानी की शीतल या उष्ण अवस्था तो पानी के परमाणुओं की तत्समय की स्वतंत्र योग्यता से होती है। उस पर्याय का उसरूप होना उसका स्वतंत्र जन्मक्षण है।[१]

इस कलश का भावार्थ यह है कि कोई एक वस्तु में अन्य वस्तु मिलती नहीं है - ऐसा वस्तु का स्वभाव है। देखो, जगत में अनंत द्रव्य हैं, वे परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। कोई किसी में प्रविष्ट नहीं होता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के बाहर ही लोटता है। इससे स्पष्ट है कि कोई एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य नहीं करता। यह महासिद्धान्त है।[२]

भाई! ऐसा स्वतंत्र यथार्थ वस्तुस्वरूप माने बिना दृष्टि पर से हटकर द्रव्यस्वभाव पर कैसे जाये और दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर जाये बिना सम्यग्दर्शन कैसे हो ?[३]

यहाँ कहते हैं कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु में मिलती नहीं है - यह अचलित नियम है तो भी मोही जीव परज्ञेयों के साथ मेरा पारमार्थिक सम्बन्ध है - ऐसा मानकर क्लेश पाता है, सो यह उसका बड़ा भारी अज्ञान है।[४]

देखो, वस्तु तो वस्तु ही है। एक वस्तु दूसरी वस्तु से अत्यन्त भिन्न है। ऐसा होने पर एक वस्तु दूसरी वस्तु के बाहर-बाहर ही लोटती रहने से, एक-दूसरे में प्रवेश न पाने से वह अन्य का क्या कर सकती है ?[५]

भाई! 'पर' का ज्ञान होने के काल में भी उस 'परज्ञेय' के कारण वह ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो अपने कारण स्वयं से ही होता है, वही उसका जन्मक्षण है।

इस कलश का भावार्थ यह है कि -

एक आत्मा दूसरे आत्मा में कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २८३
२. वही, पृष्ठ २८४
३. वही, पृष्ठ २८४
४. वही, पृष्ठ २८५
५. वही, पृष्ठ २८७

एक परमाणु दूसरे परमाणु को पलट नहीं सकता।
एक परमाणु दूसरे आत्मा को पलट नहीं सकता।
एक आत्मा किसी परमाणु को पलट नहीं सकता।

एक वस्तु यदि दूसरी वस्तु को पलट दे तो वस्तु का वस्तुपना ही नहीं रह सकेगा। इसलिए यह सिद्धान्त अटल है कि एक वस्तु अन्य वस्तु को पलट ही नहीं सकती। अग्नि से पानी उष्ण नहीं होता। बाई रोटी नहीं बनाती। कर्मों से विकार नहीं होता। गुरु से शिष्य को ज्ञान नहीं होता। कुम्हार घड़ा नहीं बनाता।

इसप्रकार जहाँ एक वस्तु अन्य वस्तु को परिणमा नहीं सकती, वहाँ एक वस्तु अन्य वस्तु का क्या कर सकती है? क्योंकि निमित्त उपादान को पलट ही नहीं सकता।[१]

यह आत्मा स्वयं स्वरूप से ज्ञायक है तथा शरीर-मन-वाणी-इन्द्रिय-कर्म-नोकर्म आदि जड़ पदार्थ व अन्य आत्मायें ज्ञेय हैं। यद्यपि उन सर्व परद्रव्यों में और आत्मा में व्यवहार से ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है, तथापि उन परद्रव्यों के कारण आत्मा ज्ञायक नहीं है। परद्रव्य ज्ञायक का कुछ करते नहीं हैं, ज्ञायक को जिन-जिन परद्रव्यों का ज्ञान होता है, वह ज्ञान उन-उन परद्रव्यों के कारण नहीं होता। परज्ञेय आत्मा की ज्ञानपर्याय में कुछ करते नहीं हैं। ज्ञान जो ज्ञेयों को जानता है, वह जाननेरूप ज्ञान की ही स्वयं की सामर्थ्य है, उसमें ज्ञेयों का योगदान कुछ भी नहीं है। 'ज्ञेय हैं, इसकारण उनका ज्ञान हुआ' - यह मानना मिथ्या है। बात बहुत सूक्ष्म है, पर जानने जैसी है। 'पर' को जानने के लिये ज्ञान को 'पर' अस्तित्व की कतई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि ज्ञान ज्ञेयों को जानने के लिये उनका मुखापेक्षी नहीं है। वह पूर्ण स्वाधीन है, स्वतंत्र है।

बापू! ज्ञान ज्ञायक आत्मा का परिणाम है और उस ज्ञानपरिणाम का कर्त्ता ज्ञायक स्वयं है, परज्ञेय नहीं। परद्रव्यों में जो-जो भी कार्य होते हैं, उन कार्यों के कर्त्ता तत्संबंधी परद्रव्य ही हैं, आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २८८

इसप्रकार जीव के परिणाम का कर्त्ता जीव है; परद्रव्य नहीं।

सर्वज्ञ भगवान को जो केवलज्ञान प्रगट होता है, उसका कर्त्ता भगवान केवली ही हैं। भगवान केवली सर्वजीव, सर्वलोक और सर्वभावों को एक समय में जानते हैं। वह जाननेवाला ज्ञान ज्ञेयों के कारण नहीं होता। ज्ञान ज्ञेयों को यथास्थित जानता है; जैसे ज्ञेय हैं, ठीक वैसा ही जानता है; फिर भी वह उन ज्ञेयों के कारण नहीं होता, बल्कि वह ज्ञान स्वयं अपनी तत्समय की सामर्थ्य (योग्यता) से ही हुआ है। है न ज्ञान की गजब की स्वतंत्रता ?

भगवान जिनेन्द्रदेव फरमाते हैं कि ज्ञानपर्याय का कर्त्ता जीव है। ज्ञेयों से ज्ञान नहीं होता। इसप्रकार पदार्थों में (स्व-पर पदार्थों में) भिन्नता है। ऐसा वस्तुस्वरूप होते हुये भी ज्ञेयों से ज्ञान का होना मानना - दो द्रव्यों में एकपना मानना - भारी भ्रांति है।

परज्ञेय ज्ञायक का कुछ करते नहीं हैं तथा ज्ञायक भी परज्ञेयों का कुछ करता नहीं है - ऐसा यथार्थ जानना। ऐसा यथार्थ जाननेवालों का मोह सहज ही क्षय हो जाता है और उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।[१]

भावार्थ यह है कि आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसका ज्ञानगुण भी त्रिकाली है, उस ज्ञान की पर्याय प्रतिसमय स्वयं से होती है। 'भगवान की वाणी से ज्ञान हुआ' - ऐसा कहना व्यवहारनय की दृष्टि है। निश्चय से तो भगवान की वाणी ने आत्मा का कुछ भी नहीं किया।[२]

देखो, शीतलता की भाँति वह उष्णता भी पानी की ही अवस्था है, अग्नि तो उसमें निमित्त मात्र है। शीतल अवस्था पलटकर वर्तमान में उष्ण हुई है, वह स्वयं पानी का ही परिणमन है। अग्नि ने उसमें अपना कुछ मिलाया नहीं है। अग्नि से पानी उष्ण हुआ - ऐसा कहना व्यवहारदृष्टि का कथन है। निश्चय से अग्नि ने पानी का कुछ भी नहीं किया है।

इसीतरह आत्मा में ज्ञान का परिणमन होता है, वहाँ परज्ञेय निमित्तमात्र हैं; परन्तु निमित्त उसमें कुछ करते नहीं हैं।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २८८-२८९
२. वही, पृष्ठ २९१
३. वही, पृष्ठ २९१

अपने-अपने स्वभाव से परिणमित होते हुये पदार्थों को अन्य कोई भी पदार्थ परिणमा नहीं सकता। ज्ञायक परद्रव्यों को जानता है - ऐसा जो कहा जाता है, वह भी मात्र उपचार से कहा जाता है। निश्चय से तो ज्ञायक भी स्वयं, ज्ञान भी स्वयं और ज्ञेय भी स्वयं ही है। भाई! पर को जानने के काल में भी वह अपनी ज्ञान की पर्याय को ही जानता है। ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य द्वारा ही स्व और पर जाने जाते हैं। परज्ञेयों के कारण ज्ञान कभी होता ही नहीं है। निश्चय से ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है अर्थात् ज्ञायक अपने से ही अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को ही जानता हुआ ज्ञायक है।[१]"

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि भले ही व्यवहार से ऐसा कहा जाता हो कि एक वस्तु दूसरी वस्तु को करती-भोगती है; परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु के भीतर प्रविष्ट ही नहीं होती, बाहर-बाहर ही लोटती है। बाहर-बाहर ही लोटती हुई वह वस्तु अन्य वस्तु का क्या कर सकती है? अतः निश्चयनय का यह कथन परमसत्य है कि कोई भी वस्तु अन्य वस्तु की कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ २९२

सच्चा सुख

सच्चा सुख तो इच्छाओं के अभाव में है, इच्छाओं की पूर्ति में नहीं, क्योंकि हम इच्छाओं की कमी (आंशिक अभाव) में आकुलता की कमी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अतः यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इच्छाओं के पूर्ण अभाव में पूर्ण सुख होगा ही। यदि यह कहा चाए कि इच्छा पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है, अतः उसे सुख कहना चाहिए, यह कहना भी गलत है; क्योंकि इच्छाओं के अभाव का अर्थ इच्छाओं की पूर्ति होना नहीं, वरन् इच्छाओं का उत्पन्न ही नहीं होना है।

— मैं कौन हूँ ?, पृष्ठ ३

समयसार गाथा ३५६-३६५

जो बात उत्थानिका के कलशों में कही गई है; अब वही बात गाथाओं में विस्तार से कहते हैं। गाथायें मूलत: इसप्रकार हैं -

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु॥ ३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह पासगो दु ण परस्स पासगो पासगो सो दु॥ ३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु॥ ३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु॥ ३५९॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण॥ ३६०॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि णादा वि सएण भावेण॥ ३६१॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सएण भावेण॥ ३६२॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहदि णादा वि सएण भावेण॥ ३६३॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मदिट्ठी सहावेण॥ ३६४॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो॥ ३६५॥

(हरिगीत)

ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है॥ ३५६॥

ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का दर्शक तो बस दर्शक ही है॥ ३५७॥
ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
संयत नहीं त्यों अन्य का संयत तो बस संयत ही है॥ ३५८॥
ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
दर्शन नहीं त्यों अन्य का दर्शन तो बस दर्शन ही है॥ ३५९॥
यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक कथन है परमार्थ का।
अब सुनो अतिसंक्षेप में तुम कथन नय व्यवहार का॥ ३६०॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि ज्ञाता जानता परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६१॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि दृष्टा देखता परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६२॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि ज्ञाता त्यागता परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६३॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
सुदृष्टि त्यों हि श्रद्धता परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६४॥
यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक कथन है व्यवहार का।
अर अन्य पर्यय विषय में भी इसतरह ही जानना॥ ३६५॥

यद्यपि व्यवहार से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है, दृश्य-दर्शक संबंध है, त्याज्य-त्याजक सम्बन्ध है; तथापि निश्चय से तो वस्तुस्थिति इसप्रकार है -

जिसप्रकार सेटिका अर्थात् खड़िया मिट्टी या पोतने का चूना या कलई पर (दीवाल) की नहीं है; क्योंकि सेटिका (कलई) तो सेटिका ही है; उसीप्रकार ज्ञायक आत्मा तो ज्ञेयरूप परद्रव्यों का नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।

जिसप्रकार कलई पर की नहीं है, कलई तो कलई ही है; उसीप्रकार दर्शक पर का नहीं है, दर्शक तो दर्शक ही है।

जिसप्रकार कलई पर की नहीं है, कलई तो कलई ही है; उसीप्रकार संयत (पर का त्याग करनेवाला) पर का नहीं है, संयत तो संयत ही है।

जिसप्रकार कलई पर की नहीं है, कलई तो कलई ही है; उसीप्रकार दर्शन (श्रद्धान) पर का नहीं है, दर्शन तो दर्शन ही है अर्थात् श्रद्धान तो श्रद्धान ही है।

इसप्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सन्दर्भ में निश्चयनय का कथन है और अब उस सम्बन्ध में संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनो।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्यों को जानता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार जीव अपने स्वभाव से परद्रव्यों को देखता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्यों को त्यागता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव से परद्रव्यों का श्रद्धान करता है।

इसप्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र में व्यवहारनय का निर्णय कहा है। अन्य पर्यायों में भी इसीप्रकार जानना चाहिए।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"सेटिका अर्थात् कलई श्वेत (सफेद) पदार्थ है और दीवार आदि श्वेत्य (सफेद किये जाने योग्य - पोते जाने योग्य) पदार्थ हैं। अब श्वेत करनेवाली कलई श्वेत किये जाने योग्य दीवाल आदि परद्रव्यों की है या नहीं? - इसप्रकार यहाँ उनके तात्विक (पारमार्थिक) संबंध की मीमांसा की जा रही है।

अब सबसे पहले यह विचार किया जाता है कि यदि कलई दीवार आदि परद्रव्यों की हो तो क्या हो? जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे कि ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा ही है। इसप्रकार के तात्विक संबंध के जीवित (विद्यमान) होने से कलई यदि दीवाल आदि की हो तो फिर वह कलई दीवार ही होगी। ऐसा होने पर कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायगा, परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कलई दीवार आदि की नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि कलई दीवार आदि की नहीं है तो फिर वह कलई किसकी है?

यदि यह कहा जाय कि वह कलई कलई की ही है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि उस कलई से भिन्न दूसरी कौन सी कलई है कि जिसकी वह कलई है।

इसके उत्तर में यह कहा जा रहा है कि उस कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है; किन्तु वे दो स्व-स्वामीरूप अंश ही हैं।

यहाँ स्व-स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं है। ऐसी स्थिति में कलई किसी की भी नहीं हैं, कलई तो कलई ही है - यह निश्चय है।

यह तो दृष्टान्त है; अब इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटित करते हैं -

इस जगत में चेतयिता अर्थात् चेतनेवाला आत्मा ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उसके ज्ञेय हैं।

अब ज्ञायक आत्मा पुद्गलादि ज्ञेयों का है या नहीं - इस बात का तात्विक विचार किया जाता है।

यदि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि ज्ञेयों का हो तो क्या हो - सर्वप्रथम इसका विचार करते हैं? जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा ही है - ऐसा तात्विक संबंध जीवित होने से चेतयिता आत्मा यदि पुद्गलादि का हो तो आत्मा को पुद्गलादि ही होना चाहिए और ऐसा होने पर आत्मा के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जावेगा; किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है तो किसका है?

यदि यह कहा जाये कि चेतयिता का ही चेतयिता है तो फिर प्रश्न उठता है कि चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन सा चेतयिता है कि जिसका यह चेतयिता है?

चेतयिता से भिन्न दूसरा कोई चेतयिता नहीं है; किन्तु वे दो स्व-स्वामीरूप अंश ही हैं - यदि यह कहा जाये तो फिर यह प्रश्न उठता है कि यहाँ

स्व-स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? तात्पर्य यह है कि कुछ भी साध्य नहीं है। इसप्रकार ज्ञायक किसी का नहीं है; ज्ञायक तो ज्ञायक ही है - यह निश्चय है।

इसप्रकार यह बताया गया है कि आत्मा परद्रव्य को जानता है - यह व्यवहारकथन है और आत्मा अपने को जानता है - इस कथन में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है; निश्चय तो यह है कि ज्ञायक ज्ञायक ही है।

जिसप्रकार ज्ञायक पर घटित किया गया; अब उसीप्रकार दर्शक पर भी घटित किया जा रहा है।

सेटिका अर्थात् कलई श्वेत (सफेद) पदार्थ है और दीवार आदि श्वेत्य (सफेद किये जाने योग्य - पोते जाने योग्य) पदार्थ हैं। अब श्वेत करनेवाली कलई श्वेत किये जाने योग्य दीवाल आदि परद्रव्यों की है या नहीं? - इसप्रकार यहाँ उनके तात्विक (पारमार्थिक) संबंध की मीमांसा की जा रही है।

अब सबसे पहले यह विचार किया जाता है कि यदि कलई दीवार आदि परद्रव्यों की हो तो क्या हो - जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे कि ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा ही है। इसप्रकार के तात्विक संबंध के जीवित (विद्यमान) होने से कलई यदि दीवाल आदि की हो तो फिर वह कलई दीवार ही होगी - ऐसा होने पर कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा; परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कलई दीवार आदि की नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि कलई दीवार आदि की नहीं है तो फिर वह कलई किसकी है?

यदि यह कहा जाय कि वह कलई कलई की ही है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि उस कलई से भिन्न दूसरी कौन सी कलई है कि जिसकी वह कलई है।

इसके उत्तर में यह कहा जा रहा है कि उस कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है; किन्तु वे दो स्व-स्वामीरूप अंश ही हैं।

यहाँ स्व-स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं है। ऐसी स्थिति में कलई किसी की भी नहीं है, कलई तो कलई ही है - यह निश्चय है।

यह तो दृष्टान्त है; अब इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटित करते हैं -

इस जगत में चेतयिता अर्थात् चेतनेवाला आत्मा दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उसके दृश्य हैं।

अब दर्शक आत्मा पुद्गलादि दृश्यों का है या नहीं - इस बात का तात्त्विक विचार किया जाता है।

यदि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि दृश्यों का हो तो क्या हो - सर्वप्रथम इसका विचार करते हैं। जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे दर्शन आत्मा का होने से दर्शन आत्मा ही है - ऐसा तात्विक संबंध जीवित होने से चेतयिता आत्मा यदि पुद्गलादि का हो तो आत्मा को पुद्गलादि ही होना चाहिए और ऐसा होने पर आत्मा के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जावेगा, किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है तो किसका है?

यदि यह कहा जाय कि चेतयिता का ही चेतयिता है तो फिर प्रश्न उठता है कि चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन सा चेतयिता है कि जिसका यह चेतयिता है?

चेतयिता से भिन्न दूसरा कोई चेतयिता नहीं है; किन्तु वे दो स्व-स्वामीरूप अंश ही हैं - यदि यह कहा जाये तो फिर यह प्रश्न उठता है कि यहाँ स्व-स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? तात्पर्य यह है कि कुछ भी साध्य नहीं है। इसप्रकार दर्शक किसी का नहीं है; दर्शक तो दर्शक ही है - यह निश्चय है।

इसप्रकार यह बताया गया है कि 'आत्मा परद्रव्य को देखता है अथवा श्रद्धा करता है' - यह व्यवहार कथन है और 'आत्मा अपने को देखता है और श्रद्धा करता है' - इस कथन में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है; निश्चय तो यह है कि दर्शक दर्शक ही है।

जिसप्रकार ज्ञायक और दर्शक पर घटित किया गया, अब उसीप्रकार अपोहक पर भी घटित किया जा रहा है।

सेटिका अर्थात् कलई श्वेत (सफेद) पदार्थ है और दीवार आदि श्वेत्य (सफेद किये जाने योग्य - पोते जाने योग्य) पदार्थ हैं। अब श्वेत करनेवाली कलई श्वेत किये जाने योग्य दीवाल आदि परद्रव्यों की है या नहीं? - इसप्रकार यहाँ उनके तात्त्विक (पारमार्थिक) संबंध की मीमांसा की जा रही है।

अब सबसे पहले यह विचार किया जाता है कि यदि कलई दीवार आदि परद्रव्यों की हो तो क्या हो - जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे कि ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा ही है। इसप्रकार के तात्विक संबंध के जीवित (विद्यमान) होने से कलई यदि दीवाल आदि की हो तो फिर वह कलई दीवार ही होगी - ऐसा होने पर कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायगा; परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कलई दीवार आदि की नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि कलई दीवार आदि की नहीं है तो फिर वह कलई किसकी है?

यदि यह कहा जाय कि वह कलई कलई की ही है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि उस कलई से भिन्न दूसरी कौन सी कलई है कि जिसकी वह कलई है।

इसके उत्तर में यह कहा जा रहा है कि उस कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है; किन्तु वे दो स्व-स्वामीरूप अंश ही हैं।

यहाँ स्व-स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं है। ऐसी स्थिति में कलई किसी की भी नहीं है, कलई तो कलई ही है - यह निश्चय है।

यह तो दृष्टान्त है; अब इसी बात को दार्ष्टान्त पर घटित करते हैं -

इस जगत में चेतयिता अर्थात् चेतनेवाला आत्मा अपोहनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है और पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उसके अपोह्य हैं।

अब अपोहक आत्मा पुद्गलादि अपोह्यों का है या नहीं - इस बात का तात्विक विचार किया जाता है।

यदि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि अपोह्यो का हो तो क्या हो - सर्वप्रथम इसका विचार करते हैं - जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे अपोहन आत्मा का होने से अपोहन आत्मा ही है - ऐसा तात्विक संबंध जीवित होने से चेतयिता आत्मा यदि पुद्गलादि का हो तो आत्मा को पुद्गलादि ही होना चाहिए और ऐसा होने पर आत्मा के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जावेगा; किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो होता नहीं; क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप होने का निषेध तो पहले ही किया जा चुका है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है।

अब आगे विचार करते हैं कि चेतयिता आत्मा पुद्गलादि का नहीं है तो किसका है ?

यदि यह कहा जाय कि चेतयिता का ही चेतयिता है तो फिर प्रश्न उठता है कि चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन-सा चेतयिता है जिसका यह चेतयिता है?

चेतयिता से भिन्न दूसरा कोई चेतयिता नहीं है; किन्तु वे दो स्व-स्वामीरूप अंश ही हैं। यदि यह कहा जाये तो फिर प्रश्न उठता है कि यहाँ स्व-स्वामीरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? तात्पर्य यह है कि कुछ भी साध्य नहीं है। इसप्रकार अपोहक किसी का नहीं है; अपोहक तो अपोहक ही है - यह निश्चय है।

इसप्रकार यह बताया गया है कि 'आत्मा परद्रव्य को त्यागता है' - यह व्यवहार कथन है और 'आत्मा अपने को ग्रहण करता है' - इस कथन में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है; निश्चय तो यह है कि अपोहक अपोहक ही है।

अब व्यवहार का विवेचन किया ज़ाता है - जिसप्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली यह कलई स्वयं दीवाल आदि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित

न होती हुई और दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई दीवाल आदि परद्रव्यों के निमित्त से अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम के द्वारा उत्पन्न होती हुई यह कलई; कलई के निमित्त से अपने स्वभावपरिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने (कलई के) स्वभाव से श्वेत करती है - ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इसीप्रकार ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमन न कराता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यों के निमित्त से अपने ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ; चेतयिता के निमित्त से अपने स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभाव से जानता है - ऐसा व्यवहार किया जाता है।

जिसप्रकार ज्ञानगुण के सन्दर्भ में व्यवहार का विवेचन किया, अब उसीप्रकार दर्शनगुण के सन्दर्भ में भी विवेचन किया जाता है।

जिसप्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली यह कलई स्वयं दीवाल आदि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई दीवाल आदि परद्रव्यों के निमित्त से अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम के द्वारा उत्पन्न होती हुई यह कलई; कलई के निमित्त से अपने स्वभावपरिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने (कलई के) स्वभाव से श्वेत करती है - ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इसीप्रकार दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमन न कराता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यों के निमित्त से अपने दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ; चेतयिता के निमित्त से अपने स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभाव से देखता है अथवा श्रद्धा करता है - ऐसा व्यवहार किया जाता है।

जिसप्रकार ज्ञान और दर्शनगुण के सन्दर्भ में व्यवहार का विवेचन किया, अब उसीप्रकार चारित्रगुण के सन्दर्भ में भी विवेचन किया जाता है।

जिसप्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली यह कलई स्वयं दीवाल आदि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई दीवाल आदि परद्रव्यों के निमित्त से अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम के द्वारा उत्पन्न होती हुई यह कलई; कलई के निमित्त से अपने स्वभावपरिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवाल आदि परद्रव्यों को अपने (कलई के) स्वभाव से श्वेत करती है - ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इसीप्रकार चारित्रगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यों के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभावरूप परिणमन न कराता हुआ पुद्गलादि परद्रव्यों के निमित्त से अपने चारित्रगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ; चेतयिता के निमित्त से अपने स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यों को अपने स्वभाव से अपोहता (त्याग करता) है - ऐसा व्यवहार किया जाता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जिसप्रकार का संबंध दीवाल पर पुती हुई कलई का दीवार के साथ है; उसीप्रकार का संबंध ज्ञायक भगवान आत्मा का परज्ञेयों के साथ है, दर्शक भगवान आत्मा का परदृश्यों के साथ है और अपोहक भगवान आत्मा का अपोह्य परपदार्थों के साथ है।

तात्पर्य यह है कि व्यवहार से भले ही कलई दीवाल को सफेद करनेवाली कही जाती हो, दीवाल की कही जाती हो; तथापि वस्तुस्थिति यह है कि कलई और दीवाल अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं; इसप्रकार कलई कलई की ही है और दीवाल दीवाल की ही है। कलई कलई की ही है - इसमें भी क्या दम है; क्योंकि दो कलई तो हैं नहीं, जिससे यह कहा जा सके यह कलई उस कलई की है। एक ही कलई में कलई कलई की ही है - ऐसा कहने से क्या लाभ है; इतना पर्याप्त है कि कलई तो कलई ही है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३०७

इसीप्रकार व्यवहार से भले ही ज्ञान को परज्ञेयों का जाननेवाला कहा जाता हो, परज्ञेयों का ज्ञायक कहा जाता है; ज्ञेयों का ज्ञायक - ऐसा कहा जाता हो; तथापि वस्तुस्थिति तो यह है कि ज्ञायक और परज्ञेय अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं; इसप्रकार ज्ञायक ज्ञायक का ही है और ज्ञेय ज्ञेय का ही है। ज्ञायक ज्ञायक का ही है - इसमें भी क्या दम है; क्योंकि दो ज्ञायक तो हैं नहीं; जिससे यह कहा जा सके इस ज्ञायक का वह ज्ञायक है। एक ही ज्ञायक में ज्ञायक ज्ञायक का है - ऐसा कहने से क्या लाभ है; इतना ही पर्याप्त है कि ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।

जिसप्रकार ज्ञायक आत्मा के सन्दर्भ में स्पष्टीकरण किया गया है; उसीप्रकार दर्शक आत्मा, श्रद्धाता आत्मा और त्यागी आत्मा के सन्दर्भ में भी समझ लेना चाहिए।

इसप्रकार यहाँ ज्ञेयपदार्थों के साथ ज्ञायक आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक संबंधी व्यवहार का निषेध किया गया है और ज्ञायक का ज्ञायक - ऐसे भेद-व्यवहार का भी निषेध किया गया है तथा ज्ञायक सो ज्ञायक - ऐसे निश्चय का प्रतिपादन कर दृष्टि को स्वभावसन्मुख करने का सफल प्रयास किया गया है।

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में भी इन गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति के अनुसार ही करते हैं; तथापि **किंच** कहकर जो बात लिखते हैं, वह इसप्रकार है -

"दूसरी बात यह है कि यदि सर्वज्ञ भगवान परद्रव्य को व्यवहार से जानते हैं तो निश्चय से वे सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होंगे? यदि कोई ऐसा कहता है तो उसका परिहार इसप्रकार है -

सर्वज्ञ भगवान अपने सुखादिक को जिसप्रकार तन्मय होकर जानते हैं; बहिर्द्रव्य (परद्रव्य) को उसीप्रकार तन्मय होकर नहीं जानते - इसलिये उनका परद्रव्य को जानना व्यवहार है।

यदि वे दूसरों के सुखादिक को अपने सुखादिक की तरह तन्मय होकर जानते हों तो जिसप्रकार अपने सुख के संवेदन में सुखी होते हैं; उसीप्रकार दूसरों के सुख-दु:ख के संवेदन काल में भी सुखी-दु:खी हो जायेंगे; परन्तु

ऐसा तो होता नहीं है अर्थात् सर्वज्ञ भगवान दूसरों के सुख-दु:ख को जानकर भी सुखी-दु:खी नहीं होते हैं।

यद्यपि अपने सुख के संवेदन की अपेक्षा से सर्वज्ञ का ज्ञान निश्चय है और पर के सुख के संवेदन की अपेक्षा से उनके ज्ञान को व्यवहार कहा जाता है; तथापि छद्मस्थ (अल्पज्ञ) की अपेक्षा से पर के सुख को जाननेवाला सर्वज्ञ का ज्ञान निश्चय ही है, वास्तविक ही है, सच्चा ही है; काल्पनिक नहीं।

यदि ऐसा है तो आप उन बौद्धमतवालों को दोष क्यों देते हो, जो सर्वज्ञता को व्यवहार से स्वीकार करते हैं?

उसके उत्तर में कहते हैं कि जिसप्रकार निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार असत्यार्थ है; उसीप्रकार व्यवहारनय से भी व्यवहार असत्यार्थ है - बौद्ध ऐसा मानते हैं; किन्तु जैनमत में तो भले ही निश्चयनय से व्यवहार असत्यार्थ हो; पर व्यवहारनय से तो व्यवहार भी सत्यार्थ ही है।

यदि व्यवहारनय को लोकव्यवहार से भी सत्य न माना जाये तो फिर तो सभी लोकव्यवहार मिथ्या हो जावेगा और ऐसा होने पर अति प्रसंग दोष आयेगा।''

उक्त कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि आत्मा का पर को जानना सर्वथा असत्यार्थ है - यह मान्यता बौद्धमत की है, जैनों की नहीं। जो लोग ऐसा मानते है कि आत्मा पर को जानता ही नहीं है; उन्हें आचार्य जयसेन के उक्त कथन पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

इन गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''इन १० गाथाओं द्वारा सेटिका अर्थात् खड़िया का दृष्टान्त देकर निश्चयनय एवं व्यवहारनय के माध्यम से आत्मा के ज्ञायकस्वभाव का स्पष्टीकरण करते हैं।[१]

आचार्य समझाते हैं कि इस जगत में चेतनेवाला अर्थात् जानने-देखनेवाला जो आत्मतत्त्व है; वह ज्ञानगुण से भरे स्वभाववाला द्रव्य है तथा शरीर-मन-वाणी आदि पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस आत्मा के ज्ञेय हैं।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३०७

प्रश्न : परद्रव्य को जो व्यवहार से ज्ञेय कहा है, यहाँ व्यवहार का क्या अर्थ है ?

उत्तर : चेतनेवाला आत्मा तो चैतन्यरूप अर्थात् ज्ञानरूप ही है और शरीर आदि परद्रव्य पररूप ही हैं। ज्ञान शरीरादिरूप नहीं होता, ज्ञान तो शरीरादि को स्पर्श ही नहीं करता। ज्ञान ज्ञानरूप रहकर ही परज्ञेयों को जानता है। लोकालोक को ज्ञान जानता है, पर वह ज्ञानरूप ही रहता है, लोकालोकरूप नहीं होता तथा लोकालोक ज्ञानरूप नहीं होता। इसलिए कहा है कि पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से चेतयिता के ज्ञेय हैं।[१]

आत्मा ज्ञान-ज्ञान-ज्ञानस्वभावरूप प्रकाश का पुंज है। उसके ज्ञान की परिणति जिस भाँति पुद्गलादि को जानती है, उसी भाँति राग को भी जानती है।

प्रश्न : ज्ञान की परिणति राग को रागरूप होकर जानती है या ज्ञानरूप रहकर जानती है ?

उत्तर : बात बहुत सूक्ष्म है, पर जानने जैसी है। ज्ञान ज्ञानरूप रहकर ही राग को जानता है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उसके ज्ञान की वर्तमानदशा अपने स्वकाल में स्वयं से ही होती है। वह ज्ञान की पर्याय रागादि को जानती है - ऐसा कहना व्यवहार है। राग को आत्मा करता है - यह बात तो दूर ही रही - राग का कर्तापना मानना तो मूढ़ता है, मिथ्यादृष्टि का लक्षण है; यहाँ तो यह कह रहे हैं कि दया-दान आदि के राग को आत्मा जानता है - ऐसा कहना भी व्यवहार है।

भाई ! चैतन्यतत्त्व राग से भिन्न है, उसे जानने के काल में वह ज्ञानपर्याय ज्ञानरूप या चैतन्यरूप ही रहती है, रागरूप नहीं होती। यदि जाननेवाला आत्मा राग को जानने के काल में रागरूप हो जाये तो आत्मा का अर्थात् स्वद्रव्य का नाश हो जाये।[२]

यहाँ तो कहते हैं कि 'ज्ञायक को जानता हूँ' - ऐसा कहना भी व्यवहार है; क्योंकि ज्ञायक व ज्ञेयरूप भेद पड़ा है न? 'अभेद सो निश्चय व भेद सो

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३०८
२. वही, पृष्ठ ३०८-३०९

व्यवहार' इस कथन के अनुसार ज्ञायक में ज्ञायक-ज्ञेय का भेद करना भी व्यवहार है और ऐसे स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार से आत्मार्थी को कोई लाभ नहीं; क्योंकि ऐसे भेदरूप व्यवहार के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ तो ज्ञायक ज्ञायक ही है - यह परमार्थ है अर्थात् एक, शुद्ध ज्ञायक की अन्तर्दृष्टि होना सम्यग्दर्शन है और यही कर्तव्य है, धर्म है।[१]

इसप्रकार यहाँ यह कहा है कि -

१. 'आत्मा परद्रव्य को जानता है' - यह व्यवहार कथन है।

२, 'आत्मा स्वयं को जानता है' - ऐसा कहना भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है।

३. 'ज्ञायक ज्ञायक ही है' - यह निश्चय है।[२]

इस जगत में चेतयिता भगवान आत्मा ज्ञायक की भाँति ही दर्शनगुण एवं श्रद्धागुण से परिपूर्ण स्वभाव से भरा द्रव्य है। यहाँ दर्शनगुण से भरा कहकर देखनेरूप व श्रद्धारूप - दोनों गुणों की बात की है।[३]

आगे तो यह भी कहेंगे कि देखनेवाले को देखना एवं श्रद्धा करनेवाले की श्रद्धा करना - ये भी व्यवहारनय है।[४]

इसप्रकार यहाँ यह कहा गया है कि -

१. आत्मा परद्रव्य को देखता है अथवा श्रद्धान करता है - यह व्यवहार कथन है।

२. आत्मा स्वयं को देखता है अथवा श्रद्धान करता है - ऐसा कहने में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार।

३. दर्शक दर्शक ही है - यह निश्चय है।[५]

इसप्रकार यहाँ उपर्युकत कथन में यह बताया है कि -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३१०
२. वही, पृष्ठ ३१०
३. वही, पृष्ठ ३१०
२. वही, पृष्ठ ३१२
३. वही, पृष्ठ ३१३

१. आत्मा परद्रव्य का अपोहक है, निषेधक है अर्थात् परद्रव्य को त्यागता है यह व्यवहार कथन है।

२. आत्मा ज्ञानदर्शनमय स्वयं को ग्रहण करता है - ऐसा कहने में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है।

३. अपोहक अपोहक ही है - यह निश्चय का कथन है।

अब व्यवहार का कथन करते हैं -

देखो, श्वेतगुण से भरे स्वभाववाली वही खड़िया स्वयं भींत आदि परद्रव्य के स्वभाव में परिणमित नहीं होती तथा वह खड़िया भींत आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप भी नहीं परिणमाती। खड़िया तो खड़िया ही है और खड़ियारूप ही रहती है। वह स्वयं भींतरूप भी नहीं होती तथा भींत को अपने श्वेतरूप भी नहीं करती।

हाँ, जब खड़िया अपनी पर्याय में सफेदरूप से उपजती है, तब परद्रव्यरूप भींत उसमें निमित्तरूप से वहाँ होती है।

इसीप्रकार चेतयिता प्रभु आत्मा ज्ञानगुण से भरे स्वभाववाला द्रव्य है। ऐसा ज्ञानस्वभावी आत्मा पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणामित नहीं होता तथा आत्मा पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप ज्ञानपने परिणमित नहीं करता।[१]

अहा ! भगवान आत्मा चैतन्यमात्र वस्तु है और जानना, देखना, श्रद्धा करना एवं निवर्तन करना आदि इसके परिणाम हैं।[२]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि कर्त्ता-कर्म और भोक्ता-भोग्य संबंधी व्यवहार का निषेध तो पहले कर दिया था; अब यहाँ ज्ञाता-ज्ञेय संबंधी व्यवहार का भी निषेध करके ज्ञायक सो ज्ञायक - ऐसे निश्चय की स्थापना की जा रही है।

इसके बाद आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में तीन छन्द लिखते हैं; जिनमें दो छन्द उक्त गाथाओं में प्ररूपित भाव के पोषक हैं और तीसरा छन्द आगामी गाथाओं की सूचना देता है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३१७

२. वही, पृष्ठ ३२७

उक्त दश गाथाओं के भाव के पोषक वे दो कलश इसप्रकार हैं -

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवंते जनाः॥ २१५॥

(रोला)

एक द्रव्य में अन्य द्रव्य रहता हो - ऐसा।
भासित कभी नहीं होता है ज्ञानिजनों को॥
शुद्धभाव का उदय ज्ञेय का ज्ञान, न जाने।
फिर भी क्यों अज्ञानीजन आकुल होते हैं॥ २१५॥

शुद्धतत्त्व के निरूपण में लगी है बुद्धि जिसकी और जो ज्ञानी जीव तत्त्व को अच्छी तरह जानता है, अनुभवी है; उसे एक द्रव्य के भीतर कोई अन्य द्रव्य रहता है - ऐसा कभी भी भासित नहीं होता। यदि ज्ञान ज्ञेय को जानता है तो वह तो ज्ञान के शुद्धस्वभाव का उदय है। ऐसा होने पर भी ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से आकुलबुद्धिवाले कुछ लोग तत्त्व (शुद्धस्वरूप) से च्युत क्यों होते हैं?

(मन्दाक्रान्ता)

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव॥ २१६॥

(रोला)

शुद्धद्रव्य का निजरसरूप परिणमन होता।
वह पररूप या पर उसरूप नहीं हो सकते॥
अरे चाँदनी की ज्यों भूमि नहीं हो सकती।
त्यों ही कभी नहीं हो सकते ज्ञेय ज्ञान के॥ २१६॥

शुद्धद्रव्य का निजरसरूप से परिणमन होता है अर्थात् आत्मा का ज्ञानादि स्वभावरूप परिणमन होता है; इसकारण क्या कोई अन्य द्रव्य उस ज्ञानादि

स्वभाव का हो सकता है अथवा क्या वह ज्ञानादि स्वभाव किसी अन्य द्रव्य का हो सकता है ? नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि परमार्थ से तो एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ कोई संबंध ही नहीं है।

यद्यपि चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है, तथापि पृथ्वी चाँदनी की तो नहीं हो जाती; उसीप्रकार यद्यपि ज्ञान ज्ञेय को जानता है; तथापि ज्ञेय ज्ञान का तो नहीं हो जाता।

उक्त दोनों कलशों का सार यह है कि ज्ञान का समस्त ज्ञेयों को जानना कोई अपराध नहीं है; अपितु ज्ञान के स्वभाव का उदय ही है। जिसप्रकार पृथ्वी पर चाँदनी पड़ने से पृथ्वी चाँदनी की नहीं हो जाती; उसीप्रकार ज्ञेयों को जानने से ज्ञेय ज्ञान के नहीं हो जाते। इसलिए यदि परपदार्थ अपने ज्ञान के ज्ञेय बनते हों तो आकुलित होने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पर को जानना भी ज्ञान का स्वभावपरिणमन ही है, विकार नहीं, विभावपरिणमन नहीं।

उक्त कलशों का भाव स्पष्ट करते हुए कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी लिखते हैं -

"भावार्थ इसप्रकार है कि जिसप्रकार अग्नि का दाहक स्वभाव है, समस्त दाह्य वस्तु को जलाती है। जलाती हुई अग्नि अपने शुद्धस्वरूप है। अग्नि का ऐसा ही स्वभाव है। उसीप्रकार जीव ज्ञानस्वरूप है, समस्त ज्ञेय को जानता है। जानता हुआ अपने स्वरूप है - ऐसा वस्तु का स्वभाव है। **ज्ञेय के जानपना से जीव का अशुद्धपना मानता है सो मत मानो, जीव शुद्ध है।**

भावार्थ इसप्रकार है कि जीव समस्त ज्ञेय को जानता है, ज्ञान ज्ञानरूप है, ज्ञेय वस्तु ज्ञेयरूप है। कोई द्रव्य अपने द्रव्यत्व को छोड़कर अन्य द्रव्यरूप तो नहीं हुआ। जीव समस्त ज्ञेय को जानता है, समस्त ज्ञेय से भिन्न है - ऐसा स्वभाव सम्यग्दृष्टि जीव जानता है।

भावार्थ इसप्रकार है कि जिसप्रकार ज्योत्स्ना फैलती है, समस्त भूमि श्वेत होती है। तथापि ज्योत्स्ना का भूमि का सम्बन्ध नहीं है, उसीप्रकार ज्ञान समस्त ज्ञेय को जानता है, तथापि ज्ञान का ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं है। ऐसा वस्तु का स्वभाव है। इसलिए जीव का ज्ञान समस्त ज्ञेय को जानता है तो जानो; तथापि जीव अपने स्वरूप है।"

इसी तथ्य को किसी कवि ने एक पंक्ति में इसप्रकार व्यक्त किया है -

भूमि न होत चाँदनी की ज्यों त्यों नहिं धनी ज्ञेय को ज्ञानी।

जिसप्रकार चाँदनी से प्रकाशित होने मात्र से भूमि चाँदनी की नहीं हो जाती; उसीप्रकार जान लेने मात्र से ज्ञानी जीव ज्ञेयों का स्वामी नहीं हो जाता।

उक्त दोनों कलशों का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में अनेक छन्दों में इसप्रकार किया है -

(तेइसा सवैया)

ज्ञेयाकार ग्यान की परणति, पै वह ग्यान ज्ञेय नहि होइ।
ज्ञेयरूप षट दरब भिन्न पद, ग्यानरूप आतम पद सोइ॥
जानै भेदभाउ सु विचच्छन, गुन लच्छन सम्यक्द्रिग जोइ।
मूरख कहै ग्यानमय आकृति, प्रगट कलंक लखै नहि कोई॥

यद्यपि ज्ञान की परिणति ज्ञेय जैसे आकार में परिणमित होती है, ज्ञेयाकार होती है; तथापि ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं हो जाता; वह ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है। ज्ञेयरूप छह द्रव्य अलग हैं और ज्ञानरूप आत्मा अलग पदार्थ है।

विचक्षण सम्यग्दृष्टि पुरुष तो गुण और लक्षणों के आधार पर इस भिन्नता को भली-भाँति जानते हैं; किन्तु मूर्ख लोग कहते हैं कि ज्ञेयों को जानने से ज्ञान अशुद्ध हो जाता है; पर उनकी यह समझ ठीक नहीं है।

(चौपाई)

निराकार जो ब्रह्म कहावै। सो साकार नाम क्यौं पावै॥
ज्ञेयाकार ग्यान जब तांई। पूरन ब्रह्म नांहि तब तांई॥
ज्ञेयाकार ब्रह्म मल मानै। नास करनकौ उद्दिम ठानै॥
वस्तु सुभाव मिटै नहि क्यौं ही। तातैं खेद करैं सठ यौं ही॥

कोई अज्ञानी कहता है कि जो आत्मा (ब्रह्म) निराकार है, वह साकार कैसे हो सकता है? इसलिए जबतक ज्ञान ज्ञेयाकार रहता है, तबतक वह पूर्ण ब्रह्म अर्थात् शुद्धात्मा नहीं हो सकता।

ज्ञेयाकार परिणमित आत्मा को अशुद्ध माननेवाले ज्ञेयों को जानने का निषेध करते हैं, ज्ञेयों को जानने का अभाव करने का पुरुषार्थ करते हैं; किन्तु

ज्ञेयों को जानना तो ज्ञान का स्वभाव है; वह कैसे मिट सकता है? इसप्रकार वह तो किसी भी स्थिति में मिटता नहीं है और मूर्ख लोग यों ही खेद-खिन्न होते रहते हैं।

(दोहा)

मूढ़ मरम जानैं नहीं, गहै एकंत कुपक्ष।
स्यादवाद सरवंग नै, मानै दक्ष प्रतक्ष॥
सुद्ध दरब अनुभौ करै, सुद्धद्रिष्टि घटमांहि।
तातै समकितवंत नर, सहज उछेदक नांहि॥

मूर्ख लोग इस मर्म को तो जानते नहीं हैं और एकान्त के गलत पक्ष को ग्रहण कर लेते हैं; जबकि दक्ष (चतुर) लोग सर्वनयों को सर्वांग जानकर स्याद्वादी हो जाते हैं।

शुद्धदृष्टि सम्पन्न सम्यग्दृष्टि जीव अपने अन्तर में शुद्धद्रव्य का अनुभव करते हैं; इसलिए वे ज्ञान के ज्ञेय को जानने के सहज स्वभाव का उच्छेद नहीं करते।

(सवैया इकतीसा)

जैसैं चंदकिरनि प्रगटि भूमि सेत करै,
भूमि सी न दीसै सदा जोति सी रहति है।
तैसैं ग्यान सकति प्रकासै हेय उपादेय,
ज्ञेयाकार दीसै पै न ज्ञेय कौं गहति है॥
सुद्ध वस्तु सुद्ध परजाइरूप परिनवै,
सत्ता परवांन माहें ढाहें न ढहति है।
सो तौ औररूप कबहूं न होइ सरवथा,
निहचै अनादि जिनवानी यौं कहति है॥

जिसप्रकार चन्द्रमा की किरणें भूमि को प्रकाशित करती हुई भी भूमि जैसी नहीं दिखतीं, अपितु ज्योतिरूप ही रहती हैं; उसीप्रकार ज्ञानशक्ति हेय-उपादेय ज्ञेयाकारों को प्रकाशित करती है, पर ज्ञेयों को ग्रहण नहीं करती है अर्थात् ज्ञेयोंरूप हो नहीं जाती; उनसे भिन्न ही रहती है।

शुद्ध आत्मवस्तु शुद्धपर्यायरूप परिणमित होती है और निज सत्ताप्रमाण ही रहती है; वह किसी भी रूप में ढ़हती नहीं है, विचलित नहीं होती; वह अन्यरूप कभी नहीं होती - यह निश्चय की बात अनादिकालीन जिनवाणी में कही गई है।

इन कलशों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यहाँ कहते हैं कि आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय त्रिसत्वस्वरूप है। उसमें उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें हैं और त्रिकाली एकरूप ध्रुव द्रव्य है। त्रिकाली एकरूप ध्रुव द्रव्य निश्चयनय का विषय है; क्योंकि यह भी अंश है न ? एक समय की पर्याय भी अंश है और त्रिकाली ध्रुव द्रव्य भी अंश है; परन्तु वह अंशरूप ध्रुव द्रव्य भी दृष्टि में स्थापित करने के लिए अपने आप में पूर्ण है, शुद्ध एकरूप है। अहा ! ऐसे त्रिकाली शुद्ध, चैतन्य सामान्य, ध्रुव एक ज्ञायक भावरूप द्रव्य को जिसने दृष्टि में स्थापित किया, वह सम्यग्दृष्टि है।

अन्दर में वस्तु अनन्त-अनन्त गुणस्वरूप शुद्ध चैतन्य चमत्कार है। उसके अनुभव में जिसने अपनी बुद्धि को स्थापित किया और जो शुद्धतत्त्व का अनुभव करता है; उस सम्यग्दृष्टि पुरुष को एक द्रव्य के अन्दर कोई भी अन्य द्रव्य रहता भासित नहीं होता। यह तो चौथे गुणस्थान की बात है। पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक की एवं छठवें-सातवें गुणस्थानवाले मुनिराजों की दशा तो और ही अलौकिक होती है।[१]

ये शरीर, मन, वाणी, पंचपरमेष्ठी भगवंत और पुण्य-पाप के भाव आदि परज्ञेय हैं; उन्हें जो ज्ञान जानता है; वह तो ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है। ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है न ! और वह स्व-परप्रकाशकपना पर्याय में प्रगट होने से वह ज्ञान ज्ञेयों को जानता है; परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वह ज्ञान ज्ञेयों से हुआ है। ज्ञेयों को प्रकाशित करती अपनी जो ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, वह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है अर्थात् वह ज्ञान के स्वभाव-सामर्थ्य से प्रगट हुई है।[२]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३३४-३३५
२. वही, पृष्ठ ३३५

ज्ञान ज्ञेयों को जानता है; परन्तु वह ज्ञान उन ज्ञेयों का स्पर्श नहीं करता। फिर भी अज्ञानी जीव ऐसी मिथ्या-मान्यता से आकुलित होता है कि 'ज्ञेयों के कारण ज्ञान होता है।' - इसप्रकार ज्ञेयों में अटकने से अपने निजचिदानन्दमय शुद्ध आत्मा को छोड़ देता है।[१]

भाई ! ज्ञान पर को जानता है; परन्तु पर का स्पर्श नहीं करता अर्थात् पररूप नहीं हो जाता तथा ज्ञान पर को जानता है; परन्तु परज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते अर्थात् परज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता, आत्मा में ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं आती।[२]

ज्ञान में जो ये कर्म, नोकर्म आदि परद्रव्य प्रतिभासते हुये प्रतीत होते हैं, सो यह तो ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है। इसमें परद्रव्य का कोई कार्य नहीं है। रागादि पुण्य-पाप के भाव तथा कर्म, नोकर्म आदि जो ज्ञान में जानने में आते हैं, सो यह तो ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है।

ज्ञानानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा का अन्तर में लक्ष्य करने पर जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह ज्ञान रागादि को और शरीर-मन-वाणी आदि को जानता है; परन्तु वह ज्ञान ज्ञेयों को स्पर्श नहीं करता। ज्ञानस्वरूपी प्रभु स्वयं ज्ञान में रहकर ज्ञेयों को जानता है; पर ज्ञान ज्ञेयों में जाता नहीं है और ज्ञेय ज्ञान में प्रवेश नहीं करता।[३]

अब कहते हैं कि जो लोग ज्ञान में परद्रव्यों का प्रतिभास देखकर - ऐसा मानते हैं कि पर के कारण ज्ञान होता है, वे अज्ञानी हैं। देव-शास्त्र-गुरु भी परद्रव्य हैं। अत: उनसे ज्ञान होना मानना भी अज्ञान है। यद्यपि ज्ञान होने के काल में वे बाह्यनिमित्त हैं; परन्तु वे ज्ञानोत्पत्ति में वास्तविक कारण नहीं हैं।[४]

आचार्य करुणा करके कहते हैं कि अरे रे ! यह जगत परज्ञेयों के साथ परमार्थ सम्बन्ध मानकर पराधीन होकर शुद्ध तत्त्व से भ्रष्ट होकर कहाँ भटक रहा है ?[५]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३३७
२. वही, पृष्ठ ३३७
३. वही, पृष्ठ ३३८
४. वही, पृष्ठ ३३९
५. वही, पृष्ठ ३३९

आत्मा का ज्ञान निजरस से प्रगट होता है और वह अपनी सामर्थ्य से परज्ञेयों को जानता है। उसे परज्ञेयों की और किन्हीं भी बाह्य निमित्तों की अपेक्षा नहीं है। परमार्थ से एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ संबंध नहीं है।[१]

जिसप्रकार चाँदनी पृथ्वी को उज्ज्वल करती है तो भी पृथ्वी चाँदनीरूप नहीं होती तथा चाँदनी भी पृथ्वीरूप नहीं होती; उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयों को सदा जानता है, तो भी ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता तथा ज्ञेय भी ज्ञानरूप नहीं होते। भाई! प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न है। भिन्न-भिन्न तत्त्वों को मिलाकर एक मानना मिथ्या है।[२]''

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि स्व और पर सभी को जानना आत्मा का स्वभाव है, विभाव नहीं। परज्ञेयों के जानने से न तो ज्ञान ज्ञेयरूप होता और न ज्ञेय ज्ञानरूप होते हैं; दोनों पूर्णतः असंपृक्त ही रहते हैं। अतः पर को जानने में अपराधबोध होने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

अब आगे की गाथाओं की सूचना देनेवाला कलशकाव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मन्दाक्रान्ता)

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः॥ २१७॥

(रोला)

तबतक राग-द्वेष होते हैं जबतक भाई !
ज्ञान-ज्ञेय का भेद ज्ञान में उदित नहीं हो॥
ज्ञान-ज्ञेय का भेद समझकर राग-द्वेष को
मेट पूर्णतः पूर्ण ज्ञानमय तुम हो जावो॥ २१७॥

जबतक ज्ञान ज्ञानरूप न हो जावे और ज्ञेय ज्ञेयरूप न हो जावे; तबतक ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिए यह ज्ञान अज्ञानभाव को दूर करके ज्ञानरूप हो कि जिससे भाव-अभाव (राग-द्वेष) को रोकता हुआ पूर्ण स्वभाव प्रगट हो जावे।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३४१
२. वही, पृष्ठ ३४१

इस कलश का भावानुवाद कविवर पण्डित बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं -

(सवैया तेइसा)

राग विरोध उदै जबलौं तबलौं, यह जीव मृषा मग धावै।
ग्यान जग्यौ जब चेतन कौ तब, कर्म दसा पररूप कहावै॥
कर्म विलेछि करै अनुभौ तहां, मोह मिथ्यात प्रवेस न पावै।
मोह गये उपजै सुख केवल, सिद्ध भयौ जगमांहि न आवै॥

अज्ञान के कारण जबतक राग-द्वेष रहते हैं; तबतक यह जीव झूठे रास्ते पर चलता है और जब आत्मज्ञान हो जाता है तो कर्मों में परबुद्धि हो जाती है। कर्मों का अभाव करके जब जीव आत्मानुभव करता है; जब मोह प्रविष्ट नहीं होता। मोह के पूर्णत: अभाव हो जाने पर, अनन्तसुख प्रगट हो जाता है तथा सिद्धपद को प्राप्त कर आत्मा सदा वहीं रहता है। लौटकर दुबारा संसार में नहीं आता।

उक्त कलश के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"अहो ! सबको जानने और देखने रूप तेरा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है। किसी भी परद्रव्य को अपना मानने का तेरा स्वभाव नहीं है। चाहे वह व्यवहार-रत्नत्रय का विकल्प हो या देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग हो - ये सब परभाव हैं, परज्ञेय हैं; उसमें ज्ञानी स्वामित्वबुद्धि नहीं करता। ज्ञानी के ज्ञान से राग भिन्न ही होता है। उसके ज्ञान में राग का प्रवेश ही नहीं। ज्ञान स्वयं में रहकर राग को जानता है।

भगवान आत्मा त्रिकाल शाश्वत एक ज्ञानस्वरूपी वस्तु है। उसे भूलकर जबतक जीव देहादि को और राग-द्वेष आदि को अपना मानता है, तबतक उसके अज्ञानभाव है तथा जबतक अज्ञानभाव है, तबतक राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और संसार खड़ा रहता है। आचार्य कहते हैं कि अज्ञानभाव को दूर करके ज्ञान ज्ञानरूप होओ और ज्ञेय ज्ञेयरूप ही रहो - जिससे कि भाव-अभाव को अर्थात् राग-द्वेषरूप उत्पाद-व्यय को रोककर पूर्णस्वभाव प्रगट हो जाता है।

भाई ! राग कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो; परन्तु जबतक उसमें ममत्व है और उसे हितकर मानने की बुद्धि है; तबतक अज्ञानभाव ही है और तभीतक

जीव में राग-द्वेष का द्वन्द प्रगट होता ही रहता है। इसके विपरीत जिसे अपनी शुद्ध चैतन्य सत्ता का अन्तर में भान हो गया है - ऐसे समकिती धर्मीपुरुषों को अज्ञानभाव दूर हो जाता है और फिर उसके अज्ञानमय राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। वह देहादि परज्ञेयों को पररूप जानकर निजस्वभाव में स्थिर होता जाता है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव में विशेष-विशेष रमणता करता हुआ वह पूर्णस्वभाव को अर्थात् केवलज्ञानस्वभाव को प्राप्त कर लेता है। अहो धर्मीजीव की ऐसी अचिन्त्य अलौकिक भावना होती है।[१]

भाई ! तात्पर्य यह है कि आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूपी वस्तु है और रागादि ज्ञान में मात्र जानने लायक परज्ञेय हैं, जबतक ज्ञान ज्ञानरूप नहीं हो जाता और ज्ञेय ज्ञेयरूप नहीं रहते, तबतक राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष की बात है; इसलिए कहते हैं कि अपने अज्ञानभाव को दूर करके ज्ञानरूप हो जाओ।

मेरा स्वभाव तो त्रिकाल जाननेरूप ही है। जब ऐसा ज्ञान ज्ञानरूप होता है, तब धर्मी पुरुष के राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते। इसप्रकार राग-द्वेष मिट जाते हैं और स्वरूप की एकाग्रता द्वारा ज्ञान पूर्णस्वभाव को प्राप्त होता है।

यद्यपि धर्मी-ज्ञानी के अस्थिरता सम्बन्धी किंचित् राग होता है; परन्तु उसका वह ज्ञाता ही रहता है और क्रम-क्रम से ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता का पुरुषार्थ करके उसका भी अभाव कर पूर्ण स्वभाव को प्राप्त हो जाता है।[२]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि जबतक ज्ञान और ज्ञेयों में अन्तर ख्याल में नहीं आता अर्थात् ज्ञेयों को जानते हुए भी ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता और ज्ञेय ज्ञानरूप नहीं होते - यह बात ख्याल में नहीं आती; तबतक अज्ञानभाव रहता है और जबतक अज्ञानभाव रहता है; तबतक राग-द्वेष उत्पन्न होते ही रहते हैं। अतः ज्ञेयों को जानते हुए भी ज्ञान की ज्ञेयों से भिन्नता जानना बहुत जरूरी है। यह भिन्नता जान लेने पर राग-द्वेष का अभाव होता जाता है और एक दिन राग-द्वेष का पूर्णतः अभाव होकर केवलज्ञान हो जाता है। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३४५-३४६
२. वही, पृष्ठ ३४६-३४७

समयसार गाथा ३६६-३७१

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसए।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु॥ ३६६॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्हि॥ ३६७॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काए।
तम्हा किं घादयदे चेययिदा तेसु काएसु॥ ३६८॥
णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्य।
ण वि तहिं पोग्गलदव्वस्य को वि घादो दु णिद्दिट्ठो॥ ३६९॥
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु॥ ३७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी॥ ३७१॥

(हरिगीत)

ज्ञान-दर्शन-चरित्र ना किंचित् अचेतन विषय में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस विषय में॥ ३६६॥
ज्ञान-दर्शन-चरित्र ना किंचित् अचेतन कर्म में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस कर्म में॥ ३६७॥
ज्ञान-दर्शन-चरित्र ना किंचित् अचेतन काय में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस काय में॥ ३६८॥
सद्ज्ञान का सम्यक्त्व का उपघात चारित्र का कहा।
अन्य पुद्गल द्रव्य का ना घात किंचित् भी कहा॥ ३६९॥
जीव के जो गुण कहे वे हैं नहीं परद्रव्य में।
बस इसलिए सद्दृष्टि को है राग विषयों में नहीं॥ ३७०॥
अनन्य हैं परिणाम जिय के राग-द्वेष-विमोह ये।
बस इसलिए शब्दादि विषयों में नहीं रागादि ये॥ ३७१॥

दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन विषयों में किंचित् मात्र भी नहीं है; इसलिए आत्मा उन विषयों में क्या घात करेगा ?

इसीप्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन कर्मों में भी किंचित् मात्र नहीं हैं; इसलिए आत्मा उन कर्मों में भी क्या घात करेगा ?

इसीप्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन काय में भी किंचित् मात्र नहीं हैं; इसलिए आत्मा उन कायों में भी क्या घात करेगा ?

जहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र का घात कहा है; वहाँ पुद्गलद्रव्य का किंचित्मात्र भी घात नहीं कहा है। तात्पर्य यह है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र के घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता।

इसप्रकार जो जीव के गुण हैं; वे वस्तुतः परद्रव्य में नहीं हैं; इसलिए सम्यग्दृष्टि के विषयों के प्रति राग नहीं होता।

और राग-द्वेष-मोह जीव के ही अनन्य परिणाम हैं; इसकारण रागादिक शब्दादि विषयों में नहीं है।

तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष-मोहादिभाव न तो सम्यग्दृष्टि आत्मा में हैं और न जड़ विषयों में ही हैं; वे अज्ञानदशा में रहनेवाले अज्ञानी जीव के परिणाम हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जो जिसमें होता है, वह उसका घात होने पर नष्ट होता ही है अर्थात् आधार का घात होने पर आधेय का घात हो ही जाता है। जिसप्रकार दीपक के घात होने पर प्रकाश नष्ट हो जाता है।

इसीप्रकार जिसमें जो होता है, वह उसका नाश होने पर अवश्य नष्ट हो जाता है अर्थात् आधेय का घात होने पर आधार का घात हो ही जाता है। जिसप्रकार प्रकाश का घात होने पर दीपक का घात हो जाता है।

जो जिसमें नहीं होता, वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता। जिसप्रकार घड़े का नाश होने पर घटप्रदीप (घड़े में रखे हुये दीपक) का नाश नहीं होता।

इसीप्रकार जिसमें जो नहीं होता, वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता। जिसप्रकार घटप्रदीप के नष्ट होने पर घट का नाश नहीं होता।

इसी न्याय से आत्मा के धर्म-दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्य के घात होने पर भी नष्ट नहीं होते और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर भी पुद्गलद्रव्य का नाश नहीं होता।

इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य का घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात अवश्य होना चाहिए।

ऐसी स्थिति होने से यह भली-भाँति स्पष्ट है कि जीव के जो जितने गुण हैं; वे सभी परद्रव्यों में नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यहाँ भी जीव के गुणों का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर जीव के गुणों का घात होना अनिवार्य हो जायेगा; किन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे सिद्ध है कि जीव का कोई गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं है।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग क्यों होता है?

उत्तर : किसी भी कारण से नहीं होता।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो फिर राग की खान कौनसी है? तात्पर्य यह है कि राग की उत्पत्ति कहाँ से होती है, राग की उत्पत्ति का स्थान कौनसा है?

उत्तर : राग-द्वेष-मोह जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं; वे राग-द्वेष-मोह विषयों में नहीं हैं; क्योंकि विषय तो परद्रव्य हैं और वे सम्यग्दृष्टि के भी नहीं हैं; क्योंकि उसके अज्ञान का अभाव है। इसप्रकार वे राग-द्वेष-मोह परिणाम विषयों में न होने से और सम्यग्दृष्टि के भी न होने से हैं ही नहीं।''

प्रश्न : मोह-राग-द्वेष हैं ही नहीं - इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर : पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ की अन्तिम पंक्तियों में नयविभाग के साथ इस बात का स्पष्टीकरण इसप्रकार करते हैं -

''इसप्रकार मोह-राग-द्वेष न तो पुद्गलद्रव्य में हैं और न सम्यग्दृष्टि में ही होते हैं; इसलिए शुद्धदृष्टि से देखने पर वे हैं ही नहीं और पर्यायदृष्टि से देखने पर वे जीव की अज्ञानदशा में हैं।''

उक्त सन्दर्भ में बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४८ की टीका का निम्नांकित अंश भी द्रष्टव्य है -

''अत्राह शिष्य : रागद्वेषादय: किं कर्मजनिता: किं जीवजनिता: इति?

तत्रोत्तरम् : स्त्रीपुरुषसंयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासंयोगोत्पन्नवर्णविशेष इवोभय संयोगजनिता इति। पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते। तथैवाशुद्धनिश्चयेन जीवजनिता इति। स चाशुद्धनिश्चय: शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।

अथ मतम् : साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन कस्येति पृच्छामो वयम्।

तत्रोत्तरम् : साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन स्त्रीपुरुषसंयोगरहितपुत्रस्येव, सुधाहरिद्रासंयोगरहितरंगविशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति।

यहाँ शिष्य पूछता है कि रागद्वेष आदि कर्मजनित हैं अथवा जीवजनित ?

उसका उत्तर यह है कि स्त्री और पुरुष इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र की भाँति तथा चूने और हल्दी के मिश्रण से उत्पन्न हुए वर्णविशेष की भाँति, राग-द्वेष आदि जीव और कर्म - इन दोनों के संयोगजनित हैं।

नय की विवक्षा के अनुसार विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से राग-द्वेष कर्मजनित कहलाते हैं और अशुद्धनिश्चयनय से जीवजनित कहलाते हैं। यह अशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार ही है।

प्रश्न : साक्षात्शुद्धनिश्चयनय से राग-द्वेष किसके हैं - ऐसा हम पूछते हैं?

उत्तर : साक्षात्शुद्धनिश्चयनय से स्त्री और पुरुष के संयोग से रहित पुत्र की भाँति तथा चूना और हल्दी के संयोगरहित रंगविशेष की भाँति उनकी (राग-द्वेष की) उत्पत्ति ही नहीं है; तो कैसे उत्तर दें?''

इन गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''देखो, इन गाथाओं में यह कहा जा रहा है कि ज्ञान व ज्ञेय बिल्कुल जुदे-जुदे हैं। आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि कोई भी गुण परद्रव्यों में नहीं हैं। - ऐसा जानने से सम्यग्दृष्टि का विषयों के प्रति राग नहीं होता तथा जड़द्रव्यों में भी राग-द्वेष आदि नहीं हैं। वे तो मात्र अज्ञानदशा में वर्तते जीव के परिणाम हैं।

देखो! आधार का नाश होते ही आधेय का नाश हो ही जाता है। जैसे कि दिया आधार है और प्रकाश उसका आधेय है। इसकारण यदि दिये का नाश होवे तो आधेयरूप प्रकाश का नाश हो ही जाता है।

अब कहते हैं कि जैसे कि घड़ा फोड़ देने पर भी घड़े के अन्दर रखे दिये का नाश नहीं होता और अन्दर रखे दिये के नाश हो जाने पर (बुझ जाने पर) घड़े का भी नाश नहीं होता, क्योंकि परमार्थ से दिया और घड़े में आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है, घड़े में तो घड़े के ही गुण हैं और दिये में दिये के ही गुण हैं। घड़ा व दिया दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। दोनों के बीच वास्तविक आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है।

देखो, यहाँ दो बातें कही हैं -

१. दिये का नाश होने पर प्रकाश का नाश होता है और प्रकाश का नाश होने पर दिये का नाश हो जाता है।
२. घड़े का नाश होने पर अन्दर में रहे दिया का नाश नहीं होता और अन्दर रखे दिये के नाश होने पर घड़े का नाश नहीं होता।

अब इसी दृष्टान्त से सिद्धान्त समझाते हैं कि पुद्गलद्रव्य के नाश होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण का नाश नहीं होता और दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण के घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं - यह फलित हो गया।

देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के धर्म हैं। भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु सदा ज्ञानस्वरूपी है। उसकी अन्तर्दृष्टि होकर प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है। उसी का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उसी में रमणता सम्यक्चारित्र है। इसप्रकार आत्मा के आश्रय से प्रगट हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा की निर्मल वीतरागी पर्यायें हैं।

अब कहते हैं कि शरीर का घात हो जाये या शरीर जीर्ण हो जाये और वाणी के बोल बंद भी हो जायें आदि जड़ की क्रियायें होने से आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात नहीं होता; क्योंकि शरीर भिन्न वस्तु है और आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र भिन्न वस्तुयें हैं। दोनों में आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है।

शरीर की प्रवृत्ति बराबर हो रही हो, पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, समिति आदि सभी व्यवहार की क्रियायें - यथावत् हो रही हों तो भी यदि अन्दर में राग में इष्टबुद्धि एवं ममत्वबुद्धि हो तो - ऐसी शल्य होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात हो जाता है।

यहाँ यह सिद्ध करना है कि पाँच इन्द्रियों के विषय परपदार्थ हैं, देव-शास्त्र-गुरु भी परपदार्थ हैं और परपदार्थों में राग-द्वेष नहीं हैं तथा निजस्वभाव में भी राग-द्वेष नहीं हैं; परन्तु जीव अपने स्वभाव का घात तो अपने अज्ञान से करता है। राग-द्वेष अज्ञानदशा में वर्तते जीव के परिणाम हैं।[१]

देखो, शरीर की क्रिया न कर सके तो भी अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म बराबर टिके रहते हैं, वहाँ शरीरादि की क्रियारूप पुद्गल का घात तो हुआ; पर उसके कारण अपने धर्म का घात नहीं हुआ। इसके विपरीत शारीरिक क्रियायें बाहर में यथावत् चलती रहें, फिर भी यदि इन बाहरी क्रियाओं से आत्मलाभ या धर्म होना मानें तो अपने धर्म का घात हो ही जाता है; क्योंकि अज्ञानी विपरीत दृष्टिवाले जीव के अपनी उल्टी मान्यता के कारण धर्म का घात हो जाता है। बाहर की प्रवृत्ति न दिखे तो भी आनन्द का नाथ प्रभु-आत्मा की स्व-सन्मुख प्रवृत्ति, ज्ञान व रमणता वर्तती हो तो उसे अपने धर्म का घात नहीं होता। इससे यह स्पष्ट हो गया कि व्रत, तप, भक्ति आदि के विकल्प आत्मा के धर्म नहीं हैं।

यहाँ एक ओर तो भगवान आत्माराम स्वयं स्व और दूसरी ओर सारा ग्राम अर्थात् शरीर-मन-वाणी, इन्द्रिय, शुभाशुभ रागादिभाव - ये सब परद्रव्य हैं। इन परद्रव्यों में आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसकारण पर का घात होने पर अपने स्वभाव का ज्ञानादि गुणों का घात नहीं होता। अहो! यह तो जैनपरमेश्वर द्वारा कहा गया कोई अचिन्त्य-अलौकिक तत्त्व आचार्यदेव ने जाहिर किया है।

अहा! जीवों को जो राग-द्वेष-मोहादि भाव उत्पन्न होते हैं, वे अपने शुद्ध आनंदकंद प्रभु, आत्मा के ज्ञान के अभाव से अर्थात् अपने अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष-मोह परद्रव्य से उत्पन्न नहीं होते तथा अपने स्वद्रव्य से भी

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३५०-३५१

उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि परद्रव्य अपने स्वभाव से भिन्न हैं। अपना स्वभाव परद्रव्य में है ही नहीं तथा अपना स्वद्रव्य तो सदा ही शुद्ध चैतन्यमय वीतरागभावमय है।

यहाँ यह सिद्ध करना है कि परद्रव्य में अपना राग-द्वेष-मोह नहीं और परद्रव्य से वे उत्पन्न हों - ऐसा भी नहीं है; बल्कि अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप के भान के अभाव में अज्ञान से राग-द्वेष-मोह के भाव उत्पन्न होते हैं।[१]

यहाँ तो एक ओर आत्मा और दूसरी ओर सारा जगत - ऐसे दो विभाग कर दिये हैं। स्पष्ट कहा है कि आत्मा के गुण परद्रव्यों में नहीं हैं; इसलिए परद्रव्य से उपयोग को हटाकर आत्मा में ही अपनी दृष्टि केन्द्रित कर। स्वद्रव्य के लक्ष्य से परिणमते हुये तुझे निर्मल रत्नत्रय की प्राप्ति होगी।[२]

वस्तुतः न तो स्वद्रव्य से और न परद्रव्य से; बल्कि पर से व राग से लाभ माननेरूप अपने अज्ञान के कारण राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।[३]

भाई! परद्रव्य में राग-द्वेष नहीं हैं; पर में आत्मा के गुण भी नहीं हैं, अवगुण भी नहीं हैं; किन्तु शुद्ध चिदानंद-चैतन्य चमत्कार निज आत्मा को भूलकर जो विकार को अपना 'स्व' मानता है, वही महाविपरीतता व अज्ञान है और इसी अज्ञान से ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।[४]

देखो, वीतरागमूर्ति आनन्दघन प्रभु आत्मा को शुद्ध द्रव्यदृष्टि से देखने पर राग-द्वेष-मोह होते ही नहीं हैं; क्योंकि उसके अज्ञान नहीं है। इसके विपरीत जिसकी दृष्टि पर्याय पर है, उस पर्यायदृष्टिवाले जीव को राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होता है। भले ही बाहर में महाव्रतादि का पालन करते हों; परन्तु यदि उन व्रतादि से अपना आत्मलाभ-धर्मलाभ माने तो वे पर्यायदृष्टिवाले मूढ़ मिथ्यादृष्टि ही हैं। उन्हें अज्ञान के कारण राग-द्वेष-मोह अवश्य होता ही है। इसलिए पर्यायबुद्धि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करो। यही तुम्हारे हित का उपाय है।[५]"

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३५१-३५२
२. वही, पृष्ठ ३५४
३. वही, पृष्ठ ३५५
४. वही, पृष्ठ ३५५
५. वही, पृष्ठ ३५६

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जिसप्रकार दीपक और दीपघट (जिसमें दीपक रखा हो - ऐसा घट) भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं; उसीप्रकार शरीर, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व पंचेन्द्रियों की उपभोग्य सामग्री आदि परपदार्थ और भगवान आत्मा भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं।

जिसप्रकार दीपघट के नष्ट होने पर भी दीपक नष्ट नहीं होता और दीपक के नष्ट होने पर दीपघट नष्ट नहीं होता; उसीप्रकार देहादि परद्रव्यों के नष्ट होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र नष्ट नहीं होते और आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र के नष्ट होने पर देहादि संयोग नष्ट नहीं होते। इसलिए इनकी भिन्नता सहज ही सिद्ध है।

परद्रव्यों की भिन्नता सिद्ध होने से यह भी सहज सिद्ध है कि मोह-राग-द्वेष के परिणाम पर के कारण नहीं होते, पर के द्वारा नहीं होते। दूसरी बात यह है कि आत्मा के स्वभाव न होने से आत्मा के आश्रय से भी उनकी उत्पत्ति संभव नहीं है। अत: अन्तत: हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति आत्मा के अज्ञान से आत्मा में ही होती है और इनका अभाव भी आत्मा के आश्रय से ही होता है। अत: एक मात्र आत्मा का आश्रय लेना ही उपाय है - यही कारण है कि आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुक्ति का मार्ग कहा गया है।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रान्ता)

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्।
सम्यग्दृष्टि: क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्टया स्फुटं तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चि:॥ २१८॥

(रोला)

यही ज्ञान अज्ञानभाव से राग-द्वेषमय।
हो जाता पर तत्त्वदृष्टि से वस्तु नहीं ये॥
तत्त्वदृष्टि के बल से क्षयकर इन भावों को।
हो जाती है अचल सहज यह ज्योति प्रकाशित॥ २१८॥

इस जगत में ज्ञान ही अज्ञानभाव से राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित होता है। वस्तुत्व में एकाग्र दृष्टि से देखने पर वे राग-द्वेष-मोह कुछ भी नहीं है; इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें पूर्णतः क्षय करो कि जिससे पूर्ण अचल प्रकाशवाली ज्ञान ज्योति प्रकाशित हो।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है -

(छप्पय)

जीव करम संजोग सहज मिथ्यातरूप धर।
राग दोष परनति प्रभाव जानै न आप पर॥
तम मिथ्यात मिटि गयौ हुवो समकित उदोत ससि।
राग दोष कछु वस्तु नांहि छिन मांहि गये नसि॥
अनुभौ अभ्यास सुख रासि रमि, भयौ निपुन तारन तरन।
पूरन प्रकास निहचल निरखि, बानारसि वंदत चरन॥

यह जीव कर्मों के संयोग से सहज ही मिथ्यात्वभाव धारण करके राग-द्वेष परिणति के प्रभाव से स्व और पर को सही रूप में नहीं जान पाता, उनके बीच सीमा रेखा नहीं खींच पाता; किन्तु जब सम्यक्दर्शनरूप चन्द्रमा का उदय होता है तो मिथ्यात्व का अंधकार मिट जाता है और राग-द्वेष क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं; मानो वे तो कोई वस्तु ही नहीं हैं।

आत्मानुभव के अभ्यास से सुख की राशि में रमकर यह चतुर आत्मा तरन-तारन बन जाता है, पूर्ण प्रकाशमय निश्चल हो जाता है; उसे देखकर कविवर बनारसीदास कहते हैं कि मैं ऐसे ज्ञानी धर्मात्माओं के चरणों की वंदना करता हूँ।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"आत्मा अपने ही अज्ञानभाव से राग-द्वेषरूप होता है। जिनको अपनी चैतन्यसत्ता और एक ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, एक सामान्यभाव, नित्यभाव, पंचम-पारिणामिकभाव का भान नहीं; वे जीव अज्ञानभाव से पुण्य व पाप तथा राग व द्वेषभाव से परिणमते हैं। स्वयं अपने स्वभाव से राग-द्वेषरूप नहीं परिणमते। कर्मों के कारण भी वे राग-द्वेषरूप नहीं परिणमते; किन्तु अपने वस्तुस्वरूप का यथार्थभान न होने के कारण राग-द्वेषरूप परिणमते हैं।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३५७-३५८

अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का भान न होने के कारण जो अनादि से अज्ञान है, बस वही राग-द्वेष का हेतु है। अहा! मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है और मेरा कर्तव्य क्या है? इत्यादि का भान न होने से अज्ञानवश इस जीव को राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।

यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष को ही राग-द्वेष माना है। समकित होने के बाद जो रागादि होते हैं, उसको यहाँ राग ही नहीं माना गया है।[१]"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि राग-द्वेष की खान अज्ञानभाव ही है। अपने अज्ञानभाव से ही यह आत्मा स्वयं राग-द्वेष परिणामरूप परिणमित होता है। जब वस्तु के मूलस्वरूप की दृष्टि से विचार करते हैं तो यही स्पष्ट होता है कि आत्मस्वभाव में तो ये राग-द्वेष-मोह हैं ही नहीं। यद्यपि वर्तमान पर्याय में इन राग-द्वेषभावों की सत्ता है; तथापि उसे भी ज्ञानीजन सम्यग्दृष्टिधर्मात्मा तत्त्वदृष्टि के बल से इनका क्षय करके स्वयं स्वयं के सहजस्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं।

अब आगामी गाथा के भाव का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(शालिनी)

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात्॥२१९॥

(रोला)

तत्त्वदृष्टि से राग-द्वेष भावों का भाई।
कर्त्ता-धर्त्ता कोई अन्य नहीं हो सकता॥
क्योंकि है अत्यन्त प्रगट यह बात जगत में।
द्रव्यों का उत्पाद स्वयं से ही होता है॥२१९॥

तत्त्वदृष्टि से देखा जाये तो राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् मात्र भी दिखाई नहीं देता; क्योंकि सर्वद्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अंतरंग में अत्यन्त स्पष्ट प्रकाशित होती है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३५८

इस कलश के भाव को स्पष्ट करते हुये कलश टीकाकार पाण्डे राजमलजी कलश टीका में लिखते हैं -

''भावार्थ इसप्रकार है कि कोई ऐसा मानता है कि जीव का स्वभाव राग-द्वेषरूप परिणमने का नहीं है, परद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्म तथा शरीर भोग सामग्री बलात्कार (जबरदस्ती) जीव को राग-द्वेषरूप परिणमते हैं; सो ऐसा तो है नहीं, जीव की विभाव परिणाम शक्ति जीव में है; इसलिये मिथ्यात्व के भ्रमरूप परिणमता हुआ राग-द्वेषरूप जीवद्रव्य आप परिणमता है, परद्रव्य का कुछ सहारा नहीं है।

आठ कर्मरूप अथवा शरीर-मन-वचन नोकर्मरूप अथवा बाह्य भोग सामग्री इत्यादिरूप है जितना परद्रव्य; वह द्रव्य के स्वरूप को देखते हुए सांची दृष्टि से अशुद्ध चेतनारूप है जो राग-द्वेषपरिणाम; उनको उत्पन्न करने में समर्थ नहीं दिखलाई देता।''

इस कलश और कलश टीका के भाव को आधार बनाकर कविवर बनारसीदासजी इस कलश की विषयवस्तु को शिष्य-गुरु के प्रश्नोत्तर के रूप में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

कोऊ सिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है।
पुग्गल करम जोग किधौं इंद्रिनि कौं भोग,
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है॥
गुरु कहै छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सबनि कौ सदा असहाई परिनौन है।
कोऊ दरब काहू कौ न प्रेरक कदाचि तातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥

कोई शिष्य अपने गुरुजी से कहता है कि हे स्वामी! कृपया आप यह बताइये कि राग-द्वेषभावों का मूल प्रेरक कौन है? पौद्गलिक कर्म है या मन-वचन-कायरूप योग है या पंचेन्द्रियों के विषयभोग हैं या धन-सम्पत्ति है या कुटुम्बीजन हैं या मकान हैं?

गुरुजी उत्तर देते हुए कहते हैं कि अरे भाई! छहों द्रव्य में सभी द्रव्यों का परिणमन सदा ही पर की सहायता के बिना स्वयंरूप स्वयं के कारण ही होता है; कोई भी परद्रव्य किसी भी द्रव्य का प्रेरक कभी भी नहीं होता है; इसलिये तुम यही समझो कि इन मोह-राग-द्वेषभावों का कारण मोह (मिथ्यात्व) रूप मदिरा का पीना ही है।

तात्पर्य यह है कि यह जीव स्वयं ही मिथ्या मान्यता के कारण मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होता है; इसमें अन्य किसी परद्रव्य का कोई दोष नहीं है।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"आचार्य कहते हैं कि जरा विचार तो कर! तत्त्वदृष्टि से देखने पर कर्म आदि राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाले दिखाई ही नहीं देते। यद्यपि परद्रव्यरूप कर्म वगैरह निमित्त होते हैं; परन्तु राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूलकारण तो अपना स्वयं का अशुद्ध उपादान ही है। कर्म का उसमें किंचित् भी कार्य नहीं है।[१]

स्त्री के प्रति जो राग होता है; उसमें स्त्री बिल्कुल कारण नहीं है। गाली के कारण किंचित् भी/कभी भी क्रोध उत्पन्न नहीं होता। भाई! परद्रव्य परद्रव्य में हैं और जड़कर्म का उदय जड़कर्म में है। अत: कर्म के कारण विकार होता ही नहीं है। यह अकाट्य सिद्धान्त है।[२]

पंचास्तिकाय गाथा ६२ में कहा है कि विकार अपने षट्कारकों से अपनी पर्याय में होता है, उसमें परकारकों की किंचित् भी अपेक्षा नहीं है। पर्याय में जो मिथ्यात्व का भाव होता है, उसमें दर्शनमोहनीय कर्म का उदय कारण नहीं हैं। विषय-वासना के जो भाव होते हैं, उनमें वेदकर्म का उदय कारण नहीं है। पर्याय में जो क्रोधादि भाव होते हैं, उनमें चारित्रमोह का उदय कारण नहीं है; क्योंकि सर्वद्रव्यों की पर्यायों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती है।[३]

भावार्थ यह है कि क्रोध-मान-माया-लोभ एवं हिंसा, झूठ आदि जो भी जीव के परिणाम हैं, वे सब जीव के ही परिणाम हैं। वे कर्म के परिणाम नहीं

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३५९-३६०
२. वही, पृष्ठ ३६०
३. वही, पृष्ठ ३६०-३६१

हैं; क्योंकि कर्मों से उत्पन्न नहीं हुए हैं। कोई अन्य द्रव्य आत्मा में रागादि की उत्पत्ति कर ही नहीं सकता; क्योंकि सर्वद्रव्यों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती है। यदि ऐसा सत्य निर्णय अभी यहाँ नहीं करेगा तो कब और कहाँ करेगा ?

देखो, यहाँ राग-द्वेषादि विकार को चैतन्य का परिणाम कहा; क्योंकि वे चेतन की पर्याय में होते हैं। दूसरे, जहाँ शुद्धस्वभाव को सिद्ध करने की बात हो और ध्रुव स्वभाव का आश्रय कराने का प्रयोजन हो - वहाँ उसे पुद्गल का परिणाम कहा जाता है।

जहाँ, जो विवक्षा हो; उसे यथार्थ समझना चाहिए, जिसको ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हुई हो, वह स्वयं व्यापक अर्थात् कारण एवं निर्मल पर्याय उसका व्याप्य अर्थात् कार्य है, विकार उसका व्याप्य या कार्य नहीं है, बस; इस अपेक्षा से विकार को पुद्गल का परिणाम कहा है तथा यहाँ राग-द्वेषादि विकारीभाव जीव की दशा में होने से उन्हें जीव का परिणाम कहा है; क्योंकि वे जड़ में नहीं होते। जड़ द्रव्य उन्हें उत्पन्न नहीं कराता; क्योंकि अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण पर्यायों से उत्पत्ति नहीं होती। अतः जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो उसे वैसा ही समझना चाहिये।[१]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन उसके स्वयं के स्वभाव से ही होता है; अन्य द्रव्यों के कारण नहीं। आत्मा भी एक द्रव्य है; इसलिए उसका परिणमन भी उसके ही द्वारा किया जाना इष्ट है। मोह-राग-द्वेषरूप परिणमन भी आत्मा का ही परिणमन है; अतः वह भी उसके द्वारा ही किया जाना इष्ट है। यही कारण है यहाँ यह कहा गया है कि आत्मा स्वयं ही अपने अज्ञानभाव के कारण अज्ञान अवस्था में मोह-राग-द्वेषरूप परिणमता है; किसी अन्य के कारण नहीं।

अपने स्वयं के राग-द्वेष-मोह का कारण पर में खोजना अज्ञान ही है। ◉

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ९, पृष्ठ ३६२

समयसार पद्यानुवाद

बंध अधिकार

(हरिगीत)

ज्यों तेल मर्दन कर पुरुष रेणु बहुल स्थान में ।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से ॥ २३७ ॥
तरु ताड़ कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे ।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥ २३८ ॥
बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को ।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध किस कारण हुआ ॥ २३९ ॥
चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने ।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥ २४० ॥
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि को करते हुए ।
सब करमरज से लिप्त होते हैं जगत में अज्ञजन ॥ २४१ ॥
ज्यों तेल मर्दन रहित जन रेणू बहुल स्थान में ।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से ॥ २४२ ॥
तरु ताल कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे ।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥ २४३ ॥
बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को ।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध क्यों कर ना हुआ ? ॥ २४४ ॥
चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने ।
पर काय चेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥ २४५ ॥
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि ना करते हुए ।
बस करमरज से लिप्त होते नहीं जग में विज्ञजन ॥ २४६ ॥
मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ! ॥ २४७ ॥
निज आयु क्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं ? ॥ २४८ ॥

निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं ? ॥ २४९ ॥
मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ! ॥ २५० ॥
सब आयु से जीवित रहें — यह बात जिनवर ने कही।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं ? ॥ २५१ ॥
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही ।
कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं ? ॥ २५२ ॥
मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो ? ॥ २५३ ॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
तू कर्म दे सकता न जब सुख-दुख दे किस भाँति तब ॥ २५४ ॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
दुष्कर्म दे सकते न जब दुःख-दर्द दें किस भाँति तब ? ॥ २५५ ॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
सत्कर्म दे सकते न जब सुख-शांति दें किस भाँति तब ? ॥ २५६ ॥
जो मरे या जो दुःखी हों वे सब करम के उदय से ।
'मैं दुःखी करता-मारता' —यह बात क्यों मिथ्या न हो ? ॥ २५७ ॥
जो ना मरे या दुःखी न हो सब करम के उदय से ।
'ना दुःखी करता मारता' — यह बात क्यों मिथ्या न हो॥ २५८ ॥
मैं सुखी करता दुखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता ही मूढमती शुभ-अशुभ का बंधन करे ॥ २५९ ॥
'मैं सुखी करता दुखी करता' यही अध्यवसान सब ।
पुण्य एवं पाप के बंधक कहे हैं सूत्र में ॥ २६० ॥
'मैं मारता मैं बचाता हूँ' यही अध्यवसान सब ।
पाप एवं पुण्य के बंधक कहे हैं सूत्र में ॥ २६१ ॥
मारो न मारो जीव को हो बंध अध्यवसान से ।
यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से ॥ २६२ ॥
इस ही तरह चोरी असत्य कुशील एवं ग्रंथ में ।
जो हुए अध्यवसान हों वे पाप का बंधन करें ॥ २६३ ॥
इस ही तरह अचौर्य सत्य सुशील और अग्रंथ में ।
जो हुए अध्यवसान हों वे पुण्य का बंधन करें ॥ २६४ ॥

ये भाव अध्यवसान होते वस्तु के अवलम्ब से ।
परवस्तु से ना बंध हो हो बंध अध्यवसान से ॥ २६५ ॥
मैं सुखी करता दुखी करता बाँधता या छोड़ता ।
यह मान्यता हे मूढ़मति मिथ्या निरर्थक जानना ॥ २६६ ॥
जिय बँधे अध्यवसान से शिवपथ-गमन से छूटते ।
गहराई से सोचो जरा पर में तुम्हारा क्या चले ? ॥ २६७ ॥
यह जीव अध्यवसान से तिर्यंच नारक देव नर ।
अर पुण्य एवं पाप सब पर्यायमय निज को करे ॥ २६८ ॥
वह जीव और अजीव एवं धर्म और अधर्ममय ।
अर लोक और अलोक इन सबमय स्वयं निज को करे ॥ २६९ ॥
ये और इनसे अन्य अध्यवसान जिनके हैं नहीं ।
वे मुनीजन शुभ-अशुभ कर्मों से न कबहूँ लिप्त हों ॥ २७० ॥
व्यवसाय बुद्धी मति अध्यवसान अर विज्ञान भी ।
एकार्थवाचक हैं सभी ये भाव चित्त परिणाम भी ॥ २७१ ॥
इस तरह ही परमार्थ से कर नास्ति इस व्यवहार की ।
निश्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ती करें निर्वाण की ॥ २७२ ॥
व्रत-समिति-गुप्ती-शील-तप आदिक सभी जिनवरकथित ।
करते हुए भी अभव्यजन अज्ञानि मिथ्यादृष्टि हैं ॥ २७३ ॥
मोक्ष के श्रद्धान बिन सब शास्त्र पढ़कर भी अभवि ।
को पाठ गुण करता नहीं है ज्ञान के श्रद्धान बिन ॥ २७४ ॥
अभव्यजन श्रद्धा करें रुचि धरें अर रच-पच रहें ।
जो धर्म भोग निमित्त हैं न कर्मक्षय में निमित्त जो ॥ २७५ ॥
जीवादि का श्रद्धान दर्शन शास्त्र-अध्ययन ज्ञान है ।
चारित्र है षट्काय रक्षा —यह कथन व्यवहार है ॥ २७६ ॥
निज आतमा ही ज्ञान है दर्शन चरित भी आतमा ।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी है आतमा ॥ २७७ ॥
ज्यों लालिमामय स्वयं परिणत नहीं होता फटिकमणि ।
पर लालिमायुत द्रव्य के संयोग से हो लाल वह ॥ २७८ ॥
त्यों ज्ञानिजन रागादिमय परिणत न होते स्वयं ही ।
रागादि के ही उदय से वे किए जाते रागमय ॥ २७९ ॥
ना स्वयं करता मोह एवं राग-द्वेष कषाय को ।
इसलिए ज्ञानी जीव कर्त्ता नहीं है रागादि का ॥ २८० ॥

राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो ।
उनरूप परिणत जीव फिर रागादि का बंधन करे ॥२८१॥
राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो ।
उनरूप परिणत आत्मा रागादि का बंधन करे ॥२८२॥
है द्विविध अप्रतिक्रमण एवं द्विविध है अत्याग भी ।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा ॥२८३॥
अत्याग अप्रतिक्रमण दोनों द्विविध हैं द्रवभाव से ।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा ॥२८४॥
द्रवभाव से अत्याग अप्रतिक्रमण होवें जबतलक ।
तबतलक यह आतमा कर्ता रहे — यह जानना॥२८५॥
अधःकर्मक आदि जो पुद्गल दरब के दोष हैं ।
परद्रव्य के गुणरूप उनको ज्ञानिजन कैसे करें ? ॥२८६॥
उद्देशिक अधःकर्म जो पुद्गल दरबमय अचेतन ।
कहे जाते वे सदा मेरे किये किस भाँति हों ? ॥२८७॥

मोक्ष अधिकार

कोई पुरुष चिरकाल से आबद्ध होकर बंध के ।
तीव्र-मन्दस्वभाव एवं काल को हो जानता ॥२८८॥
किन्तु यदि वह बंध का छेदन न कर छूटे नहीं ।
तो वह पुरुष चिरकाल तक निज मुक्ति को पाता नहीं ॥२८९॥
इस ही तरह प्रकृति प्रदेश स्थिति अर अनुभाग को ।
जानकर भी नहीं छूटे शुद्ध हो तब छूटता ॥२९०॥
चिन्तवन से बंध के ज्यों बंधे जन ना मुक्त हों ।
त्यों चिन्तवन से बंध के बंधे जीव न मुक्त हों ॥२९१॥
छेदकर सब बंधनों को बद्धजन ज्यों मुक्त हों ।
त्यों छेदकर सब बंधनों को बद्धजिय सब मुक्त हों ॥२९२॥
जो जानकर निजभाव निज में और बंधस्वभाव को ।
विरक्त हों जो बंध से वे जीव कर्म विमुक्त हों ॥२९३॥
जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हों ।
बंध को है छेदना अर ग्रहण करना आतमा ॥२९५॥
जिस भाँति प्रज्ञा छैनी से पर से विभक्त किया इसे ।
उस भाँति प्रज्ञा छैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे ॥२९६॥

इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो चेतता ।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥२९७॥
इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो देखता ।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥२९८॥
इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो जानता ।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना ॥२९९॥
निज आतमा को शुद्ध अर पररूप पर को जानता ।
है कौन बुध जो जगत में परद्रव्य को अपना कहे ॥३००॥
अपराध चौर्यादिक करें जो पुरुष वे शंकित रहें ।
कि चोर है यह जानकर कोई मुझे ना बाँध ले ॥३०१॥
अपराध जो करता नहीं निःशंक जनपद में रहे ।
बंध जाऊँगा ऐसी कभी चिन्ता न उसके चित रहे ॥३०२॥
अपराधि जिय 'मैं बधूँगा' इसतरह नित शंकित रहे ।
पर निरपराधी आतमा भयरहित है निःशंक है ॥३०३॥
साधित अराधित राध अर संसिद्धि सिद्धि एक है ।
बस राध से जो रहित है वह आतमा अपराध है ॥३०४॥
निरपराध है जो आतमा वह आतमा निःशंक है ।
'मैं शुद्ध हूँ' — यह जानता आराधना में रत रहे॥३०५॥
प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा ।
निन्दा गरहा और शुद्धि अष्टविध विषकुम्भ हैं ॥३०६॥
अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अर अपरिहार अधारणा ।
अनिन्दा अनिवृत्त्यशुद्धि अगर्हा अमृतकुंभ हैं ॥३०७॥

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

है जगत में कटकादि गहनों से सुवर्ण अनन्य ज्यों।
जिन गुणों में जो द्रव्य उपजे उनसे जान अनन्य त्यों॥३०८॥
जीव और अजीव के परिणाम जो जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जानों अनन्य उन परिणाम से॥३०९॥
ना करे पैदा किसी को बस इसलिए कारण नहीं।
किसी से ना हो अतः यह आतमा कारज नहीं॥३१०॥

कर्म आश्रय होय कर्ता कर्ता आश्रय कर्म भी।
यह नियम अन्यप्रकार से सिद्धि न कर्ता-कर्म की॥ ३११॥
उत्पन्न होता नष्ट होता जीव प्रकृति निमित्त से।
उत्पन्न होती नष्ट होती प्रकृति जीव निमित्त से॥ ३१२॥
यों परस्पर निमित्त से हो बंध जीव रु कर्म का।
बस इसतरह ही उभय से संसार की उत्पत्ति हो॥ ३१३॥
जबतक न छोड़े आतमा प्रकृति निमित्तक परिणमन।
तबतक रहे अज्ञानि मिथ्यादृष्टि एवं असंयत॥ ३१४॥
जब अनंता कर्म का फल छोड़ दे यह आतमा।
तब मुक्त होता बंध से सद्दृष्टि ज्ञानी संयमी॥ ३१५॥
प्रकृतिस्वभावस्थित अज्ञानी कर्मफल को भोगते।
पर ज्ञानिजन तो कर्मफल को जानते ना भोगते॥ ३१६॥
गुड़-दूध पीता हुआ भी निर्विष न होता सर्प ज्यों।
त्यों भलीभाँति शास्त्र पढ़कर अभवि प्रकृति न तजे॥ ३१७॥
निर्वेद से सम्पन्न ज्ञानी मधुर-कड़वे नेक विध।
वे जानते हैं कर्मफल को हैं अवेदक इसलिए॥ ३१८॥
ज्ञानी करे-भोगे नहीं बस सभी विध-विध करम को।
वह जानता है कर्मफल बंध पुण्य एवं पाप को॥ ३१९॥
ज्यों दृष्टि त्यों ही ज्ञान जग में है अकारक अवेदक।
जाने करम के बंध उदय अर मोक्ष एवं निर्जरा॥ ३२०॥
जगत-जन यों कहें विष्णु करे सुर-नरलोक को।
रक्षा करूँ षट्काय की यदि श्रमण भी माने यही॥ ३२१॥
तो न श्रमण अर लोक के सिद्धान्त में अन्तर रहा।
सम मान्यता में विष्णु एवं आतमा कर्ता रहा॥ ३२२॥
इसतरह कर्तृत्व से नित ग्रसित लोक रु श्रमण को।
रे मोक्ष दोनों का दिखाई नहीं देता है मुझे॥ ३२३॥
अतत्त्वविद् व्यवहार ग्रह परद्रव्य को अपना कहें।
पर तत्त्वविद् जाने कि पर परमाणु भी मेरा नहीं॥ ३२४॥
ग्राम जनपद राष्ट्र मेरा कहे कोई जिसतरह।
किन्तु वे उसके नहीं हैं मोह से ही वह कहे॥ ३२५॥

इसतरह जो 'परद्रव्य मेरा' - जानकर अपना करे।
संशय नहीं वह ज्ञानि मिथ्यादृष्टि ही है जानना॥ ३२६॥
'मेरे नहीं ये' - जानकर तत्त्वज्ञ ऐसा मानते।
है अज्ञता कर्तृत्वबुद्धि लोक एवं श्रमण की॥ ३२७॥
मिथ्यात्व नामक प्रकृति मिथ्यात्वी करे यदि जीव को।
फिर तो अचेतन प्रकृति ही कर्तापने को प्राप्त हो॥ ३२८॥
अथवा करे यह जीव पुद्गल दरब के मिथ्यात्व को।
मिथ्यात्वमय पुद्गल दरब ही सिद्ध होगा जीव ना॥ ३२९॥
यदि जीव प्रकृति उभय मिल मिथ्यात्वमय पुद्गल करे।
फल भोगना होगा उभय को उभयकृत मिथ्यात्व का॥ ३३०॥
यदि जीव प्रकृति ना करें मिथ्यात्वमय पुद्गल दरव।
मिथ्यात्वमय पुद्गल सहज, क्या नहीं यह मिथ्या कहो?॥ ३३१॥
कर्म अज्ञानी करे अर कर्म ही ज्ञानी करे।
जिय को सुलावे कर्म ही अर कर्म ही जागृत करे॥ ३३२॥
कर्म करते सुखी एवं दुखी करते कर्म ही।
मिथ्यात्वमय कर्महि करे अर असंयमी भी कर्म ही॥ ३३३॥
कर्म ही जिय भ्रमाते हैं उर्ध्व-अध-तिरलोक में।
जो कुछ जगत में शुभ-अशुभ वह कर्म ही करते रहें॥ ३३४॥
कर्म करते कर्म देते कर्म हरते हैं सदा।
यह सत्य है तो सिद्ध होंगे अकारक सब आतमा॥ ३३५॥
नरवेद है महिलाभिलाषी नार चाहे पुरुष को।
परम्परा आचार्यों से बात यह श्रुतपूर्व है॥ ३३६॥
अब्रह्मचारी नहीं कोई हमारे उपदेश में।
क्योंकि ऐसा कहा है कि कर्म चाहे कर्म को ३३७॥
जो मारता है अन्य को या मारा जावे अन्य से।
परघात नामक कर्म की ही प्रकृति का यह काम है॥ ३३८॥
परघात करता नहीं कोई हमारे उपदेश में।
क्योंकि ऐसा कहा है कि कर्म मारे कर्म को॥ ३३९॥
सांख्य के उपदेश सम जो श्रमण प्रतिपादन करें।
कर्ता प्रकृति उनके यहाँ पर है अकारक आतमा॥ ३४०॥

या मानते हो यह कि मेरा आत्मा निज को करे।
तो यह तुम्हारा मानना मिथ्यास्वभावी जानना॥ ३४१॥
क्योंकि आतम नित्य है एवं असंख्य-प्रदेशमय।
ना उसे इससे हीन अथवा अधिक करना शक्य है॥ ३४२॥
विस्तार से भी जीव का जीवत्व लोकप्रमाण है।
ना होय हीनाधिक कभी कैसे करे जिय द्रव्य को।। ३४३॥
यदी माने रहे ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव में।
तो भी आतम स्वयं अपने आतमा को ना करें॥ ३४४॥
यह आत्मा हो नष्ट कुछ पर्याय से कुछ से नहीं।
जो भोगता वह करे अथवा अन्य यह एकान्त ना॥ ३४५॥
यह आतमा हो नष्ट कुछ पर्याय से कुछ से नहीं।
जो करे भोगे वही अथवा अन्य यह एकान्त ना॥ ३४६॥
जो करे, भोगे नहीं वह; सिद्धान्त यह जिस जीव का।
वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना॥ ३४७॥
कोई करे कोई भरे यह मान्यता जिस जीव की।
वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना॥ ३४८॥
ज्यों शिल्पि कर्म करे परन्तु कर्ममय वह ना बने।
त्यों जीव कर्म करे परन्तु कर्ममय वह ना बने॥ ३४९॥
ज्यों शिल्पि करणों से करे पर करणमय वह ना बने।
त्यों जीव करणों से करे पर करणमय वह ना बने॥ ३५०॥
ज्यों शिल्पि करणों को ग्रहे पर करणमय वह ना बने।
त्यों जीव करणों को ग्रहे पर करणमय वह ना बने॥ ३५१॥
ज्यों शिल्पि भोगे कर्मफल तन्मय परन्तु होय ना।
त्यों जीव भोगे कर्मफल तन्मय परन्तु होय ना॥ ३५२॥
संक्षेप में व्यवहार का यह कथन दर्शाया गया।
अब सुनो परिणाम विषयक कथन जो परमार्थ का॥ ३५३॥
शिल्पी करे जो चेष्टा उससे अनन्य रहे सदा।
जीव भी जो करे वह उससे अनन्य रहे सदा॥ ३५४॥
चेष्टा में मगन शिल्पी नित्य ज्यों दुःख भोगता।
यह चेष्टा रत जीव भी त्यों नित्य ही दुःख भोगता॥ ३५५॥
ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है॥ ३५६॥

ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का दर्शक तो बस दर्शक ही है॥ ३५७॥
ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
संयत नहीं त्यों अन्य का संयत तो बस संयत ही है॥ ३५८॥
ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
दर्शन नहीं त्यों अन्य का दर्शन तो बस दर्शन ही है॥ ३५९॥
यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक कथन है परमार्थ का।
अब सुनो अतिसंक्षेप में तुम कथन नय व्यवहार का॥ ३६०॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि ज्ञाता जानता परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६१॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि दृष्टा देखता परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६२॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि ज्ञाता त्यागता परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६३॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
सुदृष्टि त्यों हि श्रद्धता परद्रव्य को निजभाव से॥ ३६४॥
यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक कथन है व्यवहार का।
अर अन्य पर्यय विषय में भी इसतरह ही जानना॥ ३६५॥
ज्ञान-दर्शन-चरित्र ना किंचित् अचेतन विषय में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस विषय में॥ ३६६॥
ज्ञान-दर्शन-चरित्र ना किंचित् अचेतन कर्म में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस कर्म में॥ ३६७॥
ज्ञान-दर्शन-चरित्र ना किंचित् अचेतन काय में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस काय में॥ ३६८॥
सद्ज्ञान का सम्यक्त्व का उपघात चारित्र का कहा।
अन्य पुद्गल द्रव्य का ना घात किंचित् भी कहा॥ ३६९॥
जीव के जो गुण कहे वे हैं नहीं परद्रव्य में।
बस इसलिए सद्दृष्टि को है राग विषयों में नहीं॥ ३७०॥
अनन्य हैं परिणाम जिय के राग-द्वेष-विमोह ये।
बस इसलिए शब्दादि विषयों में नहीं रागादि ये॥ ३७१॥

समयसार कलश पद्यानुवाद

बंध अधिकार

(हरिगीत)

मदमत्त हो मदमोह में इस बंध ने नर्तन किया ।
रसराग के उद्गार से सब जगत को पागल किया ॥
उदार अर आनन्दभोजी धीर निरुपधि ज्ञान ने ।
अति ही अनान्दकुलभाव से उस बंध का मर्दन किया ॥१६३॥

कर्म की ये वर्गणायें बंध का कारण नहीं ।
अत्यन्त चंचल योग भी हैं बंध के कारण नहीं ॥
करण कारण हैं नहीं चिद्-अचिद् हिंसा भी नहीं ।
बस बंध के कारण कहे अज्ञानमय रागादि ही ॥१६४॥

भले ही सब कर्मपुद्गल से भरा यह लोक हो ।
भले ही मन-वचन-तन परिस्पन्दमय यह योग हो ॥
चिद्-अचिद् का घात एवं करण का उपभोग हो ।
फिर भी नहीं रागादि विरहित ज्ञानियों को बंध हो ॥१६५॥

तो भी निरर्गल प्रवर्त्तन तो ज्ञानियों को वर्ज्य है ।
क्योंकि निरर्गल प्रवर्त्तन तो बंध का स्थान है ॥
वांच्छारहित जो प्रवर्त्तन वह बंध विरहित जानिये।
जानना करना परस्पर विरोधी ही मानिये ॥१६६॥

जो ज्ञानीजन हैं जानते वे कभी भी करते नहीं ।
करना तो है बस राग ही जो करें वे जाने नहीं ॥
अज्ञानमय यह राग तो है भाव अध्यवसान ही ।
बंधकारण कहे ये अज्ञानियों के भाव ही ॥१६७॥

जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख सब प्राणियों के सदा ही ।
अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से ॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख ।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है ॥१६८॥

करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख ।
मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को ॥
कर्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष ।
भव-भव भ्रमें मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष ॥१६९॥

(दोहा)

विविध कर्म बंधन करें जो मिथ्याध्यवसाय ।
मिथ्यामति निशदिन करें वे मिथ्याध्यवसाय ॥१७०॥
निष्फल अध्यवसान में मोहित हो यह जीव ।
सर्वरूप निज को करे जाने सब निजरूप ॥१७१॥

(रोला)

यद्यपि चेतन पूर्ण विश्व से भिन्न सदा है,
फिर भी निज को करे विश्वमय जिसके कारण ।
मोहमूल वह अधवसाय ही जिसके न हो,
परमप्रतापी दृष्टिवंत वे ही मुनिवर हैं ॥१७२॥

(अडिल्ल)

सब ही अध्यवसान त्यागने योग्य हैं,
यह जो बात विशेष जिनेश्वर ने कही ।
इसका तो स्पष्ट अर्थ यह जानिये;
अन्याश्रित व्यवहार त्यागने योग्य है ॥
परमशुद्धनिश्चयनय का जो ज्ञेय है,
शुद्ध निजातमराम एक ही ध्येय है ।
यदि ऐसी है बात तो मुनिजन क्यों नहीं;
शुद्धज्ञानघन आतम में निश्चल रहें ? ॥१७३॥

(सोरठा)

कहे जिनागम माँहि शुद्धातम से भिन्न जो ।
रागादिक परिणाम कर्मबंध के हेतु वे ॥
यहाँ प्रश्न अब एक उन रागादिक भाव का ।
यह आतम या अन्य कौन हेतु है अब कहें ॥१७४॥

अग्निरूप न होय सूर्यकान्तमणि सूर्य बिन ।
रागरूप न होय यह आतम परसंग बिन ॥ १७५ ॥

(दोहा)

ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने विज्ञ सदीव ।
अपनापन ना राग में अतः अकारक जीव ॥ १७६ ॥
ऐसे वस्तुस्वभाव को ना जाने अल्पज्ञ ।
धरे एकता राग में नहीं अकारक अज्ञ ॥ १७७ ॥

(सवैया इकतीसा)

परद्रव्य हैं निमित्त परभाव नैमित्तिक,
नैमित्तिक भावों से कषायवान हो रहा ।
भावीकर्मबंधन हो इन कषायभावों से,
बंधन में आतमा विलायमान हो रहा ॥
इसप्रकार जान परभावों की संतति को,
जड़ से उखाड़ स्फुरायमान हो रहा ।
आनन्दकन्द निज-आतम के वेदन में,
निजभगवान शोभायमान हो रहा ॥ १७८ ॥

बंध के जो मूल उन रागादिकभावों को,
जड़ से उखाड़ने उदीयमान हो रही ।
जिसके उदय से चिन्मयलोक की,
यह कर्मकालिमा विलीयमान हो रही ॥
जिसके उदय को कोई नहीं रोक सके,
अद्भुत शौर्य से विकासमान हो रही ।
कमर कसे हुए धीर-वीर गंभीर,
दिव्य ज्ञानज्योति प्रकाशमान हो रही ॥ १७९ ॥

मोक्ष अधिकार

(हरिगीत)

निज आतमा अर बंध को कर पृथक् प्रज्ञाछैनि से ।
सद्ज्ञानमय निज आत्म को कर सरस परमानन्द से ॥
उत्कृष्ट है कृतकृत्य है परिपूर्णता को प्राप्त है ।
प्रगटित हुई वह ज्ञानज्योति जो स्वयं में व्याप्त है ॥ १८० ॥

सूक्ष्म अन्तःसंधि में अति तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनि को ।
अति निपुणता से डालकर अति निपुणजन ने बन्ध को ॥
अति भिन्न करके आतमा से आतमा में जम गये ।
वे ही विवेकी धन्य हैं वे भवजलधि से तर गये ॥१८१॥

स्वलक्षणों के प्रबलबल से भेदकर परभाव को ।
चिद्लक्षणों से ग्रहण कर चैतन्यमय निजभाव को ॥
यदि भेद को भी प्राप्त हो गुण धर्म कारक आदि से ।
तो भले हो पर मैं तो केवल शुद्ध चिन्मयमात्र हूँ ॥१८२॥

है यद्यपि अद्वैत ही यह चेतना इस जगत में ।
किन्तु फिर भी ज्ञानदर्शन भेद से दो रूप है ॥
यह चेतना दर्शन सदा सामान्य अवलोकन करे ।
पर ज्ञान जाने सब विशेषों को तदपि निज में रहे ॥
अस्तित्व ही ना रहे इनके बिना चेतन द्रव्य का ।
चेतना के बिना चेतन द्रव्य का अस्तित्व क्या ?
चेतन नहीं बिन चेतना चेतन बिना ना चेतना ।
बस इसलिए हे आत्मन् ! इनमें सदा ही चेत ना ॥१८३॥

(दोहा)

चिन्मय चेतनभाव हैं पर हैं पर के भाव ।
उपादेय चिद्भाव हैं हेय सभी परभाव ॥१८४॥

(हरिगीत)

मैं तो सदा ही शुद्ध परमानन्द चिन्मयज्योति हूँ ।
सेवन करें सिद्धान्त यह सब ही मुमुक्षु बन्धुजन ॥
जो विविध परभाव मुझमें दिखें वे मुझ से पृथक् ।
वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे लिए परद्रव्य हैं ॥१८५॥

(दोहा)

परग्राही अपराधिजन बाँधे कर्म सदीव ।
स्व में ही संवृत्त जो वे ना बंधे कदीव ॥१८६॥

(हरिगीत)

जो सापराधी निरन्तर वे कर्मबंधन कर रहे ।
जो निरपराधी वे कभी भी कर्मबंधन ना करें ॥
अशुद्ध जाने आतमा को सापराधी जन सदा ।
शुद्धात्मसेवी निरपराधी शान्ति सेवें सर्वदा ॥१८७॥

अरे मुक्तिमार्ग में चापल्य अर परमाद को ।
है नहीं कोई जगह कोई और आलंबन नहीं ॥
बस इसलिए ही जबतलक आनन्दघन निज आतमा ।
की प्राप्ति न हो तबतलक तुम नित्य ध्यावो आतमा ॥१८८॥

(रोला)

प्रतिक्रमण भी अरे जहाँ विष-जहर कहा हो,
अमृत कैसे कहें वहाँ अप्रतिक्रमण को ॥
अरे प्रमादी लोग अधो-अधः क्यों जाते हैं ?
इस प्रमाद को त्याग उर्ध्व में क्यों नहीं जाते ? ॥१८९॥

कषायभाव से आलस करना ही प्रमाद है,
यह प्रमाद का भाव शुद्ध कैसे हो सकता ?
निजरस से परिपूर्ण भाव में अचल रहें जो,
अल्पकाल में वे मुनिवर ही बंधमुक्त हों ॥१९०॥

अरे अशुद्धता करनेवाले परद्रव्यों को,
अरे दूर से त्याग स्वयं में लीन रहे जो ।
अपराधों से दूर बंध का नाश करें वे,
शुद्धभाव को प्राप्त मुक्त हो जाते हैं वे ॥१९१॥

बंध-छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आतमा,
निजरस से गंभीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय ।
उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय,
अचल अनाकुल अज अखण्ड यह ज्ञानदिवाकर ॥१९२॥

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

(रोला)

जिसने कर्तृ-भोक्तृभाव सब नष्ट कर दिये,
बंध-मोक्ष की रचना से जो सदा दूर है।
है अपार महिमा जिसकी टंकोत्कीर्ण जो;
ज्ञानपुंज वह शुद्धातम ज्ञ..नायमान है॥ १९३॥

(दोहा)

जैसे भोक्तृ स्वभाव नहीं वेसे कर्त्तृस्वभाव।
कर्त्तापन अज्ञान से ज्ञान अकारकभाव॥ १९४॥

(रोला)

निजरस से सुविशुद्ध जीव शोभायमान है।
झलके लोकालोक ज्योति स्फुरायमान है।
अहो अकर्त्ता आतम फिर भी बंध हो रहा।
यह अपार महिमा जानो अज्ञानभाव की॥ १९५॥

(दोहा)

जैसे कर्त्तृस्वभाव नहीं वैसे भोक्तृस्वभाव।
भोक्तापन अज्ञान से ज्ञान अभोक्ताभाव॥ १९६॥

(रोला)

प्रकृतिस्वभावरत अज्ञानी हैं सदा भोगते।
प्रकृतिस्वभाव से विरत ज्ञानिजन कभी न भोगें॥
निपुणजनो! निजशुद्धातममय ज्ञानभाव को।
अपनाओ तुम सदा त्याग अज्ञानभाव को॥ १९७॥

(सोरठा)

निश्चल शुद्धस्वभाव, ज्ञानी करे न भोगवे।
जाने कर्मस्वभाव, इस कारण वह मुक्त है॥ १९८॥

(हरिगीत)

निज आतमा ही करे सबकुछ मानते अज्ञान से।
हों यद्यपि वे मुमुक्षु पर रहित आतमज्ञान से॥
अध्ययन करें चारित्र पालें और भक्ति करें पर।
लौकिकजनों वत उन्हें भी तो मुक्ति की प्राप्ति न हो॥ १९९॥

(दोहा)

जब कोई संबंध ना पर अर आतम माँहि।
तब कर्त्ता परद्रव्य का किसविध आत्म कहाँहि॥ २००॥

(रोला)

जब कोई संबंध नहीं है दो द्रव्यों में,
तब फिर कर्ताकर्मभाव भी कैसे होगा?
इसीलिए तो मैं कहता हूँ निज को जानो;
सदा अकर्त्ता अरे जगतजन अरे मुनिजन॥ २०१॥

इस स्वभाव के सहज नियम जो नहीं जानते,
अरे विचारे वे तो डूबे भवसागर में।
विविध कर्म को करते हैं बस इसीलिए वे,
भावकर्म के कर्त्ता होते अन्य कोई ना॥ २०२॥

अरे कार्य कर्त्ता के बिना नहीं हो सकता,
भावकर्म भी एक कार्य है सब जग जाने।
और पौद्गलिक प्रकृति सदा ही रही अचेतन;
वह कैसे कर सकती चेतन भावकर्म को॥
प्रकृति-जीव दोनों ही मिलकर उसे करें यदि
तो फिर दोनों मिलकर ही फल क्यों न भोगें?
भावकर्म तो चेतन का ही करे अनुसरण,
इसकारण यह जीव कहा है उनका कर्त्ता॥ २०३॥

कोई कर्ता मान कर्म को भावकर्म का,
आतम का कर्तृत्व उड़ाकर अरे सर्वथा।
और कथंचित् कर्त्ता आतम कहनेवाली;
स्याद्वादमय जिनवाणी को कोपित करते॥
उन्हीं मोहमोहितमतिवाले अल्पज्ञों के,
संबोधन के लिए सहेतुक स्याद्वादमय।
वस्तु का स्वरूप समझाते अरे भव्यजन,
अब आगे की गाथाओं में कुन्दकुन्द मुनि॥ २०४॥

अरे जैन होकर भी सांख्यों के समान ही,
इस आतम को सदा अकर्त्ता तुम मत मानो।
भेदज्ञान के पूर्व राग का कर्त्ता आतम;
भेदज्ञान होने पर सदा अकर्त्ता जानो॥ २०५॥

जो कर्त्ता वह नहीं भोगता इस जगती में,
ऐसा कहते कोई आतमा क्षणिक मानकर।
नित्यरूप से सदा प्रकाशित स्वयं आतमा
मानो उनका मोह निवारण स्वयं कर रहा॥ २०६॥

(सोरठा)

वृत्तिमान हो नष्ट, वृत्त्यंशों के भेद से।
कर्त्ता भोक्ता भिन्न; इस भय से मानो नहीं॥ २०७॥

(रोला)

यह आतम है क्षणिक क्योंकि यह परमशुद्ध है।
जहाँ काल की भी उपाधि की नहीं अशुद्धि॥
इसी धारणा से छूटा त्यों नित्य आतमा।
ज्यों डोरे बिन मुक्तामणि से हार न बनता॥ २०८॥

कर्त्ता-भोक्ता में अभेद हो युक्तिवश से,
भले भेद हो अथवा दोनों ही न होवें।
ज्यों मणियों की माला भेदी नहीं जा सके
त्यों अभेद्य आतम का अनुभव हमें सदा हो॥ २०९॥

(दोहा)

अरे मात्र व्यवहार से कर्मरु कर्त्ता भिन्न।
निश्चयनय से देखिये दोनों सदा अभिन्न॥ २१०॥

अरे कभी होता नहीं कर्त्ता के बिन कर्म।
निश्चय से परिणाम ही परिणामी का कर्म॥
सदा बदलता ही रहे यह परिणामी द्रव्य।
एकरूप रहती नहीं वस्तु की थिति नित्य॥ २११॥

(रोला)

यद्यपि आतमराम शक्तियों से है शोभित।
और लोटता बाहर-बाहर परद्रव्यों के॥
पर प्रवेश पा नहीं सकेगा उन द्रव्यों में।
फिर भी आकुल-व्याकुल होकर क्लेश पा रहा॥ २१२॥

एक वस्तु हो नहीं कभी भी अन्य वस्तु की।
वस्तु वस्तु की ही है - ऐसा निश्चित जानो॥
ऐसा है तो अन्य वस्तु यदि बाहर लोटे।
तो भी वह क्या कर सकती है अन्य वस्तु का॥ २१३॥

स्वयं परिणमित एक वस्तु यदि परवस्तु का।
कुछ करती है - ऐसा जो माना जाता है॥
वह केवल व्यवहारकथन है निश्चय से तो।
एक दूसरे का कुछ करना - शक्य नहीं है॥ २१४॥

एक द्रव्य में अन्य द्रव्य रहता हो - ऐसा।
भासित कभी नहीं होता है ज्ञानिजनों को॥
शुद्धभाव का उदय ज्ञेय का ज्ञान, न जाने।
फिर भी क्यों अज्ञानीजन आकुल होते हैं॥ २१५॥

शुद्धद्रव्य का निजरसरूप परिणमन होता।
वह पररूप या पर उसरूप नहीं हो सकते॥
अरे चाँदनी की ज्यों भूमि नहीं हो सकती।
त्यों ही कभी नहीं हो सकते ज्ञेय ज्ञान के॥ २१६॥

तबतक राग-द्वेष होते हैं जबतक भाई !
ज्ञान-ज्ञेय का भेद ज्ञान में उदित नहीं हो॥
ज्ञान-ज्ञेय का भेद समझकर राग-द्वेष को
मेट पूर्णतः पूर्ण ज्ञानमय तुम हो जावो॥ २१७॥

यही ज्ञान अज्ञानभाव से राग-द्वेषमय।
हो जाता पर तत्त्वदृष्टि से वस्तु नहीं ये॥
तत्त्वदृष्टि के बल से क्षयकर इन भावों को।
हो जाती है अचल सहज यह ज्योति प्रकाशित॥ २१८॥

तत्त्वदृष्टि से राग-द्वेष भावों का भाई।
कर्त्ता-धर्त्ता कोई अन्य नहीं हो सकता॥
क्योंकि है अत्यन्त प्रगट यह बात जगत में।
द्रव्यों का उत्पाद स्वयं से ही होता है॥ २१९॥

राग-द्वेष पैदा होते हैं इस आतम में।
उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है॥
यह अज्ञानी अपराधी है इनका कर्त्ता।
यह अबोध हो नष्ट कि मैं तो स्वयं ज्ञान हूँ॥ २२०॥

अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को।
एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी॥
शुद्धबोध से विरहित वे अंधे जन जग में।
अरे कभी भी मोहनदी से पार न होंगे॥ २२१॥

जैसे दीपक दीप्य वस्तुओं से अप्रभावित।
वैसे ही ज्ञायक ज्ञेयों से विकृत न हो॥
फिर भी अज्ञानीजन क्यों असहज होते हैं।
न जाने क्यों व्याकुल हो विचलित होते हैं॥ २२२॥

राग-द्वेष से रहित भूत-भावी कर्मों से मुक्त।
स्वयं को वे नित ही अनुभव करते हैं॥
और स्वयं में रत रह ज्ञानमयी चेतनता।
को धारण कर निज में नित्य मगन रहते हैं॥ २२३॥

ज्ञान चेतना शुद्धज्ञान को करे प्रकाशित।
शुद्धज्ञान को रोके नित अज्ञान चेतना॥
और बंध की कर्त्ता यह अज्ञान चेतना।
यही जान चेतो आतम नित ज्ञान चेतना॥ २२४॥

पाठकों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

आचार्य श्री धर्मभूषणजी महाराज लिखते हैं – डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा रचित जैनसाहित्य – 'समयसार अनुशीलन' तथा 'परमभाव प्रकाशक नयचक्र' आदि ग्रन्थों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया। मैंने अनुभव किया कि आपके ग्रंथ जैनधर्म के मर्म को पाठकों को समझाने तथा मुमुक्षुओं को आत्मानुभूति का रस प्रदानकर मोक्षमहल तक ले जाने में समर्थ हैं।

आपके ग्रंथ जैनधर्म के अनमोल रत्न हैं। जिसप्रकार सूर्य अन्धकार का विनाश करने में समर्थ है; उसीप्रकार आपका 'समयसार अनुशीलन' व 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' संसार-सागर में भटकने से बचनेवाले मुमुक्षुओं के लिए नौका समान है; क्योंकि नयदृष्टि से हीन व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। आपने अपनी लेखनी की प्रतिभा के माध्यम से निश्चय व व्यवहार नय का सुन्दर विश्लेषण किया है।

श्वेताम्बर साध्वी श्री पद्मरेखाजी लिखती हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' एक अनूठी कृति है। यह अपने आप में मुमुक्षुओं के लिए स्वाध्याय में सहारा देनेवाला ग्रंथ है। इस युग में आत्मोन्मुखी साहित्य की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति आप जैसे सरस्वतीपुत्र कर रहे हैं, जो साधुवाद के पात्र हैं।

बाहुबली (कुम्भोज-महाराष्ट्र) से ब्र. विदुषी गजाबैन लिखती हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' पढ़कर परम सन्तोष होता है। अबतक समयसार बहुत बार पढ़ा, लेकिन आपने जो मर्म खोला है, खुलासा किया है; उससे मन की सब शंकाएँ दूर हो जाती हैं। बिना किसी अटकन के मर्म गले से अन्दर उतर जाता है। आपकी कथन शैली में प्रतिभा की प्रौढ़ता, कल्पना की सूक्ष्मता, अनुभव की गहनता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता तथा भावों की यथार्थता की झलक स्पष्टरूप से प्रतिभासित होती है।

वास्तव में यह ग्रंथ पूरा होने पर समाज को एक अमूल्य निधि की प्राप्ति होगी।

लासइंजिल्स, साउथ केलीफोर्निया (नार्थ अमेरिका) से नरेशजी पालखीवाला लिखते हैं कि – 'समयसार : एक अनुशीलन' को पढ़कर मुझे वचनातीत आनन्द होता है। अन्तर ही अन्तर में उसका कितनी बार वाचन, मनन-चिन्तन होता है, उसकी कोई गिनती नहीं करता; क्योंकि जबतक पूरा-पूरा आत्मसात् नहीं होता, तबतक यह प्रक्रिया चलती ही रहती है।

आपके ये आत्मस्पर्शीभाव शब्दों के रूप प्रगट होकर मेरे लिए उत्कृष्ट निमित्त बन रहे हैं। गुरुदेवश्री ने जो अध्यात्मरुचि की चिंगारी लगाई थी, आपने उसे ज्योति का रूप दे दिया है।

उज्जैन से पण्डित सत्यंधरकुमारजी सेठी लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' समयसार ग्रंथ के रहस्य को समझने के लिए अलौकिक कुंजी है। यह ग्रंथ ऐसे लोगों के लिए भी पठनीय है, जो टोडरमल स्मारक वालों को एकांती कहकर लोगों को भ्रमित करते रहते हैं। व्यवहारनय और निश्चयनय का जो विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है, वह वास्तव में समझने लायक है। वस्तु के सही स्वरूप को समझने के लिए इस ग्रंथ का पढ़ना अनिवार्य है।

मनोहरपुर (जयपुर-राजस्थान) से डॉ. प्रेमचन्दजी रांवका लिखते हैं कि – आत्मतत्त्व के जिज्ञासु पाठकों को यह ग्रंथ सारभूत सामग्री प्रदान करता है। समयसार और कलश की मूल गाथाओं का पद्यानुवाद डॉ. भारिल्ल की मौलिकता है। इसप्रकार समयसार का सर्वांग अनुशीलन प्रस्तुत करके विद्वान मनीषी ने अध्यात्मानुरागियों के लिए स्वाध्याय हेतु राजमार्ग प्रस्तुत किया है।

बीना (म. प्र.) से गुलाबचन्दजी जैन लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' में गाथा-७ पर स्पष्टीकरण आत्मानुभूति प्राप्ति का वास्तविक उपाय है; इसमें विषय को इतना स्पष्ट किया गया है कि जैसे भगवान महावीर का स्थान कुंदकुंद एवं गौतमस्वामी का स्थान आचार्य अमृतचन्द ने लिया, उसीतरह पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी ने मानो कुंदकुंद का स्थान एवं आपने आचार्य अमृतचन्द का स्थान लिया हो। दृष्टि के विषय को प्रश्न-उत्तर द्वारा हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट किया है। कहाँ पर्याय का निषेध, कहाँ गौण – यह बात आप जैसे तत्त्वखोजी विद्वान ही निकाल सकते हैं।

कलकत्ता (पश्चिमी बंगाल) से चन्दुलालजी मेघाणी लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' की नयी कृति पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ और ज्यादा खुशी तो इसलिए हुई है कि समयसार गाथा-७ में जो आपने दृष्टि के विषय के बारे में स्पष्टता की है, उससे तो अनेक जीवों की शंका का समाधान कर दिया है और पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी को जीवन्त कर दिया है; क्योंकि उन्होंने तो ४५-४५ वर्षों तक इसी के गीत गाये थे और समयसार का केन्द्रबिन्दु भी वही आत्मा है, जिसका आपने खूब स्पष्टीकरण किया है। **एकबार पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी ने आपके बारे में गुजराती में कहा था कि पण्डित हुकमचन्द घणांज होशियार माणस छे।**

दिल्ली से श्री ज्ञानचन्दजी जैन लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' के माध्यम से आपने अध्यात्म को सरलरूप में प्रस्तुत करके हम पर अपार उपकार किया है। पढ़ते समय यह लगता है मानों आप साक्षात् सामने बैठकर समझा रहे हों। आपका उपकार हम भूल नहीं सकते और न चुका सकते हैं।

डॉ॰ हुकमचन्द भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1 से 4. समयसार अनुशीलन (भाग 1 से 4 का सैट, 80.00) (प्रत्येक)	20.00
5. पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	20.00
6. सूक्ति सुधा	20.00
7. परमभावप्रकाशक नयचक्र (हिन्दी, गुजराती)	16.00
8. आत्मा ही है शरण	15.00
9. चिन्तन की गहराइयाँ	15.00
10. बिखरे मोती	12.00
11. तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	12.00
12. सत्य की खोज (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)	12.00
13. धर्म के दशलक्षण (हिन्दी, गुजराती मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	10.00
14. बारह भावना : एक अनुशीलन	10.00
15. क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	8.00
16. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	8.00
17. गागर में सागर	7.00
18. आप कुछ भी कहो (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	6.00
19. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	6.00
20. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम	5.00
21. युगपुरुष कानजीस्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)	5.00
22. मैं कौन हूँ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	4.00
23. निमित्तोपादान (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	3.50
24. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में (हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी)	2.50
25. मैं स्वयं भगवान हूँ	2.50
26. चैतन्य चमत्कार	2.00
27. समयसार पद्यानुवाद	2.00
28. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	1.50
29. बिन्दु में सिन्धु (जेबी साइज)	1.50
30. शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में (हिन्दी, कन्नड़)	1.50
31. कुन्दकुन्द शतक (अर्थ सहित)(हिन्दी, गुजराती, कन्नड़, अंग्रेजी)	1.00
32. शुद्धात्म शतक (अर्थ सहित)(हिन्दी, कन्नड़)	1.00
33. सार समयसार	1.00
34. तीर्थंकर भगवान महावीर (हि., गु., म., क., त., अं., ते.)	1.00
35. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)	1.00
36. अनेकान्त और स्याद्वाद	1.00
37. समयसार कलश पद्यानुवाद	1.00
38. गोम्मटेश्वर बाहुबली : एक नया चिन्तन (हिन्दी, कन्नड)	1.00
39. गोली का जबाब गाली से भी नहीं	1.00
40. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना (जेबी साइज)	1.00
41. अर्चना (जेबी साइज)	1.00
42. बालबोध पाठमाला भाग -2 (हि., गु., म., क., त., बं., अं.)	3.00
43. बालबोध पाठमाला भाग -3 (हि., गु., म., क., त., बं., अं.)	3.00
44. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग -1 (हि., गु., म., क., अं.)	3.00
45. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग -2 (हि., गु., म., क., अं.)	4.00
46. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग -3 (हि., गु., म., क., अं.)	3.00
47. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग -1 (हि., गु., म., क., अं.,)	4.00
48. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग -2 (हि., गु., म., क., अं.,)	4.00

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1. श्रीमती स्वाति कलमकर, डलास (यू.एस.ए.)	10000.00
2. स्व. श्री सुजीत जैन जनकल्याण समिति, भिण्ड	5000.00
3. गुप्तदान हस्ते श्रीमती गुणमाला भारिल्ल, जयपुर	5000.00
4. श्री वल्लूभाई सी. शाह, देवलाली	5000.00
5. श्रीमती शान्तिबेन दामाणी, मद्रास	2000.00
6. श्री सुरेशभाई कोठारी, मुम्बई	2000.00
7. श्री रमेशचन्दजी जैन, कोटा	2000.00
8. स्व. श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिन्टर्स, जयपुर	1100.00
9. श्री भभूतमलजी भण्डारी, बैंगलोर	1000.00
10. श्री माँगीलालजी भण्डारी, बैंगलोर	1000.00
11. श्री सम्पतराजजी बागरेचा, बैंगलोर	1000.00
12. श्री दलीचन्द जगराजजी जैन चै. ट्रस्ट, बैंगलोर	1000.00
13. श्री हेमचन्दजी रमेशकुमारजी जैन, कलकत्ता	1000.00
14. सौ. विजया शशिकान्त दोशी, म्हसवड़	1000.00
15. कु. मीना पंचोली, इन्दौर	1000.00
16. श्री अनूप पंचोली, इन्दौर	1000.00
17. श्रीमती पूनम ध.प. श्री अनूप पंचोली, इन्दौर	1000.00
18. श्री नाथूलालजी कस्तूरचन्दजी अजमेरा, भीलवाड़ा	1000.00
19. श्रीमती सोहनदेवी ध.प. स्व.श्री तनसुखलालजी पाटनी, जयपुर	501.00
20. श्रीमती ईलाबेन किरीटभाई कोठारी, मुम्बई	501.00
21. श्री विमलकुमारजी जैन 'नीरू केमिकल्स', दिल्ली	500.00
22. श्री सुमतिलालजी जैनावत, इन्दौर	500.00
23. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लाँडनू	500.00
24. श्रीमती रामस्वरूपीदेवी ध.प. धन्नालालजी जैन, ग्वालियर	300.00
25. स्व. श्री ऋभषकुमारजी जैन, पिड़ावा	300.00
26. श्री अनुभवप्रकाश भारिल्ल, मुम्बई	300.00
27. श्री प्रेमचन्दजी जैन, सोनीपत सिटी	251.00
28. श्रीमती भँवरीबाई श्री घीसालालजी छाबड़ा, सीकर	251.00
29. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प.श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	251.00
30. श्री मोलड़मल शोसिंहरायजी पाटनी, अग्रवाल मण्डी	251.00
31. श्री बाबूलालजी राजेशकुमारजी पाटनी, गोहाटी	251.00
32. श्री सुरेशचन्दजी सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर	201.00
33. श्री माणकचन्दजी पाटनी, गोहाटी	201.00
34. श्री राजीव जैन, भोपाल	150.00
35. श्रीमती स्नेहलता श्री शान्तिलालजी चौधरी, भीलवाड़ा	111.00
36. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	101.00
कुलराशि :	47521.00